

ॐ

श्रीभर्तृहरियोगिन्द्रविरचिता

सुभाषितत्रिशती

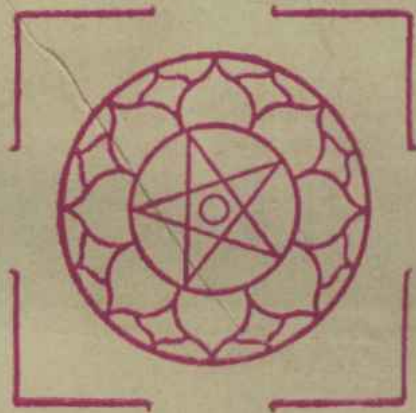
(श्रीभर्तृहरिकृतशतकत्रयम्)

श्रीरामचन्द्रबुधेन्द्रविरचितया

सहृदयानन्दिन्याख्यया व्याख्यया समेता

संपादकौ

प्रो. दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी,



24

निर्णयसागर प्रकाशन, मुंबई २

श्रीभर्तृहरियोगीन्द्रविरचिता

सुभाषितत्रिशती

(श्रीभर्तृहरिकृतशतकत्रयम्)

श्रीरामचन्द्रबुधेन्द्रविरचितया
सहृदयानन्दिन्याख्यया व्याख्यया समेता



प्रोफेसरबिरुदभाजां
दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी

(प्राध्यापक-टाटा मूलतत्त्वसंशोधनमन्दिर)

इत्येतेषां साहाय्येन

नारायण राम आचार्य “काव्यतीर्थ”

इत्येतैः परिष्कृतम्



अष्टमं संस्करणम्

१९५७

— निर्णयसागर प्रेस, मुंबई २ —

मूल्य रु. १५.००
S. Book Prakash
Revised Price R 15.00

Copyrighted material

निर्णयसागर

(प्रत्यक्षदर्शनसंग्रह)

प्रकाशितकर्ता

प्रकाशक

निर्णयसागर

प्रकाशक

All rights reserved

Printed and Published by Laxmibai Narayan Chaudhari,
for the Nirnaya Sagar Press, 26/28, Kolbhat Street, Bombay 2.

प्रकाशक

प्रकाशक



प्रकाशक

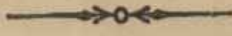
प्रकाशक

— १ ईश्वर उग्र १०१८ ई —

प्रकाशक

प्रकाशक

सु भा षि त त्रि श ती - विषयानुक्रमकोशः



विषयाः

श्लोकाः

१. नीतिशतकम्

मङ्गलम्	...	...	...	...	...	१
१. मूर्खपद्धतिः	...	...	...	...	...	२- १०
२. विद्वत्पद्धतिः	...	...	...	...	...	११- २०
३. मानशौर्यपद्धतिः	...	...	...	...	...	२१- ३०
४. अर्थपद्धतिः	...	...	...	...	...	३१- ४०
५. दुर्जनपद्धतिः	...	...	...	...	...	४१- ५०
६. सुजनपद्धतिः	...	...	...	...	...	५१- ६०
७. परोपकारपद्धतिः	...	...	...	...	...	६१- ७०
८. धैर्यपद्धतिः	...	...	...	...	...	७१- ८०
९. दैवपद्धतिः	...	...	...	...	...	८१- ९१
१०. कर्मपद्धतिः	...	...	...	...	...	९२-१००

२. शृङ्गारशतकम्

१. स्त्रीप्रशंसा	...	...	...	...	...	१- २०
२. संभोगवर्णनम्	...	...	...	...	...	२१- ४०
३. कामिनीगर्हणम्	...	...	...	...	...	४१- ६०
४. सुविरक्तदुर्विरक्तपद्धतिः	...	...	...	...	...	६१- ८०
५. ऋतुवर्णनम्	...	...	...	...	...	८१-१००

३. वैराग्यशतकम्

१. तृष्णादूषणम्	...	...	...	...	...	१- १०
२. विषयपरित्यागविडम्बना	...	...	...	...	...	११- २०
३. याज्ज्वादैन्यदूषणम्	...	...	...	...	...	२१- ३०
४. भोगास्थैर्यवर्णनम्	...	...	...	...	...	३१- ४०
५. कालमहिमानुवर्णनम्	...	...	...	...	...	४१- ५०
६. यतिनृपतिसंवादवर्णनम्	...	...	...	...	...	५१- ६०
७. मनःसंबोधननियमनम्	...	...	...	...	...	६१- ७०
८. नित्यानित्यवस्तुविचारः	...	...	...	...	...	७१- ८०
९. शिवार्चनम्	...	...	...	...	...	८१- ९०
१०. अवधूतचर्या	...	...	...	...	...	९१-१००



ਸਿੱਖੀ ਸਾਹਿਬ

ਸਿੱਖੀ ਸਾਹਿਬ

ਸਿੱਖੀ ਸਾਹਿਬ

੧	੨	੩	੪	੫	੬	੭	੮	੯	੧੦	੧੧	੧੨	੧੩	੧੪	੧੫	੧੬	੧੭	੧੮	੧੯	੨੦	੨੧	੨੨	੨੩	੨੪	੨੫	੨੬	੨੭	੨੮	੨੯	੩੦	੩੧	੩੨	੩੩	੩੪	੩੫	੩੬	੩੭	੩੮	੩੯	੪੦	੪੧	੪੨	੪੩	੪੪	੪੫	੪੬	੪੭	੪੮	੪੯	੫੦	੫੧	੫੨	੫੩	੫੪	੫੫	੫੬	੫੭	੫੮	੫੯	੬੦	੬੧	੬੨	੬੩	੬੪	੬੫	੬੬	੬੭	੬੮	੬੯	੭੦	੭੧	੭੨	੭੩	੭੪	੭੫	੭੬	੭੭	੭੮	੭੯	੮੦	੮੧	੮੨	੮੩	੮੪	੮੫	੮੬	੮੭	੮੮	੮੯	੯੦	੯੧	੯੨	੯੩	੯੪	੯੫	੯੬	੯੭	੯੮	੯੯	੧੦੦
---	---	---	---	---	---	---	---	---	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	-----

ਸਿੱਖੀ ਸਾਹਿਬ

੧	੨	੩	੪	੫	੬	੭	੮	੯	੧੦	੧੧	੧੨	੧੩	੧੪	੧੫	੧੬	੧੭	੧੮	੧੯	੨੦	੨੧	੨੨	੨੩	੨੪	੨੫	੨੬	੨੭	੨੮	੨੯	੩੦	੩੧	੩੨	੩੩	੩੪	੩੫	੩੬	੩੭	੩੮	੩੯	੪੦	੪੧	੪੨	੪੩	੪੪	੪੫	੪੬	੪੭	੪੮	੪੯	੫੦	੫੧	੫੨	੫੩	੫੪	੫੫	੫੬	੫੭	੫੮	੫੯	੬੦	੬੧	੬੨	੬੩	੬੪	੬੫	੬੬	੬੭	੬੮	੬੯	੭੦	੭੧	੭੨	੭੩	੭੪	੭੫	੭੬	੭੭	੭੮	੭੯	੮੦	੮੧	੮੨	੮੩	੮੪	੮੫	੮੬	੮੭	੮੮	੮੯	੯੦	੯੧	੯੨	੯੩	੯੪	੯੫	੯੬	੯੭	੯੮	੯੯	੧੦੦
---	---	---	---	---	---	---	---	---	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	-----

ਸਿੱਖੀ ਸਾਹਿਬ

੧	੨	੩	੪	੫	੬	੭	੮	੯	੧੦	੧੧	੧੨	੧੩	੧੪	੧੫	੧੬	੧੭	੧੮	੧੯	੨੦	੨੧	੨੨	੨੩	੨੪	੨੫	੨੬	੨੭	੨੮	੨੯	੩੦	੩੧	੩੨	੩੩	੩੪	੩੫	੩੬	੩੭	੩੮	੩੯	੪੦	੪੧	੪੨	੪੩	੪੪	੪੫	੪੬	੪੭	੪੮	੪੯	੫੦	੫੧	੫੨	੫੩	੫੪	੫੫	੫੬	੫੭	੫੮	੫੯	੬੦	੬੧	੬੨	੬੩	੬੪	੬੫	੬੬	੬੭	੬੮	੬੯	੭੦	੭੧	੭੨	੭੩	੭੪	੭੫	੭੬	੭੭	੭੮	੭੯	੮੦	੮੧	੮੨	੮੩	੮੪	੮੫	੮੬	੮੭	੮੮	੮੯	੯੦	੯੧	੯੨	੯੩	੯੪	੯੫	੯੬	੯੭	੯੮	੯੯	੧੦੦
---	---	---	---	---	---	---	---	---	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	----	-----

PREFACE

The Sanskrit commentary of Rāmacandra Budhendra on the *Centuries* of Bhartṛhari is about the best of its kind among those now known, though his text belongs to the southern version of the poet's surviving verses. As such, the study of the version and commentary became important during the preparation of a critical edition of the Sanskrit text of the epigrams attributed to Bhartṛhari, eventually published as No. 23 of the Singhi Jain Series (Bombay, 1948). The reader may be referred to that book for a survey of the Bhartṛhari problem, and of the general textual material.

During the course of the study, however, it became amply clear that the seventh Nirnaya Sagar edition then in print was not a satisfactory RB text from any point of view. Both text and commentary contain mistakes well beyond the range of an occasional misprint. For example *Vairāgya* 24 begins *gaṅgā-taṅga* and the commentary gives *taṅga* = *kallola*, though there is no such word and the reading would not fit the metre in any case, for *taraṅga* is the correct form. This is by no means the only misprint that mars the principal edition of a deservedly popular work. The original Telugu palm leaf codex from which the first Nirnaya Sagar edition was prepared is no longer available. The printed Grantha, Telugu, and Kanarese editions seem to have been influenced by, if not actually transcribed from, the early Nirnaya Sagar editions. There are several good MSS of the commentary, and some of the text and commentary, in southern collections, in Telugu script. A few of these were compared during the course of my work on the general critical edition, and led to the surprising discovery that they fell into two distinct groups, of which one represented a shorter version of the commentary, and the other a decidedly more inflated sample. Thus, a critical edition of the RB commentary by itself involved more labour than the result would justify. Comparison of the two versions led to the conclusion that, but for scribe's errors, they were good representatives of the just two archetypes, both of which seem to be by the same writer, presumably Rāmacandra himself. That is, the longer version (at least as far as my comparison went) contained everything in the shorter, in precisely the same terms, but details of

grammar and syntax, as well as quotations were added uniformly throughout the comment on any given stanza, for the *textus ornatior*. It seemed probable that the commentary had been expanded by the original commentator when the first edition had proved successful. A skilful condensation into a smaller text seemed most unlikely, and against the usual tradition, which is always towards greater inflation. Under these circumstances, it seemed best to give a commentary from as old a codex as available. This turned out to be the Andhra Sāhitya Pariṣad's palm-leaf Telugu MS. no. 1035, whose 65 folios give the complete text and commentary of the *Nīti*—and the *Śṛṅgūra-śatakas*. The cover folio gives the horoscope of a son born to someone in Śaka 1682 = A. D. 1760, so that the MS is not later than that date. The text seems to represent the fully developed commentary, and is here reproduced, giving in brackets any considerable portion which is not in the MS but appeared in the previous printed edition. The collation was made in 1948 by me jointly with Pt. K. V. Krishnamoorthi Sharma. Pt. N. R. Acharya of the Nirnaya Sagar Press, carried out the revision of the *Vairāgya-śataka* by himself, from the printed edition alone, as no suitable text of any greater authority was available; he undertook the general revision and read all proofs.

The commentator Avañci Rāmacandra (Budhendra) describes himself as of the Śāṇḍilya *gotra*, son of Koṇḍopāṇḍita and Gangāmbikā. The colophon of the version agrees with that of the printed *Campūrāmāyaṇa* text except that the father is called Dhanvanta-kodaṇḍa. The *Campūbhārata* commentator seems to be some other Rāmacandra. The father's name is written Koridopāṇḍita in some Telugu MSS, undoubtedly a mislection of an unfamiliar form. Koṇḍo is a Mahārāṣṭrian style of nomenclature. Several RB texts contain the stanza *Śakyo vārayitum*, at the end of the first *paddhati* of the first *Century*, though this is found nowhere else in the south, and only in one other version of Bhartṛhari, namely the characteristically Mahārāṣṭrian version *W* presumably, the general version (or rather two versions, for there is some textual disturbance about the stanza *chinno'pi rohati taruḥ*) available to Rāmacandra did not have this stanza; his family might have known of it by tradition inherited from their Mahārāṣṭrian forbears. Other stanzas characteristic of *W* do not appear at all while the rare vernacular equivalents given by the

commentator are Telugu. The remaining information about this learned scholiast is meagre, and will be surveyed, on the basis of MS evidence, in Dr. V. Raghavan's monumental *Catalogus Catalogorum* published by the Madras University.

Our special thanks are due to Prof. E. S. V. Raghavacharya, then of Coconada, who made the palm leaf MS. available.

Poona, January 30, 1957

D. D. Kosambi,

commentator on Tolstoy. The remaining information about
his famous schoolmaster and will be conveyed on the
basis of his evidence in Dr. V. Kagan's monograph
"Gorky's Childhood" published by the Moscow University.

Our special thanks are due to Prof. E. S. V. Kagan
for the copy of "Gorky's Childhood" who made the paper for this
review.

D. D. Kagan

Paris, January 22, 1937

॥ श्रीः ॥

श्रीभर्तृहरियोगीन्द्रविरचिता

सुभाषितत्रिशती

श्रीरामचन्द्रबुधेन्द्रविरचितया

सहृदयानन्दिनीव्याख्यया समेता

१. नीतिशतकम्

अथ व्याख्यानपीठिका

वन्देऽहं रघुनन्दनाङ्घ्रिसरसीजातद्वयीमद्वया-

मन्दानन्दमरन्दविन्दुलहरीसंदोहनिष्यन्दिनीम् ।

यत्रेन्दिन्दिरजातवन्मुनिमनोवृन्दं कृतस्वाश्रयं

कांचित्तुन्दिलतामविन्दत परानन्दावबोधोदयात् ॥

शतमखिमुखा लेखाः प्रापुर्दिशन्तमुदारतां

निधिमनवधिं दिव्यं चक्षुर्वृथा समवाप्य यत् ।

किमपि सुमहोमोहापध्वान्तांतरीकरणक्षमं

शरणममलं यामि श्रीमत्प्रचण्डपिचण्डिलम् ॥

चतुरा चतुराननाननाब्जे प्रतिभाति प्रतिभातिराजहंसी ।

कमले कमलेव सर्वदा सा सुखदा सत्सुखदा सरस्वती स्यात् ॥

श्रीमांसैलिङ्गदेशे स जयति विबुधश्रेणिकोटीरकोटी-

कोटीमाणिक्यभूतागणितगुणगुणोऽखण्डपाण्डित्यशौण्डः ।

धीरः शाण्डिल्यगोत्रः सकलकविकुलाह्लादिसूक्तिप्रवीणो

वीणोदाहार्यविद्याविवरणनिपुणो रामचन्द्रो बुधेन्द्रः ॥

वेदान्तोदन्तचिन्तामतनुत चतुरेणान्तरेणाकुतर्कं

तर्कं चातर्कयद्यः फणिपतिवचसां सारमाधत्त योगे ।

योगे यः सांख्यसंख्यागमसमयविधावप्यलं तत्रविद्या-

विद्यायामिन्यधीशः स्फुरति निरुपमावच्चवंशाम्बुराशेः ॥

विप्रेणाभूतपूर्वं फलमधितपसालम्भि सूर्यप्रसादा-

लुब्ध्वा तस्मात्स्वयं तत्प्रचुरतरजरापञ्चताकुञ्चनाढ्यम् ।

हित्वा मोहं स्वकान्तास्वतिविमलधिया तं निषेव्याप्तभव्यो

योगीन्द्रो भर्तृहर्याह्वय इह कुरुतेऽद्यापि विद्याविलासम् ॥

सोऽहमेतत्प्रणीतायाः सुभाषितकृतेः कृती ।
 कुर्वे सहृदयानन्दिन्याख्यां व्याख्यां सतां मुदे ॥
 व्याकुर्वन्ति निबन्धगौरवभयाच्चैव स्फुटं युक्तिभि-
 र्ये तेऽध्येतृजनप्रतारणपराः का नैपुणी वा ततः ।
 वैखर्या वचसां कवीशहृदयं प्रख्यापयन्नन्वय-
 द्वारैवाहमिहाखिलं प्रविवृणोम्युक्तिव्रजोज्जृम्भितम् ॥

अथ मङ्गलम् ।

इह खल्वत्रभवानशेषविशेषसारपारदृष्ट्वा विश्वातिशायिगुणगरिमावतारो भर्तृहरि-
 नामा महायोगीश्वरो निजयोगमहिमानुसारेण करतलामलकीकृताखिलविरिञ्चि-
 प्रपञ्चस्तृणकणमिव जगज्जालमालोकयन्, परमकारुणिको लोकव्यवहारपरिज्ञान-
 खिन्नान्तःकरणो लोकानुजिघृक्षया नीति-शृङ्गार-वैराग्यवर्णनप्रख्यं सुभाषितत्रिशत्याख्यं
 कंचित्प्रबन्धं प्रारभमाणः, तत्परिपन्थिनिर्मन्थनद्वारा परिसमाप्तिप्रचयगमनलक्षणफल-
 माशासानः, शिष्टाचारपरिप्राप्तविशिष्टपरंज्योतीरूपेष्टदेवतानमस्काराकारं मङ्गलमादौ
 निबध्नाति—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।

स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥ १ ॥

दिशः प्राच्यादिदिक्प्रदेशाः, काला भूतभविष्यद्वर्तमानरूपाः आदिशब्दसंगृहीतानि
 वस्तूनि तथा च दिक्काला आदयो येषां तानि दिक्कालादीनि । अतद्गुणसंविज्ञानो
 बहुव्रीहिः । अन्यथा तेषामप्राधान्येन विनाभाने शास्त्रविरोधः स्यात् । तैरनवच्छिन्ना
 अपरिक्लृप्ता, विभुत्वान्नित्यत्वादेकत्वाच्च देशतः कालतो वस्तुतश्चापरिच्छिन्नेत्यर्थः ।
 अत एव अनन्ताऽपरिमिता । त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वादखण्डदण्डायमानेत्यर्थः । एतेन
 सजातीयविजातीयस्वगतभेदत्रयराहित्यमर्थात्सूचितमिति ज्ञेयम् । ‘आनन्द-’ इति
 पाठ आनन्दविच्छेदयोर्द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणो मात्रशब्दः प्रत्येकं संबध्यते । तथा
 चानन्दमात्रा आनन्दमयी, चिन्मात्रा ज्ञानघना च । चिदेकरसेति यावत् । तादृशी
 मूर्तिर्यस्य तस्मै । एतद्रूपायेत्यर्थः । ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’, ‘एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म’,
 ‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’, ‘आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्’, (‘आनन्दमयोऽभ्यासात्’)
 ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्सानन्दं ब्रह्म केवलम्’ इत्यादि श्रुतिस्मृतिकदम्बकमत्र प्रमाणमिति
 भावः । अत्र बहुव्रीहिराश्रयणीयः । अन्यथा ‘इकोऽचि विभक्तौ’ इति नुमि ‘मूर्तिने’
 इति स्यात् । न च ‘तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्बालवस्य’ इति न पुंवद्भाव इति
 वाच्यम् । मूर्तिशब्दस्य नियतस्त्रीलिङ्गत्वेनाभाषितपुंस्कत्वात् । तस्माद्यथाश्रुतमेव साधु
 मन्तव्यम् । भाषितपुंस्कत्वस्यानित्यत्वविवक्षायां तु बहुव्रीहिरेव, तदा न काप्यनुप-
 पत्तिरिति सर्वं सुस्थम् । तथा स्वानुभूतिरात्मानुभव एव एकं मुख्यमद्वितीयं वा मानं
 स्वप्रकाशसाधनं यस्य तस्मै । स्वयंप्रकाशसंविद्रूपत्वादन्यप्रदीपवत्स्वपरप्रकाशकतया
 स्वसाक्षात्कारे स्वानुभव एव प्रमाणं, न तु घटादेरिव चक्षुरादिप्रामाणिकत्वमिति
 भावः । एतेन वृत्तिविषयत्वमेव, न तु फलविषयत्वमित्यवधेयम् । तदुक्तमार्यैः—

‘स्वबोधेनान्यबोधेच्छा बोधरूपतयात्मनः । न दीपस्यान्यदीपेच्छा यथा स्वात्मप्रकाशने ॥’ इति । तथा शान्ताय अविद्यातत्कार्यसंबन्धशून्यत्वात्प्रसन्नाय । ‘निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्’ इत्यादिश्रुतेः । तेजसे ज्योतीरूपाय ब्रह्मणे नमः प्रह्वीभावः । ‘नमःस्वस्ति—’ इत्यादिना चतुर्थी । अत्र ‘मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति’ इति भगवद्भाष्यकारवचनप्रामाण्यात् ‘आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्’ इत्याचार्यदण्डिवचनाच्चादौ नमस्काररूपम्, अन्ते ‘लीये परब्रह्मणि’ इति च ब्रह्मस्मरणलक्षणम्, मध्ये तदुभयात्मकं च मङ्गलमाचरितमित्यवगन्तव्यम् । ‘अथ शब्दानुशासनम्’ इत्यादौ सर्वत्र शास्त्रारम्भे मङ्गलार्थत्वेनाथशब्दप्रयोगदर्शनात्तस्य तदर्थकत्वं च । ‘मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्पर्येष्वथो अथ’ इत्यभिधानात्, ‘ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकानुभौ ॥’ इति स्मरणाच्च । तच्च निर्विघ्नप्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामेनावश्यं कर्तव्यम् । ‘परिसमाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्’ इत्यनुमितश्रुतिबोधितकर्तव्यताकत्वात्, अनुमानं च—मङ्गलं वेदबोधितकर्तव्यताकम्, अलौकिकाविगीतशिष्टाचार (विषयक) त्वात्, दर्शाद्याचारवदिति । नन्वन्यव्यतिरेकाभ्यां तस्य कारणत्वानिश्चयात्कथमवश्यकर्तव्य- (ताक)त्वम् । तथा हि—शावरभाष्यादौ कृतेऽपि मङ्गले समाप्तेरजातत्वात्, किरणावल्यादावकृतेऽपि जातत्वादिति चेत्,—सत्यम्; क्वचिद्विघ्नबाहुल्येन तत्समसंख्याकमङ्गलाभावात् क्वचित्प्राचीनमङ्गलबाहुल्याच्च व्यत्यय इत्यलमतिप्रसङ्गेन । अत्र चारुत्वेन यथावद्वस्तुवर्णनात्स्वभावोक्तिरलंकारः—‘स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्’ इति लक्षणात् । श्लोकाख्यमेतदानुष्टुभं वृत्तम्—‘पञ्चमं लघु सर्वेषु सप्तमं द्विचतुर्थयोः । गुरुषट्कं च सर्वेषामेतच्छ्लोकस्य लक्षणम् ॥’ इति वचनात् ॥ १॥

(अथ मूर्खपद्धतिः)

प्रबन्धस्यास्य विविधस्वरूपपरिज्ञानार्थं तत्तत्पद्धति निबद्धतया चिकीर्षितत्वात्तत्र मूर्ख-विद्वत्-पद्धत्योर्व्यावर्तकभावस्यावशिष्टत्वेनोभयनिरूपणे संप्राप्ते प्राथम्ये मुख्य-प्रसङ्गसंगल्योरन्यतरस्याभावादशोकवनिकान्यायप्रायत्वाच्चादौ मूर्खपद्धतिं वर्णयितुमारभते । तत्र प्रथमं सहृदयाभावात्सुभाषितस्य वक्तुमनवकाश एवेत्याह—

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।

अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥ २ ॥

बोद्धारः परिज्ञातारः ‘बुध अवगमने’ इत्यस्माद्धातोस्तृच् । मत्सरेणासूयया परोत्कर्षासहनेन ग्रस्ताः समाक्रान्ताः । न ते हृदयालवः, अतो नानुमोदन्त इति भावः । प्रभवो राजानः स्मयदूषिता गर्वदुर्विनीताः । न तु विनयप्रह्लाः, अतो न शृण्वन्तीति भावः । अन्ये उक्तोभयव्यतिरिक्तजना अबोधेनाज्ञानेनोपहता नष्टात्मानो न त्वधिकारिणः अतस्तेषामाकर्णनयोग्यतापि नास्तीति भावः । तस्मात्सुभाषितं साधुभाषणम् । प्रियवचनमिति यावत् । भाषतेः कर्तरि क्तः । अङ्गेऽन्तरङ्गे जीर्णमन्तर्हितम्, न त्वद्यापि बहिः प्रवृत्तम् । तथापि वक्ष्यामीति वाक्यशेषः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ २ ॥

ननु कीदृशो मूर्खः, यतस्तत्स्वरूपं निरूप्यते तत्राह—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।

ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति ॥ ३ ॥

न जानातीत्यज्ञः अकिञ्चिज्ज्ञः । मूढ इति यावत् । सुखमक्लेशेन आराध्यः समाधेयः । तस्योपदेशमात्रेणैव विस्मयसंभवादिति भावः । विशेषं जानातीति विशेषज्ञः तत्त्ववेत्ता सुखतरम् । अत्यन्तानायासेनेत्यर्थः । 'द्विवचनविभज्य—' इत्यादिना तरप्रत्ययः । आराध्यते समाधीयते । तद्बुद्धेः सर्वदा विशेषग्रहणमात्रपर्य-
वसानादिति भावः । किंतु ज्ञानं शास्त्रजन्यसंविद् तस्य [तस्या] लवेन लेशेन दुर्विदग्धं पण्डितमानिनं नरम् । मूर्खजनमित्यर्थः । ब्रह्मापि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ-
श्चतुर्मुखोऽपि किमुतान्य इति भावः । न रञ्जयति रञ्जयितुं न शक्नोति । तन्मनसः सूक्तिसहस्रैरपि समाधानासंभवादिति भावः । उक्तोभयमध्यस्थो मूर्ख इति फलितार्थः । रञ्जनसंबन्धेऽप्यसंबन्धाभिधानादतिशयोक्तिभेदः । अज्ञो विशेषज्ञ इत्यत्र च 'आतोऽ-
नुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः, न तु 'इगुपधज्ञा—' इत्यादिना कप्रत्ययः । अत एवाह भगवान्कात्यायनः—'अकारादनुपसर्गात्कर्मोपपदो न भवति प्रतिषेधेन' इति वार्तिक-
व्याख्याने भाष्यकारेणार्थज्ञशब्दमुदाहृत्याप्यर्थत्वस्य समर्थनात् । एतच्चासकृदुक्तं मदीयशृङ्गारशृङ्गाटकेऽपि—'रुक्मिणीरसमयं समयज्ञः' इत्यादिषु । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । आर्यावृत्तभेदोऽयमुच्येयः । उत्तरत्रापि भेदान्तराण्युच्येयानि ॥ ३ ॥

अथ द्वाभ्यां मूर्खजनचित्तस्य दुराराध्यतामाह—

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्रदंष्ट्रान्तरा-

त्समुद्रमपि संतरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ।

भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारये-

न्न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥ ४ ॥

मकरः शिशुमाराख्यो जलग्राहविशेषस्तस्य वक्रे वदनगह्वरे दंष्ट्राणां निशिताग्रद-
शनविशेषाणामन्तरादन्तरालात् । अतिसंकटादित्यर्थः । प्रसह्य बलात्कारेण मणिं
रत्नम् । दुरुद्धरमपीति भावः । उद्धरेदुद्धर्तुं शक्नुयात् । जन इति शेषः । केनचिद्व-
धानेनानयेदित्यर्थः । तथा प्रचलन्तः दोलायमाना ये ऊर्मयस्तेषां मालामिः परम्परा-
मिराकुलं संकुलम् । उल्लोलकल्लोलोजृम्भितमित्यर्थः । समुद्रमपि । दुस्तरमपीति
भावः । संतरेत् सम्यक्तरितुं शक्नुयात् । केनचित्त्वदनसाधनेनेति भावः । 'लङ्घयेत्' इति
पाठे हनुमानिव केनचिच्छक्तिविशेषेण लङ्घितुं शक्नुयादित्यर्थः । तथा कोपितं संजात-
कोपम् । कोपवशात्सफूत्कारं जिह्वया सूक्तिप्रान्तौ लेलिहानमित्यर्थः । 'तदस्य संजातं
तारकादिभ्य इतच्' इतीतच्प्रत्ययः । तारकादिराकृतिगणः । भुजङ्गं सर्पमपीति
भावः । शिरसि केशपाशे पुष्पेण तुल्यं पुष्पवत् । पुष्पस्रजमिवेत्यर्थः । 'तेन तुल्यं
क्रिया चेद्वति' इति वतिप्रत्ययः । धारयेद्धारयितुं शक्नुयात् । मणिमन्त्रादिसाधनेनेति
भावः । किं तु प्रतिनिविष्टमभिनिवेशाकान्तम् । दुराग्रहाविष्टमिति यावत् । मूर्खजनस्य
दुर्विदग्धस्य चित्तं नाराधयेत् आराध्यितुं समाधातुं न शक्नुयात् । उपायालाभादिति
भावः । मकरदंष्ट्रान्तःस्थमण्युद्धरणादिप्रायं मूर्खजनचित्तसमाराधनमिति श्लोकार्थः ॥ ४ ॥

एवं दुर्लभवस्तुसाधने दुष्करकार्यकरणे च संभावनया शक्तिरुक्ता, न मूर्खचित्त-
प्रसाधने । इदानीमत्यन्तदुर्लभवस्त्वपि प्रसादयेत्, न तु तच्चित्तमित्याह—

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडय-

न्पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ।

कदाचिदपि पर्यटञ्जशशविषाणमासादये-

न्न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥ ५ ॥

यत्नतः कुतश्चित्प्रयत्नात् । पञ्चम्यास्तसिः पीडयन्केनचिद्यन्त्रेण संमर्दयन् । सिकतासु
वालुकास्वपि । कालत्रयेऽप्यन्तःस्नेहानधिकरणभूतास्वपीति भावः । तैलं स्नेहं लभेत
लब्धुं शक्नुयात् 'स्नेहे तैलच्' इत्यनुशासनाच्चात्र तिलसंबन्धित्वादि शङ्काकलङ्कावकाश
इति द्रष्टव्यम् । तथा पातुमिच्छा पिपासा । 'पा पाने' इत्यस्माद्धातोः सन्नन्तात्त्रिया-
मप्रत्यये टाप् । तयार्दितः पीडितः । तृष्णातुरः सन्नित्यर्थः । मृगतृष्णिकासु मरुमरी-
चिकास्वपि वा जलभ्रममात्रदायिनीष्वपीति भावः । मृगतृष्णाशब्दात्स्वार्थे कप्रत्यये
'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः' इतीकार आदेशः । सलिलं जलं पिबेत्पातुं शक्नुयात् ।
'पाघ्राध्मा-' इत्यादिना पातेः पिबादेशः । तथा पर्यटन् तत्र (तत्र) वनान्तरे संचरन् ।
कदाचित्कस्मिंश्चित्समये शशस्य मृगविशेषस्य विषाणं शृङ्गमपि । बाङ्गात्रगोचरमपीति
भावः । आसादयेदधिगन्तुं शक्नुयात् । न तु प्रतिनिविष्टेत्यादि पूर्ववत् । सिकतातैल-
लाभादिवदत्यन्तदुर्घटं मूर्खचित्तसमाराधनमिति भावः । मृगतृष्णिका जल-शशविषाणयो-
र्गगनारविन्द-वन्ध्यापुत्रवदत्यन्तासंभावितत्वमुक्तं सुरेश्वरवार्तिके—'मृगतृष्णाम्भसि
स्नातः खपुष्पकृतशेखरः । एष वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः ॥' इति । पद्य-
द्वयेऽप्यस्मिन्मणिमुद्धरेदित्यादौ शक्यार्थे विधिलिङ् । तथा अपिशब्दः समुच्चये ।
संभावनायां चेत्तदनुवादक इति विवेकः । उभयथाप्यनुशासनसंभवात्, प्रकृतार्थो-
पपत्तेश्च । यथाहामरसिंहः—'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासंभावनास्वपि' इति । अत्र समुद्रं
लङ्घयेदपीत्युदाजहार स्वामी । अत्र मण्युद्धरणाद्यसंबन्धेऽपि तत्संबन्धाभिधानादसंबन्धे-
संबन्धरूपातिशयोक्तिः श्लोकद्वयमेतत्पृथ्वीवृत्तम् । तदुक्तं केदारेण वृत्तरत्नाकरे—
'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति । अत एव 'सिकतासु तैलम्' इत्यत्र,
'मृगतृष्णिकासु सलिलम्' इत्यत्र, 'मूर्खजनचित्तम्' इत्यत्र च अष्टमवर्णे विहितस्य
विच्छेदस्याभावाद्यतिभ्रष्टनामादोषः । इममेव केचिदपदस्थयति वदन्ति । तदुक्तं
विद्यानाथेन—'यत्र स्थाने यतिभ्रंशस्तद्यतिभ्रष्टमुच्यते' इति । अत्र 'कुत्रचित्पदमध्येऽपि
यतिमिच्छन्ति सूरयः । यतिपूर्वापरौ भागौ न स्यातामेकवर्णकौ ॥ इति दर्तिल-
वचनमपि समाधातुं न शक्नोति । पूर्वापरभागयोरेकवर्णग (त) त्वात् । 'निरङ्कुशाः
खलु कवयो भवन्ति सर्वपथीनाः' इत्यलमतिप्रपञ्चेन ॥ ५ ॥

अथ मूर्खानुनयेच्छोरत्यन्ताविवेकितात्वमाह—

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते

मेत्तुं वज्रमणिं शिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नहति ।

माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते

मूर्खान् यः प्रतिनेतुमिच्छति बलात्सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः ६

असौ पुमान्व्यालं दुष्टगजम् । न तु साधारणजन्तुमित्यर्थः । 'व्यालो दुष्टगजे सपे' इति विश्वः । बालमृणालतन्तुमिः क्रोमलविसकिसलयसूत्रैः । ईषन्निरोधनस्याप्यनुपयुक्तैरिति भावः । रोद्धुं नियन्तुं समुज्जृम्भते कृतप्रयत्नो भवतीत्यर्थः । तथा वज्रमणीन् हीराख्यमणिविशेषान् । अलोहलेख्यमपीति भावः 'हीरो वज्रश्च कथ्यते' इति हलायुधः । शिरीषकुसुमस्यातिक्रोमलपुष्पविशेषस्य प्रान्तेनाश्वलेन मेतुं विदारयितुं सन्नहति । उद्युक्त इत्यर्थः । तथा क्षाराम्बुधेर्लवणार्णवस्य, न तु खल्पजलाशयस्य, मधुबिन्दुना क्षौद्रविदुषा । न त्वविच्छिन्नमधुधारासंपातेनेत्यर्थः । माधुर्यं मधुरगुणं रचयितुं संपादयितुमीहते काङ्क्षति । कोऽसावित्यत आह—यः पुमान्बलाद्वाक्पाट्वात् । सुधास्यन्दिमिरमृतस्त्राविमिः । अतिमधुरैरित्यर्थः । सूक्तैः प्रियोक्तिभिः । कर्तरि क्तः । मूर्खान्प्रतिनेतुं समाधातुमिच्छति वाञ्छति सोऽसाविति संबन्धः । मृणालतन्तुमिव्यालनिरोधनादितत्पर इव मूर्खानुनयपरोऽप्यत्यन्ताविवेकीति भावः । अत्यन्तदुष्करं मूर्खप्रसाधनमिति फलितार्थः । अत्र यः प्रतिनेतुमिच्छति (वाञ्छति) असौ समुज्जृम्भत इत्यादि विशिष्टानुनयेच्छाविजृम्भणादिवाक्यार्थयोर्निर्दिष्टैकत्वासंभवात्सादृश्यलक्षणायामसंभवद्रस्तुसंबन्धो वाक्यार्थः । वृत्तिनिदर्शनाभेदः । न चायं दृष्टान्तः । वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणाक्षेपे तस्योत्थानात् । अत्र तु वाक्यार्थे वाक्यार्थसमारोपाद्वाक्यैकवाक्यतायां तदभाव इत्यलंकारसर्वस्वकारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्—'सूर्याश्वैर्मसजः सततगाः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणात् ॥ ६ ॥

अथैषां गतिमाह—

स्वायत्तमेकान्तहितं विधात्रा
विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः ।
विशेषतः सर्वविदां समाजे
विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥ ७ ॥

विधात्रा ब्रह्मणा कर्त्रा स्वायत्तमात्माधीनम् । न तु परोपदेशसापेक्षम् । 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । एकान्तहितमत्यन्तहितकारि । स्वावगुणाच्छादकत्वादिति भावः । तथा विशेषतो विशेषाकारेण (सार्वविभक्तिकस्तसिः ।) सर्वविदां समाजे सर्वज्ञसभायां विभूषणमुपस्कारहेतुभूतत्वाद्भूषणप्रायं मौनं तूष्णींभावः कर्म । 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यण् । अपण्डितानामविदुषां संबन्धिन्या अज्ञताया मौढ्यस्य छादनमाच्छादकं सत् विनिर्मितं रचितम् । अतोऽपण्डितैर्निजमौढ्यसंगोपनार्थं मौनेनैव वर्तितव्यम् । इयमेवैतेषां गतिः । अन्यथा हास्यास्पदता स्यादिति भावः । 'एकान्तकृतम्' इति पाठे तु कृतं कर्म । भावे क्तः । एकान्तकृतं रहस्यनुष्ठितं कर्म अज्ञतायाश्छादनं सत् विनिर्मितम्, अपण्डितानां मौनं भूषणं सत् विनिर्मितमिति प्रत्येकमन्वयो द्रष्टव्यः । अज्ञताच्छादनार्थमेकान्त एव कर्म कर्तव्यम्, अपण्डितैर्मौनिभिरेव स्थातव्यम् । अन्यथा स्वरूपप्रकाशनेनापहास्यता स्यादिति भावः । उपजातिवृत्तम्, इन्द्रोपेन्द्रवज्रमिश्रणात् । तौ द्वौ कीदृग्विधौ ? । 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजस्ततो गौ । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥' इति वृत्तरत्नाकरे उक्तत्वात् ॥ ७ ॥

अथ कस्यचिदनुभविनः परान्प्रति खानुभवप्रकटनप्रकारं तावदाह—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं गज इव मदान्धः समभवं

तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलितं मम मनः ।

यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतं

तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥ ८ ॥

अहं किञ्चिज्ज्ञोऽल्पज्ञः सन् यदा यस्मिन्समये गज इव मदेन दर्पेणान्धः कर्तव्याकर्तव्यविवेकशून्यः समभवं जातोऽस्मि, तदा तस्मिन्समये सर्वज्ञोऽशेष-ज्ञोऽस्मीति मम मनोऽवलितं गर्वितमभवत् । ‘अल्पविद्यो महागर्वी’ इति न्याया-दल्पज्ञत्वस्यैव गर्वहेतुत्वादिति भावः । ‘अवलेपस्तु गर्वे स्याल्लेपने दूषणेऽपि च’ इति विश्वप्रकाशः । यदा बुधजनसकाशात् । विद्वज्जनमुखादित्यर्थः । ‘आख्यातोपयोगे’ इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । किञ्चित्किञ्चित्स्वल्पं स्वल्पम् । शास्त्रबोधिताचारादिकमिति शेषः । अवगतं ज्ञातम्, तदा मूर्खो मूढोऽस्मीति मे मम मदो ज्वर इव व्यपगतो निर्गतः । अभूदिति शेषः । ज्वरवद्विकारकारित्वान्मदस्यैतत्साम्यमित्यवगन्तव्यम् । ‘आचार्यवान्पुरुषो वेद’ इति श्रवणादाचार्यावगतविद्यस्यैव विवेकसंभवादिति भावः । अल्पज्ञोऽपि सन् यः सर्वज्ञमात्मानं मनुते स एव मूर्खः । यस्तु सर्वज्ञोऽपि मूढमानी भवति स एव विद्वानिति विवेकः । मदो गर्वहेतुः, गुरुशुश्रूषा विनयहेतुरिति फलितोऽर्थः । यद्वा एतावन्तं कालं मदवशान्मूर्खोऽस्मि, इदानीं गुरुशिक्षावशाद्वि-वेकावगतिरिति वा योजना । शिखरिणी वृत्तम्—‘रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसमला गः शिखरिणी’ इति लक्षणात् ॥ ८ ॥

मूर्खस्यातिनैच्यं दृष्टान्तमुखेनाह—

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं

निरुपमरसप्रीत्या खादन्खरास्थि निरामिषम् ।

सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते

न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफलगुताम् ॥ ९ ॥

श्वा शुनकः कृमिकुलैरमेध्यमध्योत्पत्तिमदपादजन्तुसंततिभिश्चितं व्याप्तम् । लाला-क्लिन्नं वसापूयार्द्रम् । यद्वा लाला सृणिका । दन्तान्तर्जलमिति यावत् । ‘सृणिका स्यन्दिनी लाला’ इत्यमरः । तथा क्लिन्नम् । खादनसमये तस्यास्तत्र स्रवणादिति भावः । विगन्धि । दुर्गन्धि । अत्र विशब्दस्य पूतिपर्यायत्वविवक्षायां ‘गन्धस्य’ इत्यादिना इकारान्तादेशः । यद्वा विगन्ध आमगन्धोऽस्यास्तीति विगन्धि । अत एव जुगुप्सितं (निन्दितं) हेयम् । तदपि निरामिषं मांसलेशशून्यं तदपि खरास्थि रासभ-कीकसम् । निरुपम उपमानरहितो यो रसः स्वादस्तत्र या प्रीतिः प्रेम तथा खादन्भ-क्षयन् ॥ पार्श्वस्थं अन्तिकस्थम् । ‘सुपि स्थः’ इति कप्रत्ययः । सुरपतिमिन्द्रमपि, किमुतान्यमिति भावः । विलोक्य न शङ्कते न लज्जते । तथाहि—क्षुद्रो जन्तुर्नाच-जन्तुः परिग्रहे स्वीकृतवस्तुनि फल्गुतां तुच्छत्वं न गणयति । न मनुत इत्यर्थः । जुगुप्सितकर्माचरणतत्परो मूर्खोऽप्येवं न महद्विगर्हणाद्विमेतीति भावः । ‘पत्नी-

परिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः । 'फल्गु तुच्छमसारं च' इति यादवश्च । अत्राप्रस्तुतवृत्तान्तकथनात्प्रस्तुतमूर्खजनप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालंकारः । 'अप्रस्तुतस्य कथनात्प्रस्तुतं यत्र गम्यते । अप्रस्तुतप्रशंसेयं सारूप्यादिनियन्त्रिता ॥' इति लक्षणात् । अयं चोक्तार्थान्तरन्यासानुप्राणित इति संकरः । हरिणी वृत्तम्—'भवति हरिणी नसौ भ्रौ स्लौ गो रसाम्बुधिविष्टपैः' इति लक्षणात् ॥ ९ ॥

अथाविवेकस्यानर्थादिकथनद्वारा विवेकस्यावश्यकत्वं प्रदर्शयति—

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं

महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।

अथो गङ्गा सेयं पदमुपगता स्तोकमथ वा

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥ १० ॥

अत्रोत्तरवाक्ये तच्छब्दस्य विद्यमानत्वाद्यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् उत्तरवाक्यस्थयच्छब्दस्यैव पूर्ववाक्यतच्छब्दानपेक्षितत्वनियमात् । तथाच या गङ्गा स्वर्गात् स्वर्लोकात् । शर्वस्येदं शार्वं ऐश्वरम् । 'ईश्वरः शर्व ईशानः' इत्यमरः । 'तस्येदम्' इत्यण्प्रत्ययः । शिरः शीर्षं उपगतेति सर्वत्रानुषज्यते । प्रथममिति शेषः । तदनु पशुपतेः शर्वस्य शिरस्तः शीर्षात् । पञ्चम्यास्तसिः । क्षिति धरतीति क्षितिधरस्तं हिमवन्तम् । पचाद्यच् । उपगता । महीं धरतीति महीध्रः । मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः । यथाह वामनः (काव्या. सू. ५. २. ३४)—'महीध्रादयो मूलविभुजादिदर्शनात्' इति । अत एव 'महीध्रे शिखरिक्षमाभृत' इत्याद्यमरः । उत्तुङ्गादुन्नतान्महीध्राद्धिमवदाख्यक्षितिधरात् अवनिं भुवमुपगता । अवनेश्चापि जलधिं समुद्रमुपगता । 'नदीनां सागरो गतिः' (इति), 'गङ्गा सागरपूरणी' इति वचनादिति भावः । अथो अनन्तरम् । 'मङ्गलाऽनन्तरारम्भप्रश्नकार्त्तव्येऽथो अथ' इत्यमरः । सेयं परिदृश्यमाना गङ्गा मन्दाकिनी स्तोकं अल्पम् । परिमितमिति यावत् । पदं स्थानमुपगता प्राप्ता । यद्वा अध उक्तप्रकारेणाधःप्रदेशे पाताले वा पदमिति योजना । अथ वा । तथाहीत्यर्थः । पक्षान्तरे वा । विवेकभ्रष्टानां विवेकशून्यानां स्थानभ्रष्टानां च शतमुखो बहुप्रकारो विनिपातो भङ्गः अधोऽधः पतनं च भवति । विवेकयुक्तानां तु नैवम् । अतो विवेकान्न भ्रंशितव्यमिति भावः । यतः सकललोकमहिताया अपि गङ्गाया भ्रंशवशादीदृगवस्थापत्तिः, किमुतान्येषामिति विवेकस्यात्यन्तावश्यकत्वमुक्तमित्यवगन्तव्यम् । पुरा किल तत्रभगवान्भगीरथोऽश्वमेधीयाश्चान्वेषणतत्परतया पातालमुपगतानां कपिलविलोचनानलभस्मीकृतानां सगरकुमारानां ऊर्ध्वलोकप्राप्त्यर्थं स्वर्लोकात्सुरसरितमवतारयामासेति पौराणिकी कथात्रानुसंधेया । अत्रानेकस्मिन्नाधारे क्रमेणैकस्या आधेयभूताया गङ्गायाः स्थितिकथनात्पर्यायाख्योऽलंकारः । तदुक्तं विद्यानाथेन—'क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि । एकस्मिन्नथवानेकं पर्यायालंकृतिर्मता ॥' इति । शिखरिणी वृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ १० ॥

[अथाभ्यादीनां निवारणे शास्त्रप्रतिपादितजलादिरूपहेतून्प्रतिपाद्य मौर्ख्यस्य निवारणे शास्त्राभावं हेत्वभावं च स्फुटीकुर्वन्नाह—

१ श्लोकोऽयं मूलदर्शेऽत्र न पठ्यते, परं पूर्वमुद्रितपठित इति कोष्ठके निक्षिप्तः ।

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् शूर्पेण सूर्यातपो
 नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गौगर्दभः ।
 व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रैः प्रयोगैर्विषं
 सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥

हुतभुक् हुतं होमद्रव्यं हविः पुरोडाशवपादि भुनक्तीति हुतभुक् वैदिकाम्निः ।
 अत्र तु गृहादिदाहकृत् लौकिकाम्निरिति मन्तव्यम् । जलेनोदकेन वारयितुं निवारयितुं
 शक्यः । एवंरीत्या सूर्यातपः सूर्यस्य रवेरातपः शूर्पेण वारयितुं शक्य इति पदद्वयस्यो-
 त्तरत्राप्यनुषङ्ग इति मन्तव्यम् । समदो मदसहितो नागेन्द्रो गजश्रेष्ठः । निशिताङ्कुशेन
 तीक्ष्णाङ्कुशेन । गौर्वृषभो गर्दभः रासभश्च दण्डेन । व्याधिः कुष्ठादिरोगो भेषजसंग्रहै-
 रौषधसंग्रहणैश्च । अत्र चकारान्महामन्त्रजप-होम-सुरार्चन-दानादिकमपि गृह्यते ।
 'तच्छान्तिरोषधैर्दानैर्जपहोमसुरार्चनैः' इति स्मरणात् । विषं कालकूटादि विविधैर्नाना-
 विधैर्मन्त्रैः मन्तारं त्रायन्ते रक्षन्तीति मन्त्रास्तैः प्रणवादिभिर्विविधैः प्रयोगैश्च ।
 निवारयितुं शक्यमित्यर्थः । तस्मात्सर्वस्य प्राणिहिंसाकारणीभूतदुष्टजन्तुजातस्य शास्त्र-
 विहितं शास्त्रविधिचोदितमौषधमस्ति । मूर्खतानिवारणसमर्थं सुभाषितादिरूपं नास्ति
 शास्त्रविहितं न वर्तते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥]

इति नीतिशतकव्याख्याने मूर्खपद्धतिवर्णनं नाम प्रथमं दशकम् ।

श्रीरामार्पणमस्तु ॥

(अथ विद्वत्पद्धतिः)

अथ मूर्खपद्धतिवैलक्ष्येन विद्वत्पद्धतिं वर्णयति । यद्वा यदुक्तं विवेकस्यात्यन्ता-
 वश्यकत्वं तस्य शास्त्रपरिज्ञानसाध्यत्वात्तस्य च विद्वदधीनत्वात्तत्पद्धतिवर्णनमिदानी-
 मारभते—

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा
 विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः ।
 तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य सुधियस्त्वर्थं विनापीश्वराः
 कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षकैर्न मणयो यैरर्घतः पातिताः ॥ ११ ॥

शास्त्रैः काणादगौतमीयादिभिरुपस्कृता अलंकृताः तथा शब्देन पाणिनीयेन सुन्दरा
 मनोहरा गिरो वाचो येषां ते तथोक्ताः अत्र यद्यपि शास्त्रपदग्रहणेनैव सर्वेषां शास्त्राणां
 संग्रहात्पार्थक्येन शब्दशास्त्रग्रहणे पौनस्त्यदूषणं स्यात्, तथापि गोबलीवर्दन्यायेन
 समाधेयम् । यद्वा 'सर्वशास्त्रमुखं व्याकरणम्' इति तस्य प्राधान्यात्पार्थक्येन निर्देशः ।
 अथ वा इतरेषां शास्त्राणामुपस्कारहेतुभूतत्वमात्रमेव, अस्य तु 'वाणी व्याकरणेन'
 इति स्वेनैवोत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात्तदेकान्तसौन्दर्यावहत्वेन पृथग्रहणमिति मन्तव्यम् ।
 तथा शिष्येभ्योऽन्तेवासिभ्यः प्रदेया व्याख्यानरूपेण प्रदातुं योग्या आगमाः शास्त्राणि
 येषां ते तथोक्ताः । सम्यक्शिक्षापाटवात्प्रबुद्धाखिलशास्त्रसिद्धान्तत्वेन शिष्यद्वारा

व्याख्यातनिखिलागमा इत्यर्थः । यद्वा शिष्येभ्यः प्रदेया विनियोगार्हाः । न तु कुहकतया गर्भ एव (वि) जीर्णीकृता इत्यर्थः । तथाभूता आगमा येषां ते तथोक्ताः । 'आगमः शास्त्र आयतौ' इति विश्वः । अत एव विख्याताः सर्वत्र प्रसिद्धाः कवयो विद्वांसः निर्धना धनहीनाः सन्तः यस्य प्रभो राज्ञो विषये देशे संनिधौ वा वसन्ति तिष्ठन्ति, तन्निरर्थकत्वेनावस्थानं तस्य वसुधाधिपस्य प्रभोरेव जाड्यं मान्यम् । दैन्यमिति यावत् । 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति ध्यञ्प्रत्ययः । सुधियो विद्वांसस्तु अर्थं धनं विनापि । 'पृथग्विना—' इत्यादिना विकल्पाद्वितीया । ईश्वराः समर्थाः । पूज्या इत्यर्थः । विद्याया एव तेषां महाधनत्वादिति भावः । किंतु यैः कुपरीक्षकै रत्नशास्त्रपरिज्ञानाभावात्कुत्सितपरिज्ञानिभिः मणयः । अमूल्या अपीति भावः । अर्धतो मूल्यतः पातिताः नीचैः कृताः अल्पार्थीकृता इत्यर्थः । त एव कुपरीक्षकाः कुत्स्याः निन्द्याः स्युः । मणयस्तु न कुत्स्याः स्युरिति संबंधः । तथा विद्वांसोपीति भावः । अयमर्थः—विद्वद्भिः प्रभुसमाश्रयेणैव स्थातव्यम् । 'सदाश्रयेण शोभन्ते पण्डिता वनिता लताः' इति न्यायात् । तत्र न ते यदि विद्वन्मनोरथं पूरये-
युस्तत्तेषामेव कुत्सितत्वम् । विद्वांसस्तु कुपरीक्षकोपहतमणय इव न तु कुत्स्या इति । अतः श्रेयस्कामैः प्रभुभिस्तन्मनोरथपरिपूरकैरेव भवितव्यमिति तात्पर्यम् । शार्दूल-
विक्रीडितं वृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ११ ॥

अथ विद्याधनस्य प्रसिद्धधनवैलक्षण्यवर्णनद्वारा विदुषामुत्कर्षमापादयन्नेतेषु गौरवेण विश्वासोत्पादनार्थं नृपान्संबोधयति—

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्पाति यत्सर्वदा-

प्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम् ।

कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं

येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः ! कस्तैः सह स्पर्धते ॥१२॥

यद्विद्याख्यं धनं हर्तुश्चोरादेः । 'हर्तुम्' इति तुमुनन्तपाठेऽपहर्तुमित्यर्थः । गोचरं न याति विषयतां न प्राप्नोतीति भावप्रधानो निर्देशः । तस्यात्यन्तदुर्ग्रहत्वादिति भावः । तथा सर्वदा कालत्रयेऽपि किमप्यनिर्वाच्यं शं सुखं 'शर्मजोषं च शं सुखम्' इति भागुरिः । पुष्पाति प्रवर्धयति । 'अर्थानामर्जने दुःखम्' इति स्मरणात्प्रसिद्धं तु नैवमिति भावः । अनिशं सर्वदार्थिभ्यो विद्यार्थिभ्यो याचकेभ्यश्च । प्रतिपाद्यमानं व्याख्यायमानं दीयमानमपि च । परामुत्कृष्टां वृद्धिमभ्युच्छ्रयं प्राप्नोति । विद्याया व्याख्यानेनाभिवृद्धिसंभवादिति भावः । तथा कल्पान्तेषु प्रलयेष्वपि निधनं नाशं न प्रयाति । न नश्यतीत्यर्थः । कल्पान्तेष्विति बहुवचनग्रहणं विद्याधनस्यात्यन्तविनाशा-
भावप्रकाशनार्थम् । प्रसिद्धं तूक्तविपरीतमिति भावः । तदुक्तम्—'न भोगहार्या न च बन्धुहार्या न भ्रातृहार्या न च राजहार्या । स्वदेशमित्रं परदेशबन्धुर्विद्यासुधां ये पुरुषाः पिबन्ति ॥' इति । तद्विद्याख्यं विद्याभिधानम् । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात्तच्छब्द-
स्याध्याहारः । अन्तर्धनमभ्यन्तरस्थवित्तं येषां पुंसां । अस्तीति शेषः । अतस्तान्वि-
द्याधनान्प्रति हे नृपाः राजानः, मानं कोपम् । दुराग्रहमिति यावत् । उज्झत त्यजत ।

तैर्विद्वद्भिः सह कः पुमान्स्पर्धते विगृह्णाति । न कोऽपीत्यर्थः । अतस्ते सदा गौरवेण बहु माननीया इति भावः । अत्रोपमानात्प्रसिद्धधनादुपमेयस्य विद्याधनस्याधिक्यकथनाद्यतिरेकालंकारः—‘उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः’ इति काव्यप्रकाशकारलक्षणात् । वृत्तं तु पूर्ववत् ॥ १२ ॥

अथ त्वदीयलक्ष्मीर्न तेषां प्रतिबन्धिका, अतस्तेषु बहुमानाचरणतत्परेणैव भवितव्यमिति सदृष्टान्तं राजानं संबोधयति—

अधिगतपरमार्थान्पण्डितान्मावमंस्था-

स्तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि ।

अभिनवमदरेखाश्यामगण्डस्थलानां

न भवति विसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥ १३ ॥

हे नृप ! अधिगतपरमार्थान् (विज्ञाततत्त्वार्थान्) । ‘सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः’ इति न्यायात् । अथवा प्राप्तपुरुषार्थान् । पण्डितान्विदुषः मा अवमंस्थाः मा अवमानय । मन्यतेरवपूर्वाद्धि । यासि ‘न माङ्योगे’ इत्यट्प्रतिषेधः । कुतः ? । तृणमिव लघु निःसारा लक्ष्मीस्त्वदीयसंपत्तिः । ‘शोभासंपत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव गीयते’ इति शाश्वतः । तान्पण्डितान्नैव संरुणद्धि । ‘ईषदपि संरोद्धुं नैव शक्नोतीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—अभिनवमदरेखार्थिप्रत्यग्रदानधाराभिः श्यामानि गण्डस्थलानि येषां तेषां वारणानां मत्तेभानां विसतन्तुर्मृणालसूत्रं वारणं प्रतिबन्धकभूतो न भवति । अतः पण्डितेषु बहुमानाचरणतत्परत्वेनैव वर्तितव्यमित्यर्थः । अत्र दृष्टान्तालंकारः—‘यत्र वाक्यद्वये विम्बप्रतिविम्बतयोच्यते । सामान्यधर्मो वाक्यज्ञैः स दृष्टान्तो निगद्यते ॥’ इति लक्षणात् । स चोक्तोपमयाऽङ्गेन संकीर्यते । मालिनीवृत्तम्—‘ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः’ इति लक्षणात् ॥ १३ ॥

किं बहुना, ब्रह्मापि तदीयवैदग्ध्यापहरणे न शक्त इति दृष्टान्तमुखेनाह—

अम्भोजिनीवनविहारविलासमेव

हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता ।

न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां

वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः ॥ १४ ॥

विधाता ब्रह्मा कुपितः केनचिद्धेतुना क्रुद्धः सन् हंसस्य निजयानमरालस्याम्भोजिनीवने पद्मिनीवने यो विहारः क्रीडा स एव विलासो लीला तमेव न त्वन्यत् । नितरामतिशयेन अव्ययाद् आम् प्रत्ययः हन्ति विनाशयति । ‘विलासमेकम्’ इति पाठे एकं केवलं विलासमित्यन्वयः । अम्भोजाकरसंशोषणेन तत्र विहारभङ्गमात्रमेव कर्तुं शक्नोतीत्यर्थः । किं त्वसौ विधाता अस्य हंसस्य दुग्धजलयोः क्षीरनीरयोर्भेदविधौ विभागकरणविषये प्रसिद्धां प्रख्यातां वैदग्ध्यकीर्तिं वैदग्ध्येन । ‘कृत्यवस्तुषु चातुर्यं वैदग्ध्यं परिकीर्यते’ इत्युक्तलक्षणनैपुण्येन प्रयुक्ता या कीर्तिस्तामपहर्तुं निहन्तुं न समर्थो न शक्तः । हंसो हि क्षीरमिश्रिते नीरे नीरं विहाय क्षीरं गृह्णातीति प्रसिद्धिः ।

एवं कुपितो राजा स्वविषयवासादिभङ्गमात्रमेव कर्तुं शक्नोति । नतु तेषामशेषविद्या-
परिशीलनजनितचातुर्यभङ्गम् । अतो निष्कोपेन भवितव्यं विद्वत्सु राज्ञेति तात्पर्यम् ।
अत्राप्रकृतविधातृहंसवृत्तान्तकथनात्प्रस्तुतराजविद्वज्जनप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसांलंकारः ।
लक्षणं तूक्तम् । वसन्ततिलका वृत्तम्—‘उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः’ इति
लक्षणात् ॥ १४ ॥

अथ विदुषां तावद्विधैव भूषणरूपसंपदित्यादिकं सर्वमपि इत्याह द्वाभ्याम्—

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला

न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः ।

वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते

क्षीयन्तेऽखिलभूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥ १५ ॥

केयूराण्यङ्गदानि । यद्यपि केयूरयोर्भुजनिजशिरोभूषणत्वेन द्वित्वमेव वक्तव्यम्,
तथापि तद्विशेषविवक्षायां बहुवचनप्रयोग इति मन्तव्यम् । पुरुषं जनं न भूषयन्ति
नालंकुर्वन्तीति यथायोगं संबध्यते । चन्द्रवदुज्ज्वला धवलतरा हारा मुक्ताहाराश्च न
भूषयन्ति । स्नानमभिषेकोऽपि न भूषयति । विलेपनं घनसारकस्तूरिगन्धसारचर्चापि
न भूषयति । कुसुमं मल्लिकामालतीचम्पकादिपुष्पमपि । जातावेकवचनम् । न
भूषयति । अलंकृता अभ्यङ्गपुष्पमाल्यादिना सम्यक्प्रसाधिता मूर्धजाः । शिरोरुहा
अपि न भूषयन्ति । पुरुषमिति सर्वत्रानुषङ्गः । किं त्वेका केवला वाणी पुरुषं
समलंकरोति सम्यग्भूषयति । केयं वाणीत्यत आह—या संस्कृता व्याकरणादिपरिशुद्धा
धार्यते स्वायत्तीक्रियते सेत्यध्याहततच्छब्देन संबन्धः । ननु केयूरादीनां विभूषणत्वेन
प्रसिद्धत्वात्तन्निषेधे प्रत्यक्षापलापः स्यादित्याशङ्क्य तेषां क्षयिष्णुत्वान्न तथात्वमित्याह—
अखिलभूषणानि केयूराद्युक्ताशेषभूषणानि क्षीयन्ते कालक्रमेण नश्यन्ति । ‘क्षीयन्ते
खलु’ इति पाठे खलुशब्दो वाक्यालंकारे । वाग्भूषणं संस्कृतवाग्भूषणं तु सततं भूषणं
नित्यभूषणम् । कदापि न नश्यतीति भावः । व्यतिरेकालंकारः । लक्षणं तूक्तम् ।
एतदादिश्लोकचतुष्टयं शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १५ ॥

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं

विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः ।

विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता

विद्या राजसु पूज्यते नहि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥ १६ ॥

रूपं नाम कुण्डलहारनूपुराङ्गदादिचतुर्विधभूषणाभावेऽपि विभूषितवद्भासमान
आकारविशेषः । तदुक्तं भावप्रकाशे—‘अवेध्यारोप्यविक्षेप्यबन्धनीयैरभूषितम् ।
यद्भूषितमिवाभाति तद्रूपमिति कथ्यते ॥’ इति । विद्या नाम वेदशास्त्राद्यात्मिका
विद्यैव नरस्य पुंसोऽधिकं भूयिष्ठं रूपमुत्कलक्षणाकारविशेषः । तद्वल्लोकरञ्जकत्वा-
दिति भावः । तथा प्रच्छन्नं निगूढं यथा तथा गुप्तं रक्षितं धनं विद्यैवेति संबन्धः ।
तद्वत्कालान्तरेपूपकारकत्वादिति भावः । विद्या भोगान्करोतीति भोगकरी स्वचन्दना-
दिभोग्यवस्तुलाभहेतुः । तथा यशः समाख्या सुखमिन्द्रियतर्पणम् । एतत्करी

एतद्वेतुश्च । उभयत्रापि 'कृयो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति प्रत्यये टित्वान्धीप् ।
 तथा विद्या गृणन्त्युपदिशन्तीति गुरवस्तेषां हिताहितोपदेष्टृणामाचार्याणामपि गुरुरुपदेष्टृ-
 भूता । तथा परमार्थबोधकत्वादिति भावः । विद्या विदेशगमने प्रवासे बन्धुजनः
 सुहृज्जनः । तद्वद्विशेषोपचारसंपादकत्वादिति भावः । तदुक्तम्—'स्वदेशमित्रं परदेश-
 बन्धुं विद्यासुधां ये पुरुषाः पिबन्ति ।' इति विद्या परा देवता परमात्मभूता ।
 मोक्षदायकत्वादिति भावः । यद्वा परा देवता स्वामीष्टदेवता । तथा ऐहिकामुष्मिक-
 फलदत्वादिति भावः । विद्या राजसु राजमध्ये पूज्यते प्रशस्यते । गौरवसंपन्नत्वाद्वा-
 जपूज्या भवतीत्यर्थः । यद्वा विद्याशब्देन विद्यावाङ्मक्ष्यते, राजशब्देन च तत्सभा
 लक्ष्यते । तथाच विद्यावान् राजसभासु पूज्यते पुरस्कियते । संभाव्यत इति यावत् ।
 धनं द्रव्यं तु नहि । उक्तप्रकारं न भवतीत्यर्थः । तस्माद्विद्ययोक्तरूपया विहीनः
 शून्यो जनः पशुः पशुप्रायः । कर्तव्याकर्तव्यविवेकराहित्यादिति भावः । अतो
 बहुपकारित्वाद्विशिष्टविधैव प्रधानम्, न त्वन्यदिति भावः । अत्र विद्याया रूपधना-
 द्याकारेण बहुधा निरूपणाग्निरवयवमालारूपकालंकारः ॥ १६ ॥

अथ लोकहिताहितवर्णनप्रसङ्गात्तस्या एव प्रकृष्टैश्वर्यभावमाह—

क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां

ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्विष्यौषधैः किं फलम् ।

किं सपैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्यानवद्या यदि

व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् १७

देहिनां प्राणिनां क्षान्तिस्तितिक्षा । परिभवादिषूत्पद्यमानेषु क्रोधप्रतिबन्धक
 इति यावत् । अस्ति चेत्, तर्हि कवचेन वर्मणा किम् । फलमिति सर्वत्रानुषज्यते ।
 न किञ्चिदपीत्यर्थः । तस्या एवास्तुदानामनवकाशप्रदत्वादिति भावः । क्रोधश्चित्त-
 क्षोभोऽस्ति चेत्, अरिभिः शत्रुभिः किम् । तस्यैवान्तःशत्रुत्वादुपद्रवहेतुत्वाच्चेति भावः ।
 ज्ञातिर्दायादोऽस्ति चेत्, अनलेनाग्निना किम् । तस्यैव सर्वार्थनिर्मूलननिदानत्वादिति
 भावः । सुहृत् सन्मित्रमस्ति यदि । 'सुहृदुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति निपातनात्साधुः ।
 दिव्यौषधैः सिद्धौषधैः किं फलम् । न किञ्चिदपि । तस्यैवारोग्यकरत्वादिति भावः ।
 दुर्जनाः खलाः सन्ति यदि, सपैराशीविषैः किम् । तेषामेव प्राणापहारित्वादिति
 भावः । अनवद्या निर्दुष्टा । 'अवद्यपण्य-' इत्यादिना निपातनात्साधुः । ततो
 नञ्समासः । 'तस्मान्नुडचि' इति नुडागमः । विद्या वेदवेदाङ्गाद्यात्मिकास्ति यदि,
 धनैः किम् । तस्या एवाखिलभोगसाधकत्वादिति भावः । व्रीडा अकार्यप्रवृत्तौ
 मनःसंकोचलक्षणलज्जा अस्ति चेत्, भूषणैः किम् हारनूपुराद्यलंकरणैः किम् । तस्या
 एव लोकोत्तरभूषणत्वादिति भावः । सुकविता सत्पाण्डित्यम् । 'संख्यावान् पण्डितः
 कविः' इत्यमरः । यद्वा कवयति वर्णयति रसोलसितशब्दार्थसंघटनां करोतीति कवि-
 स्तस्य भावस्तत्ता अस्ति यदि राज्येन भूमण्डलाधिपत्येन किम् । तस्या एव सकललोक-
 वशीकरणकारणत्वादिति भावः । राज्ञो भावः कर्म वा राज्यं प्रजापरिपालना-
 त्मकम् । पुरोहितादित्वाद्यकप्रत्ययः ॥ १७ ॥

सु. त्रि. २

अथ विदुषां गुणवर्णनपूर्वकं लोकव्यवस्थापकत्वमाह—

दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने शाठ्यं सदा दुर्जने

प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जने चार्जवम् ।

शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने कान्ताजने धृष्टता

ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥ १८ ॥

स्वजने । बन्धुजनेष्वित्यर्थः । जातावेकवचनम् । एवमुत्तरत्रापि । दाक्षिण्यं छन्दानुवर्तनम् । अन्यथा विनिन्देरन्निति भावः । 'दक्षिणः सरलोदारपरच्छन्दानुवर्तिषु ।' परिजने भृत्यजनेषु विषये दया दारिद्र्यादितद्दुःखप्रहाणेच्छा । अन्यथा विजहुरिति भावः । दुर्जने खलजनेषु विषये सदा शाठ्यं विप्रियकारित्वम् । अन्यथा अधिक्षिपेरन्निति भावः । साधुजने सज्जनेषु विषये प्रीतिः स्नेहः । आदर इति यावत् । अन्यथा संतपेरन्निति भावः । नृपजने राजसु विषये नयो नीतिः । अनुवर्तनतात्पर्यमिति यावत् । अन्यथा दण्डयेरन्निति भावः । विद्वज्जने पण्डितजनेषु विषये आर्जवमवकता । अन्यथा निषिध्येरन्निति भावः । शत्रुजने शत्रुजनेषु विषये शौर्यं विक्रान्तत्वम् । अन्यथा निपातयेरन्निति भावः । गुरुजने पित्रादिषु विषये क्षमा सहिष्णुत्वम् । अन्यथा शपेरन्निति भावः । कान्ताजने नारीजनेषु विषये धृष्टता प्रागल्भ्यं च । अन्यथा वशीकुर्युरिति भावः । इत्येवमुक्तविधासु कलासु शिल्पेषु । 'कला शिल्पे कालभेदे चन्द्रांशे कलना कला' इति वैजयन्ती । ये च पुरुषाः कुशला निपुणास्तेषु पुरुषेष्वेव लोकस्थितिलोकमर्यादा । अस्तीति शेषः । त एव लोकव्यवस्थासंस्थापकाः । न तूक्तगुणरहिता इत्यर्थः । एवंभूतास्तु विद्वांस एव न त्वन्य इति हृदयम् ॥ १८ ॥

इत्थं विद्वज्जनाननुवर्ण्य संप्रति सत्संगतेः श्रेयस्करत्वमाह—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं

मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं

सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥ १९ ॥

धियो बुद्धेर्जाड्यं मान्यं हरति निरस्यति । वाचि वचने सत्यं सनूतभावं सिञ्चत्याप्लावयति । मानोन्नतिं बहुमानातिशयं दिशति यच्छति । पापं किल्बिषमपाकरोति नाशयति । धर्मोपदेशादिनेति भावः । तथा चेतः प्रसादयति निर्मलयति । ज्ञानोपदेशेनेति भावः । दिक्षु दिशासु कीर्तिं तनोति विस्तारयति । अतः सत्संगतिः सज्जनसमागमः पुंसां किं श्रेयो न करोति । कथय इति पृथग्जनसंबोधनम् । सर्वमपि श्रेयः करोत्येवेत्यर्थः । अतस्तैरेव संगतिः कर्तव्या, न तु दुर्जनैरिति तात्पर्यम् । अत्र क्रियाणां बहूनां समुचितत्वात्समुच्चयालंकारः । 'गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चय उदाहृतः ।' इति लक्षणात् । वसन्ततिलकावृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ १९ ॥

अथैतेषामसाधारणमहिमास्पदत्वाल्लोकोत्तरत्वं वर्णयन्निगमयति—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।

नास्ति तेषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥ २० ॥

सुकृतिनो धन्याः । 'सुकृती पुण्यवान्धन्यः' इत्यमरः । रससिद्धः सिद्धशृङ्गारान्-
दिरसाः, सिद्धपारदगुटिकाश्च । 'वाहिताभ्यादिषु' इति निष्ठायाः परनिपातः । ते
प्रसिद्धाः, पूर्वोपवर्णिता वा । कवीश्वराः कविसार्वभौमाः पण्डितोत्तमा इति वा ।
जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । अद्यापीति शेषः । यद्वा रससिद्धासिद्धरसाः । ब्रह्मसा-
क्षात्कारवन्त इत्यर्थः । 'रसो वै सः' इति श्रुतेः । 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये पारदे
ब्रह्मवर्चसि । रेतस्यास्वादने हेम्नि निर्यासेऽमृतशब्दयोः ॥ रसः' इत्यभिधानात् ।
कवीश्वराः कवयः प्रकान्तदर्शिनः तेषामीश्वराः कालत्रयामिज्ञाः । ब्रह्मविद्याविशारदा
इत्यर्थः । जयन्ति । कुतः ? । तेषां कवीश्वराणां यशःकाये कीर्तिशरीरे जरामरणाभ्यां
जातमिति तथोक्तं भयं नास्ति । रससिद्धानां भौतिकशरीर एव जरामरणभयं नास्ति ।
यशःशरीरे तु किं वक्तव्यम् । तस्य कल्पान्तस्थायित्वादिति भावः । अत्र रससिद्धपदा-
र्थान्यविशेषणगत्या भयाभावपदार्थं प्रति हेतुत्वात्काव्यलिङ्गमेदः । वृत्तमुक्तम् ॥ २० ॥
इति नीतिशतकव्याख्याने विद्वत्पद्धतिवर्णनं नाम द्वितीयं दशकम् ।

श्रीरामार्पणमस्तु ॥

(अथ मानशौर्यपद्धतिः)

अथ विदुषामपि मानशौर्ययोरपेक्षितत्वाद्विद्वत्पद्धतिनिरूपणानन्तरं मानशौर्यपद्धतिं
निरूपयति—

क्षुक्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-

मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।

मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासैकवद्धस्पृहः

किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥ २१ ॥

क्षुधा क्षामः क्षीणोऽपि । 'क्षायो मः' इति मत्वम् । जरया विस्त्रसया कृशोऽपि
जीर्णोऽपि । 'विस्त्रसा जरा' इत्यमरः । मिदादित्वादङ् । शिथिलप्रायः विश्रुथाङ्गतया
बलहीनः । सन्नपीत्यर्थः । कष्टां दशाभाहारालाभादतिकृच्छ्रावस्थामापन्नः प्राप्तोऽपि ।
'दशा वर्ताववस्थायाम्' इति विश्वः । अत एव विपन्नदीधितिर्नष्टकान्तिरपि । किं
बहुना प्राणेषु पञ्चसु नश्यत्सूक्तममाणेषु सत्स्वपि । प्राणप्रयाणे संप्राप्ते सत्यपीत्यर्थः ।
मत्तेभेन्द्रस्य मत्तगजपुंगवस्य विभिन्नो विदारितो यः कुम्भः कुम्भस्थलं तत्र यत्पिशितं
मेदोमांसं तद्ग्रासे तत् कवलने एकं मुख्यं यथा तथा बद्धा संदानिता स्पृहा वाञ्छा यस्य
सः । इति शौर्यातिशयोक्तिः । तथा मानमहतामभिमानोन्नतानामग्रेसरोऽग्रगण्यः ।
'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सतैः' इति टप्रत्ययः । केसरी सिंहः । जीर्णं तृणं शुष्कघासमत्ति
किमभ्यवहरति किम् । नात्येवेत्यर्थः । इति मानातिशयोक्तिः । नीचजन्तुस्तु नैवमिति
भावः । अत्र यद्यपि सर्वत्रापिशब्दस्तावदेकैकविशेषणविशिष्टस्यैवात्यन्तनीचवृत्तिप्रवृत्तिं
द्योतयति, तथाप्युक्ताखिलविशेषणविशिष्टोऽपि गजेन्द्रमेदःकवलनविहितप्रतिज्ञः केसरी
न नीचवस्तुनि प्रवर्तत इति महती मानशौर्यपराकाष्ठोक्तिरिति मन्तव्यम् । 'प्राणानपि
परित्यज्य मानमेवाभिरक्षतु । प्राणास्तुरङ्गचपला मानमाचन्द्रतारकम् ॥' इति वच-
नात्सिंहवन्मानशौर्यसंपन्नेन भवितव्यं यशस्कामेनेति भावः । अत्र प्रकरणे कुत्रचिन्मा-

नस्य कुत्रचिच्छौर्यस्य कुत्रचिदुभयस्य प्राधान्यकथनं इति द्रष्टव्यम् । कुलकमागतोत्त-
मशीलपरिपालनं मानः । सहायमनपेक्ष्य शत्रुसंहरणसामर्थ्यं शौर्यमिति विवेकः ।
अत्र प्रायेणाप्रस्तुतप्रशंसालंकारोऽनुसंधेयः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २१ ॥

क्षुद्रजन्तुस्तु नैवमित्युक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—

स्वल्पस्नायुवसावसेकमलिनं निर्मांसमप्यस्थि गोः

श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न च तत्तस्य क्षुधाशान्तये ।

सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं

सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥ २२ ॥

श्वा शुनकः स्वल्पयोर्लेशमात्रयोः स्नायुवसयोः स्नायुः वस्त्रसाख्यनाडीभेदः; वसा
भेदः, तयोरवसेकेन मेलनेन मलिनं मलदूषितमपि 'वस्त्रसा स्नायुरस्त्रियाम् । हन्मेदस्तु
वपा वसा' इत्यमरः । निर्मांसं मांसलेशशून्यमपि गोः पशोः । 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्-
नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्टयोः स्त्रियां पुंसि गौः' इत्यमरामिधानात् । अस्थि कीकसं
लब्ध्वा परितोषमेति संतुष्यति । तच्च गवास्थि तु तस्य शुनः क्षुधेव क्षुधा । 'आपं
चैव हलन्तानाम्' इति वचनाद्वाप् । तस्याः शान्तये क्षुन्निवारणाय न । पर्याप्तं न
भवतीत्यर्थः । 'अस्तिर्भवन्तीपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति' इति भाष्यकारवचनात् भवन्तीति
लटः पूर्वाचार्याणां संज्ञा । नीचजन्तोरियं रीतिरिति भावः । सिंहस्त्वङ्कं समीपमागत-
मपि । समीपवर्तिनमपीत्यर्थः । 'अङ्कः समीप उत्सङ्गे चिह्ने स्थानापवादयोः' इति विश्वः ।
जम्बुकं क्रोष्टारं त्यक्त्वा । अनादलेत्यर्थः । अलक्षीकृत्येति यावत् । द्विपं गजमेव ।
दूरस्थमपीति भावः । निहन्ति विदारयति । तथाहि कृच्छ्रगतोऽप्यतिसंकटस्थोऽपि
सर्वोऽशेषो जनः सत्त्वानुरूपं स्वशक्त्यनुगुणं फलं लाभं वाञ्छति काङ्क्षति । न तु
दुर्बलः प्रकृष्टफलकाङ्क्षी, प्रबलो निकृष्टफलाकाङ्क्षी च भवति । अतः श्वसिंहदृष्टान्तेन
नीचानीचवस्तुपरिग्रहतत्परेण भवितव्यमायुष्मतेति भावः । वृत्तं तु पूर्ववत् ॥ २२ ॥

अथ क्षुद्राक्षुद्रजन्तोश्चेष्टामाह—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावघातं

भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च ।

श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु

धीरं विलोकयति चादुशतैश्च भुङ्क्ते ॥ २३ ॥

श्वा सारमेयो लाङ्गूलचालनं पुच्छविवर्तनम्, च अधो भूतले चरणावघातं
पादविदारणम्, च भूमौ निपत्य स्वयमेव पतित्वा वदनोदरदर्शनं वक्रकुक्षिप्रदर्शनं
च पिण्डदस्य । बलिप्रदस्य पुरस्तादिति शेषः । कुरुते । निजनीचचेष्टामाविष्कुरुत
इत्यर्थः । गजपुंगवस्तु । पुमान्गौः पुंगवो वृषभः । विशेषणसमासः 'गोरतद्धित-
लुकि' इति समासान्तष्टच् । स एव पुंगवः । श्रेष्ठ इत्यर्थः । 'श्रेष्ठोक्षाणौ तु पुंगवौ'
इति वैजयन्ती । गजपुंगवो गजेन्द्रस्तु धीरं गम्भीरं विलोकयति पश्यति । पिण्डदसंनि-
धाविति भावः । अथ चादुशतैरनेकप्रियोक्तिमिरनुनयवाक्यैश्च वा भुङ्क्तेऽभ्यवहरति ।
गुडतण्डुलादिकमिति शेषः । 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम् । इमावेव नीचानीचजन-
योर्दृष्टान्ताविति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २३ ॥

अथ मानशौर्यसंपन्नतया वंशवर्धनस्यैव जन्मसत्तालाभाः न त्वन्यस्येत्याह—

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥ २४ ॥

परिवर्तिनि धर्माधर्मवशात्पौनःपुन्येन विवर्तमाने संसारेऽस्मिन् जन्मजरामरण-
रूपसंसारचक्रे को वा पुमान्मृतः प्रेतो न जायते न भवति । उत्पन्नो वा को वा न
भवतीति शेषः । यद्वा को वा न मृतः को वा न जायते नोत्पद्यते । सर्वोऽप्युत्पन्नो
मृतश्च भवत्येवेत्यर्थः । 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति भगवद्वच-
नादिति भावः । ततः किमत आह—स पुमाज्जात उत्पन्नः । जन्मलाभवानिति
यावत् । कोऽसावित्यत आह—येन जातेनोत्पन्नेनैव पुंसा वंशोऽन्ववायः समुन्नतिं
महौन्नत्यं याति प्राप्नोति । वंशोद्धारको यः पुमान्स एव जन्मलाभवान् । एवंभूतत्वं
च मानशौर्यसंपन्नस्यैव, न त्वन्यस्य । अतः किमन्यैरजागलस्तनवदुत्पन्नैर्मशकवद्विन-
ष्टैश्चेति भावः । आनुष्ठुभं वृत्तम् ॥ २४ ॥

इत्थंभूतस्य पुरुषस्य व्यापारमाह—

कुसुमस्तवकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः ।

मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥ २५ ॥

कुसुमस्तवकस्येव पुष्पगुच्छस्येवेत्येकं पदम् । मनस्विनो धीरस्य । मानशौर्यशालिनः
पुंस इत्यर्थः । द्वयी द्विविधा वृत्तिर्व्यापारः । 'द्वे गती हि' इति पाठे स्पष्टोऽर्थः । तृतीया
तु न संभवतीत्यर्थः । किं तद्वृत्तिद्वयमित्यत आह—सर्वलोकस्य । सर्वेषां जनाना-
मित्यर्थः । मूर्ध्नि शिरसि, उन्नतस्थाने च । स्थीयत एवेति शेषः । अथवा वन एव
अरण्य एव शीर्यते वा जीर्यते वा । भावे लट् । एवमुभयी वृत्तिः शौर्यादुन्नतस्थान-
स्थितिः । तदलाभे मानादरण्ये जीर्णता इति विवेकः । इयमेव पुंसां श्रेयस्करी
वृत्तिरिति भावः । कुसुमस्तवकस्येवेत्यत्र समासगा श्रौती पूर्णोपमालंकारः । इवशब्देन
सह समासस्य संभवात् । तथाच वार्तिकम्—'इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपः
पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इति । वृत्तं तु पूर्ववत् ॥ २५ ॥

पुनरप्युक्तोभयगुणवैशिष्ट्यस्यैवोत्कृष्टतामाह—

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः संभाविताः पञ्चषा-

स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते ।

द्वावेव ग्रसते दिवाकरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरौ

भ्रातः ! पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषाकृतिः ॥ २६ ॥

अन्ये वक्ष्यमाणसूर्यचन्द्रापेक्षया इतरे बृहस्पतिप्रभृतयः वाचस्पतिप्रमुखाः । प्रभृति-
शब्देन बुधशुक्रादयोऽपि गृह्यन्ते । पञ्च षड्वा पञ्चषा ग्रहाः । 'संख्ययाव्यया—' इत्यादिना
बहुव्रीहिः । 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' इति समासान्तो डच्प्रत्ययः ।
संभाविता ग्राह्यत्वेनोपस्थिता बहुमता वा । सन्ति वर्तन्ते । तान्प्रति । बृहस्पति-
प्रभृतीलक्ष्यीकृत्येत्यर्थः । विशेषेषु विशिष्टेषु । तेजोमहत्स्विति यावत् । विक्रमेण परा-
क्रमेण रुचिः प्रीतिर्यस्य स तथोक्तः । तेजिष्ठैः सहैव कलहाचरणतत्पर इत्यर्थः । एष
उपरागकर्तृत्वेन प्रसिद्धो राहुः संहिकेयो न वैरायते वैरं न करोति । अलक्ष्यत्वात्त-

त्कवलनतत्परो न भवतीत्यर्थः । 'शब्दैरकलहाभ्रकण्वमेवेभ्यः करणे' इति कयङ् । 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति दीर्घः । विक्रमरुची राहुरित्यत्र 'रोरि' इति रेफलोपे 'दूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति दीर्घः । किंतु भास्वरौ तेजस्विनौ । 'स्थेशभास-
पिसकसोवरच्' इति वरच्प्रत्ययः । द्वौ उभौ दिवाकरनिशाप्राणेश्वरौ सूर्याचन्द्रमसावेव
अन्ययोगव्यवच्छेदार्थकोऽयमेवकारः । शीर्षमेवावशेषो यस्याः सा शीर्षावशेषा
आकृतिर्यस्य । शिरोमात्रावशिष्टगात्र इत्यर्थः । 'शीर्षावशेषीकृतः' इति पाठेऽप्य-
थमेवार्थः परिणमयितव्यः । दानवपतिर्दानवेश्वरः पूर्वोक्तराहुः । पर्वणि दर्शपूर्णमास-
प्रतिपत्संधौ प्रसति गिलति । हे आतरः इत्यादरेण पृथग्जनसंबोधनम् । पश्येति
वाक्यार्थः कर्म । यतः शिरोमात्रावशिष्ट एवायमीदृक्कर्माचरणतत्परोऽभूत्, संपूर्णा-
ङ्गश्चेत्किं करिष्यति न जानामीति भावः । एवं मानशौर्यशालिनो हि निजाङ्गवैकल्यं
न परिगणयन्ति, किं तु महत्कार्यमेव कर्तुं व्यवस्यन्तीति तात्पर्यम् । पुरा किल
देवानाममृतप्रदानसमये विष्णुचक्रेण च्छिन्नशीर्षत्वाच्छिरोमात्रावशिष्टगात्रोऽभूत्सैहिकेय
इति पौराणिकी कथात्रानुसंधेया । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २६ ॥

अथ महतां माहात्म्यमाह—

वहति भुवनश्रेणिं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स च धार्यते ।

तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा-
दहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ॥ २७ ॥

शेषः आदिशेषः फणाः सहस्रसंख्याकाः स्फटाः फलकानीव तेषु स्थितां भुवनश्रेणिं
पातालादिचतुर्दशविष्टपपङ्क्तिं वहति धारयति । 'स्फटायां तु फणा द्वयोः' इत्यमरः ।
स च शेषः कमठपतिना आदिकूर्मेण । 'पतिः समास एव' इति विसंज्ञायां 'आडो
नाऽस्त्रियाम्' इत्याडो नाभावः । पृष्ठस्य मध्ये मध्येपृष्ठम् । निजखर्परोपरिप्रदेश
इत्यर्थः । 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः । तत्संनियोदेकान्तत्वं च मध्यशब्दस्य ।
सदा निरन्तरं धार्यते उह्यते । तमपि । कमठपतिमपि पयोधिः प्रलयार्णवोऽनादरा-
दनायासात्क्रोडाधीनमादिवराहायतं कुरुते । प्रलयकाले पातालगतभूमण्डलस्यादिव-
राहावतारेण विष्णुना निजदंष्ट्रया समुद्धृतत्वादिति भावः । अतो महतां मानशौर्यशा-
लिनां महानुभावानां संबन्धिन्यश्चरित्रविभूतयो माहात्म्यसंपदो निःसीमानो निर्मर्यादाः ।
अवाङ्मनसगोचरा इति यावत् । अहहेत्याश्चर्ये । 'अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः । अत्र
पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरगुणोत्कर्षावहत्वान्मालादीपकाख्योऽलंकारः । तदुक्तं विद्यानाथेन—
'यदा तु पूर्वपूर्वस्य संभवेदुत्तरोत्तरम् । प्रत्युत्कर्षावहत्वं तन्मालादीपकमुच्यते ॥'
इति । हरिणी वृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ २७ ॥

मानशौर्यशालिन एवोक्तविधमहत्त्वम्, नतु तद्विहीनस्येति मैनाकं दृष्टान्ती-
कृत्याह—

वरं प्राणोच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश-

प्रहारैरुद्रच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः ।

तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे

न चासौ संपातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥ २८ ॥

तुषाराद्रेः सूनोर्हिमवत्पुत्रस्य मैनाकस्य उद्गच्छद्भुजृम्भमाणो बहुलो भूयिष्ठश्च यो दहनः शिलासंघर्षजनितवह्निस्तस्योद्गारैर्निःसरणैर्गुरुभिर्दुःसहैः समदेन सदर्पेण मधवता देवेन्द्रेण मुक्तस्य प्रयुक्तस्य कुलिशस्य वज्रायुधस्य प्रहारैर्विदारणैः प्राणोच्छेदः । मरणम् । वरं मनाक्प्रियम् । 'देवादृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रियं' इत्यमरः । कुतः ? । अहहेति खेदातिशयोक्तनार्थानुकरणशब्दः । पितरि हिमवति क्लेशेन वज्रप्रहारजनितदुःखेन विवशे विह्वले सति । असावद्याप्युपलभ्यमानः । पयसां पत्युः समुद्रस्य । अत्रासमानत्वेन विसंज्ञाभावात् 'स्थल्यात्परस्य' इति कृतयणादेशात्पतिशब्दात्परस्य बसोकारस्योकारादेशः । पयसि सलिले संपातः प्रवेशः । निजप्राणसंरक्षणार्थं निमज्ज्यावस्थानमित्यर्थः । उचितो न्याय्यो न भवति हि । अस्यैवेति शेषः । यतो मानशौर्यसंपन्नस्य पुंसः स्वप्राणमात्रपरित्राणतत्परतया क्वचिन्निलीयावस्थानमेवात्यन्तायशस्करम्, किमुत पितरि क्लेशविवशे । अतः प्राणपरित्यागेनापि मानशौर्ये एव प्रतिष्ठापनीये, अन्यथा महानपवादः स्यादिति भावः । अत्रोद्गारशब्दस्य गौणत्वान्न ग्राम्यदोषः, प्रत्युत सौन्दर्यातिशयमेवापादयति । तदुक्तं दण्ड्याचार्यैः—'निष्ठूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां व्यगाहते ॥' इति । पुरा किल भूमण्डलोपद्रवकारिणां सपक्षाणां पर्वतानां कोपवशात्पक्षच्छेदोद्यते शक्रेभ्यविह्वलो मैनाकः समुद्रजले निमज्ज्यातिष्ठदिति पौराणिकी कथात्रानुसंधेया । शिखरिणी वृत्तम् ॥ २८ ॥

अथ मानिनां परनिकारासहनं सदृष्टान्तमाह—

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ।

तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते ॥ २९ ॥

यद्यस्मात्कारणादचेतनश्चेतनरहितः, निर्जीवोऽपीति यावत् । पाषाणत्वादिति भावः । इनकान्तः सूर्यकान्तमणिः सवितुः सूर्यस्य पादैः रश्मिभिः अङ्गिभिश्च स्पृष्टः संवलितः, ताडितश्चेति ध्वन्यते । प्रज्वलति जाज्वल्यमानो भवति, कोपोद्विक्तश्चेति गम्यते । तत्तस्मात्कारणात् । तेजस्वी तेजःशाली मानशौर्यसंपन्नः पुरुषः सचेतन इति शेषः । परैः शत्रुभिः कृतनिकृतिं विहितापकारं कथं सहते क्षमते । न कथंचिदपीत्यर्थः । मैनाकस्तु नैवमिति भावः । 'पादा रश्म्यङ्गितुर्याशाः' इत्यमरः । आर्यावृत्तभेदः ॥ २९ ॥

विक्रान्तत्वे वयोऽपि न हेतुरिति निगमयति—

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ।

प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसां हेतुः ॥ ३० ॥

शिशुर्बालोऽपि । विक्रान्तत्वायोग्यवयस्थोऽपीत्यर्थः । सिंहो मदमलिना दानपयःपङ्क्तिः कपोला भित्तय इव येषां तेषु गजेषु मत्तमातङ्गेषु निपतति । कुम्भस्थलविदारणार्थमिति भावः । इयं बाल्येऽपि विक्रान्तता सत्त्ववतां बलाढ्यानां प्रकृतिः स्वभावः । कुतः ? । वयो बाल्यादि तेजसां प्रतापशालिनामिति तेजस्तद्वतोरभेदाध्यवसायोऽत्यन्ततेजस्वित्वप्रकाशनार्थको हेतुः कारणं न भवति खलु । 'तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते' इति न्यायादिति भावः । 'वयः पक्षिणि बाल्यादौ' इत्यमरः । अयमप्यन्य आर्यावृत्तभेदः ॥

इति नीतिशतकव्याख्याने मानशौर्यपद्धतिवर्णनं नाम तृतीयं दशकम् ।

श्रीरामार्पणमस्तु ॥

(अथार्थपद्धतिः)

मानशौर्ययोरप्यर्थमूलत्वादेतन्निरूपणानन्तरमर्थपद्धतिं निरूपयति । तत्र प्रथम-
मर्थैकतत्पराणां मतमभिसंधायाह—

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तत्राप्यधो गच्छतां

शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना ।

शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं

येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥ ३१ ॥

जातिर्ब्राह्मणत्वादिः रसातलं नामाधोलोकं यातु गच्छतु । भ्रश्यत्वित्यर्थः । गुणगणो
धैर्यौदार्यगाम्भीर्यादिगुणसमूहस्तत्रापि रसातलापेक्षयाप्यधः पाताललोकं गच्छतां
प्राप्नुयात् । शीलं सत्स्वभावः शैलतटात्पततु । विशीर्णं भवत्वित्यर्थः । अभिजनो
वंशः । ‘अभिजनान्वयौ । वंशः’ इत्यमरः । वह्निना संदह्यतां भस्मीक्रियताम् । वैरिणि
संक्षोभकारित्वाच्छत्रुभूते शौर्ये । शूरत्वमूर्ध्नीत्यर्थः । आशु शीघ्रं वज्रमशनिर्निपततु ।
आकस्मिकाशनिपातेन तदपि विध्वस्तं भवत्वित्यर्थः । एवं पूर्वोक्तजातिकुलोचिताभिमान-
शौर्यादिनाशेऽप्यस्माकं न किञ्चिदपि छिन्नमिति भावः । तथापि किं युष्मदभिलषित-
मित्यत आहुः—नोऽस्माकमर्थः केवलं वित्तमेवास्तु संभवतु । अयमेवास्माकं परमार्थः
इति भावः । ननुत्कर्षावहत्वेन प्रसिद्धानामुक्तगुणानां विध्वंसमङ्गीकृत्यैकेन वित्तेन किं
करिष्यथेति नाशङ्कनीयम् । यतस्तद्विना तेषामत्यन्ताकिञ्चित्करत्वमेवेत्याहुः । एकेन
केवलेन । ‘एके मुख्यान्यकेवलाः’ इत्यमरः । येनार्थेन विना । ‘पृथग्विना—’ इत्यादिना
विकल्पात्तृतीया । इमे पूर्वोक्ताः समस्ता अपि गुणा जातिकुलशीलाभिमानादयस्तृण-
लवप्रायास्तृणकल्पाः । तद्वन्निःसारा इत्यर्थः । अतो गुणमहत्ताया अप्येतन्मूलकत्वादय-
मेव संपादनीय इति भावः । ‘धनमर्जय काकुत्स्थ ! धनमूलमिदं जगत् । अन्तरं
नामिजानामि निर्धनस्य मृतस्य च ॥’ इति लक्ष्मणवाक्यमेव सिद्धान्तिकुर्मः, ‘अर्था-
नामर्जने दुःखमर्जितानां च पालने । पालितानां व्यये दुःखं विगर्थं दुःखभाजनम् ॥’
इत्यादि मनुस्मरणं त्वशक्तविषयं मन्यामह इति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३१ ॥

ननु तथापि गुणाभावेऽपि केवलवित्तस्याकिञ्चित्करत्वमेवेत्याशङ्क्य तस्यैवाशे-
षगुणावहत्वं तावदाह—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः

स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः ।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः

सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥ ३२ ॥

यस्य नरस्य वित्तमस्ति संभवति स नरः कुले जातः कुलीनो महाकुलप्रसूतः ।
‘कुलात्सुखः’ इति खप्रत्ययः । स एव पण्डितो विद्वान् । स एव श्रुतवाञ्छास्त्रज्ञः । यद्वा
श्रुतं श्रवणम् । ‘नपुंसके भावे क्तः’ । तदस्यास्तीति श्रुतवान् । धर्मशास्त्राद्याकर्णनचतु-
रोऽपीत्यर्थः । स एव गुणज्ञो गुणग्राही । अत्र ‘आतोऽनुपसर्गे कः’ इत्यादि व्याख्यातं

प्राक् । स एव वक्ता वाग्मी । स एव दर्शनीयः सुन्दरश्च । उक्तगुणराहित्येऽपीति भावः । नन्वेवं चेत्पुरुषस्यैकेन वित्तेनेदृगुणसाकल्यसंपन्नत्वं कुत इत्याशङ्कयामाह—सर्वे गुणाः पूर्वोक्तकुलीनत्वादयः काञ्चनं वित्तमाश्रयन्ति । अतोऽनेनैव सकलगुणसंपत्ति-संभवे किमन्यैः प्रत्येकप्रयासाद्यैरिति भावः । अत्र वित्तस्यैतावद्गुणसंपादकत्वासंबन्धेऽपि तत्संबन्धाभिधानादसंबन्धे संबन्धरूपतिशयोक्तिः । वृत्तमुपजातिः ॥ ३२ ॥

अथ द्वाभ्यामर्थस्य विनाशप्रकारं वर्णयन् आदौ लोकस्थितिमाह—

दौर्मन्त्र्यान्नपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रया-
मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥ ३३ ॥

नृपती राजा दौर्मन्त्र्यात् दुष्टः देशकालानानुगुण्येन प्रयुक्तत्वादनर्थापादकः । मन्त्रः षाड्गुण्यचिन्तनं यस्य स तथोक्तस्तस्य भावो दौर्मन्त्र्यम् । ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । तस्माद्वितोर्नश्यति विनष्टो भवति । मन्त्रवैगुण्ये परेषामवकाशसंभवेन राज्याद्यपहरणादिति भावः । यद्वा दुष्टमन्त्रिणः अमात्या यस्य तस्य भावस्तस्मान्नश्यति । अदण्ड्य-दण्डनाद्युपदेशवशालक्ष्म्यादिविहीनो भवतीत्यर्थः । तदुक्तम् ‘सन्मन्त्रिणा वर्धति भूपतीनां लक्ष्मीर्महीधर्मयशःसमूहः । दुर्मन्त्रिणा नश्यति तत्तथैव लक्ष्मीर्मही धर्मयशःसमूहः’ इति । यतियोगी सङ्गाज्जनसंसर्गान्नश्यति । सङ्गस्य कामक्रोधादिहेतुत्वात्तदुत्पत्तौ योगे भ्रष्टो भवतीत्यर्थः । तदुक्तं भगवता ‘सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते । क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥’ इति । सुतो लालनान्नश्यति गुणहीनो भवतीत्यर्थः । तदुक्तम् ‘लालनाद्बहवो दोषास्ताडनाद्बहवो गुणाः । तस्मात्पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्न तु लालयेत्’ इति । विप्रो ब्राह्मणः अनध्ययनाद्वेदशास्त्राध्ययनाभावाच्चश्यति अपूज्यो भवति । तदुक्तम् ‘वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो विप्रः सर्वत्र पूज्यते । अनधीतश्रुतिर्विप्रः सभामध्ये न शोभते’ इति । कुलं वंशः कुतनयात्कुपुत्रान्नश्यति दुष्टं भवति । तदुक्तम् ‘कोटरान्तर्भवो वह्निस्तरुमेकं दहिष्यति । कुपुत्रस्तु कुले जातः स्वकुलं नाशयेत्परम्’ इति । शीलं सत्स्वभावः खलोपासनात् दुर्जनसहवासान्नश्यति । तेषां महानर्थहेतुत्वादिति भावः । तदुक्तम् । ‘छादयित्वात्मभावं हि चरन्ति शठबुद्धयः । प्रहरन्ति च रन्ध्रेषु सोऽनर्थः सुमहान्भवेत्’ इति । ह्रीर्जुगुप्सितकर्माचरणान्निवृत्तिलक्षणा लज्जा मद्यान्मद्यपानान्नश्यति । तदुक्तम् ‘अयुक्तं बहु भाषन्ते यत्रकुत्रापि शेरते । नम्रा विक्षिप्य गात्राणि ते जाल्मा इव मद्यपाः’ इति । कृषिः सस्यं अनवेक्षणान्नित्यमपरामर्शान्नश्यति । तदुक्तम् ‘कृषिं च पत्नीमनवेक्ष्य यः पुमानन्यानि कार्याणि समाचरेच्च । ते त्वन्वहं मानसमाकुले द्वे तथेति बाधानिचयं च यात’ इति । स्नेहः पुत्रदारादिभूतपन्नमोहः प्रवासाश्रयादेशान्तरसंचारसमाश्रयणान्नश्यति । तदुक्तम् ‘सुताङ्गनाबन्धुषु सोदरेषु नृपेषु भृत्येषु च जातमोहः । प्रवासमात्रेण विनश्यतेऽखिलं चिरप्रवासेन हरत्यशेषम्’ इति । मित्रस्य भावो मैत्री मैत्र्यं सौहार्दमित्यर्थः । मैत्र्यशब्दाद्ब्राह्मणादिष्यजन्तात् ‘षिट्प्रादिभ्यश्चे’ति

ढीप्रप्रत्यये 'यस्येति चे'त्यलोपे च मैत्रीति सिद्धम् । अत एवाह वामनः 'व्यजः पितृ-
रणादिकारो बहुलमि'ति । स्त्रीनपुंसकयोर्भावक्रिययोः व्यञ् क्वचिच्च वुञ् । 'औचित्यमौ-
चित्ती मैत्र्यं मैत्री वुञ्प्रागुदाहृत' इत्यमरश्च । अप्रणयादननुरागान्नश्यति तदुक्तम् ।
'मृद्धट इव सुखमेद्यो दुःसंधानश्च दुर्जनो भवति । सुजनस्तु कनकघट इव दुर्भेद्यः
सौख्यसंघेय' इति । समृद्धिरर्थसंपत्तिरनयादुर्नयान्नश्यति । तदुक्तम् 'रक्षायैनमतिक्षि-
पत्यधिकरं शिक्षागुणैः क्षुभ्यते विद्वेष्टि स्वजनं त्यजत्यवनर्ति मृद्नाति मार्गस्थितान् ।
भूतिं नेच्छति यच्छति प्रतिभयं दुर्वर्त्मनागच्छति क्रूराग्रं विनयाङ्कुशं न सहते भूपा-
लमत्तद्विप' इति । धनं तु त्यागादर्थिसात्करणात् द्यूतादिति पाठे द्यूतादक्षक्रीडायाः
प्रमादादनवधानताया वा नश्यति । 'प्रमादोऽनवधानते'त्यमरः । तथा च श्रुतिः
'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः । तत्र गावः कितव तत्र
जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्थ' इति । स्मृतिश्च 'धनं जय्यं शिष्टगर्हात्सदाचार-
विसर्जनात् । श्रुतिनिष्पीडनाच्चैव द्यूतासक्तधियां नृणाम्' इति । प्रमादान्नाशस्त्वनु-
भवसिद्ध एव । दानान्नाशं समनन्तरश्लोक एव वक्ष्यति । वृत्तमुक्तम् ॥ ३३ ॥

अथ वित्तस्योत्तमादिभेदेन गतित्रैविध्यमाह—

दानं भोगो नाशस्तिस्त्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ ३४ ॥

दानं सत्पात्रे त्यागः, भोगः स्रक्चन्दनादिद्वारानुभवः, नाशो दानधर्माद्यभावे
चोरादिना विलयश्च । तदुक्तम्—'चत्वारो धनदायादा धर्माग्निनृपतस्कराः । तेषां
ज्येष्ठावमानेन त्रयः कुप्यन्ति सोदराः ॥' इति । एवमुत्तममध्यमाधमभेदेन वित्तस्य
तिस्रो गतयो गमनोपाया भवन्ति । तत्र यः पुमान्न ददात्यर्थिभ्यो न प्रयच्छति ।
वित्तमिति शेषः । अथवा न भुङ्क्ते नानुभवति, तस्य दानभोगाभ्यां वित्तव्ययमकुर्वतः
पुरुषस्य संबन्धिनः । वित्तस्येति शेषः । तृतीया गतिर्नाशावस्था भवति । सा त्वत्यन्त-
कष्टेत्यर्थः । अयमत्र निष्कृष्टोऽर्थः—वित्तस्य तावदानेन गतिरुत्तमः पक्षः आत्मभोगेन
मध्यमः चोरादिनाशगतिरधमेति । अतो दानशौण्डेनैव भवितव्यं धनाब्ध्येनेति भावः ।
आर्याभेदः ॥ ३४ ॥

अथ दानशीलस्य वित्तव्ययजनिततनुत्वमपि शोभावहमेवेत्याह—

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितो
मदक्षीणो नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना ।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तन्निम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नराः ॥ ३५ ॥

शाणः शस्त्रोत्तेजनसाधनोपलविशेषस्तेनोल्लीढः संघृष्टो मणिश्च । हेतिदलितः शस्त्र-
क्षतः समरविजयी रणशूरश्च । 'जिहक्षि—'इत्यादिना इनिः । 'हेतिः शस्त्रे तु नृस्त्रियोः'
इति केशवः । मदेन दानवर्षेण क्षीणः कृशो नागश्च 'ग्रहाभ्राहिगजा नागाः' इति

वैजयन्ती । शरदि शरत्काले आश्यानानीषच्छुष्काणि पुलिनानि सैकतानि यस्याः सा सरिचदी च । 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति निष्ठानत्वम् । कलाशेषः षोडशांशमात्रावशिष्टश्चन्द्रश्च । 'कला तु षोडशो भागः' इत्यमरः । 'प्रथमां पिवते वह्निः' इत्यादीतिहासक्रमेणैतरकलानामभ्यादिदेवैर्गिलितत्वादिति भावः । सुरतेन रतिरणेन मृदिता विह्वलीकृता बालवनिता मुग्धाङ्गना च । 'जारवनिता' इति पाठे वेद्या चोच्यते । तथा अर्थिषु विषये गलितविभवा व्यपगतार्थसंपदः । निःशेषमर्थिसात्कृतधना इत्यर्थः । 'अर्थरैविभवा अपि' इत्यमरः । नरा दातृजनाश्च तन्निम्ना तनुत्वेनैव । पृथ्वादित्वादिमनिच् । शोभन्ते प्रकाशन्ते । एवंभूततनुत्वस्यैव तेषां शोभाहेतुत्वादिति भावः । अत्राप्रस्तुतानां मण्यादीनां प्रस्तुतानां नराणां च सामस्त्यार्थरूपतुल्यधर्मेणौपम्यस्य गम्यमानत्वादीपकालंकारः—'प्रस्तुतानां तथान्येषां सामस्त्ये तुल्यधर्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र दीपकं तन्निगद्यते ॥' इति लक्षणात् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३५ ॥

अथ पुंसां धनाभावतत्सद्भावसमयावस्थामाह—

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये

स पश्चात्संपूर्णः कलयति धरित्रीं तृणसमाम् ।

अतश्चानेकान्ता गुरुलघुतयार्थेषु धनिना-

मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ॥ ३६ ॥

कश्चिद्धनिकः पुमान्परिक्षीणो दैवाद्दरिद्रः सन् यवानां शितशूकाख्यधान्यानाम् । प्रसृतये स्पृहयति । प्रसृतिमात्रयवान्गुरुतयाकाङ्क्षत इत्यर्थः । 'स्पृहेरीप्सितः' इति संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । 'शितशूक्यवौ समौ' इत्यमरः । स परिक्षीणः पुमान्पश्चादनन्तरम् । कालान्तर इत्यर्थः । संपूर्णो दैववशाद्धनसंपन्नः सन् धरित्रीं भुवं तृणसमां तृणकल्पाम् । तद्वल्लघ्वीमित्यर्थः । कलयति मनुते । धनमदेन तथालोकयतीत्यर्थः । कवीनां कलिः कामधेनुः । अतश्चात एव हेतोः । अर्थेषु यवधरित्र्यादिषु वस्तुषु विषये गुरुलघुतया महत्त्वालपत्वभावेनानेकान्ताप्रतिनियता । सर्वथापि गुरुणि गुरुत्वमेव, लघुनि लघुत्वमेवेति नियमाभाववतीत्यर्थः । धनिनां संबन्धिन्यवस्था व्यापारः वस्तूनि यवधरित्र्याद्यल्पमहत्तरवस्तूनि प्रथयति च । धनाभावदशायां नीचमपि वस्तु गुरुकरोतीत्यर्थः । तथा संकोचयति च । तत्सद्भावदशायां महदपि वस्तु नीचैः करोतीत्यर्थः । निर्धनधनिकयोरित्थंभूतावस्था प्रत्यक्षसिद्धा । अतो विवेकिना नैवं विपर्यस्तबुद्धिना भवितव्यमिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३६ ॥

अथ राजानं संबोधयंस्तस्यार्थसाधनोपायमतिदिशति—

राजन् ! दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां

तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ।

तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपुष्यमाणे

नानाफलं फलति कल्पलतेव भूमिः ॥ ३७ ॥

हे राजन् ! त्वमिति शेषः । अन्यथा 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः स्यात् । एनामेताम् । त्वद्धस्तगतामित्यर्थः । अत्रान्वादेशाभावादेनादेशश्चिन्त्यः । क्षितिर्धेनुरिवेत्युपमितसमासः । न तु क्षितिरेव धेनुरिति रूपकम् । वत्समिवेति स्पष्टोपमालिङ्गात् । तां क्षितिर्धेनुं दुधुक्षसि यदि दोग्धुमिच्छसि चेत् । अर्थमिति शेषः । दुहेः सन्नन्तात्सिप् । दुह्यादेर्द्विकर्मकत्वनियमात् । तर्हि तेन दुधुक्षाहेतुना अद्येदानीममुमुपलभ्यमानं लोकं जनं वत्समिव तर्णकमिव । 'वत्सो ना कुलजे वर्षे तर्णके तनयादिके' इति वैजयन्ती । पुषाण पोषय । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । वत्सनाशे क्षीरस्येव लोकनाशेऽर्थस्यासंभावादिति भावः । पोषणफलमाह—तस्मिन्लोके चानिशं सर्वदा सम्यगसंबाधं परिपुष्यमाणे परिपाल्यमाने सति भूमिः क्षितिः कल्पलतेव कल्पवृक्षशाखेव । 'समे शाखालते' इत्यमरः । यद्वा कल्पयत्यमीप्सितानीति कल्पा सा च सालता च । 'स्त्रियाः पुंवत्-' इत्यादिना पुंवद्भावः । सैव कल्पवल्लीव नानाफलं धनधान्यादिबहुरूपफलं फलति निष्पादयति । 'फल निष्पत्तौ' इति धातोर्लट् । यतो लोकपरिपालनव्यतिरेकेण न तेऽर्थः संभविष्यति । तद्वारैव भूमेरखिलफलदोग्धत्वात् । तस्मादशेषार्थलाभार्थं तत्परिपोषणमावश्यकमिति भावः । अत्र पूर्ववाक्यस्थोपमया निर्व्यूढोत्तरवाक्यस्थोपमेयनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ३७ ॥

यतो राजानं संबोधितवानपि तन्नीतिः कीदृशीत्याशङ्कायां तस्या बहुविधत्वमित्याह—

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंसा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ३८ ॥

सत्या यथार्थभाषिणी अनृता असत्यवादिनी च । तथा परुषा कठोरभाषिणी, प्रियवादिनी मधुरालापिनी च । तथा हिंसा घातुका । 'शरारुर्घातुको हिंसः' इत्यमरः । 'नमिकम्पि-' इत्यादिना रप्रत्ययः । दयालुरपि कारुणिका च । 'स्यादयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । 'स्पृहिगृहि-' इत्यादिनालुच्प्रत्ययः । तथा अर्थपरा धनलुब्धा, वदान्या दानशौण्डा च । कुत्रचिद्विषय इति सर्वत्राप्यध्याहार्यम् । 'स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे' इत्यमरः । तथा नित्यं व्ययो धनत्यागो यस्याः सा तथोक्ता, प्रचुरनित्यधनागमा प्रचुरं प्रभूतं यथा तथा नित्यं धनस्यागमः प्राप्त्यर्थस्याः सा तथोक्ता च । अतो वाराङ्गनेव वेश्येव । 'वारस्त्री गणिका वेश्या' इत्यमरः । नृपनीती राजवृत्तिरनेकरूपा बहुप्रकारा । न त्वैकान्तिकीत्यर्थः । वाराङ्गनायामपि विशेषणानि समानि । अत्र सत्यानृतेत्यादिपदध्रुवणमात्रेण झटिति विरोधः स्फुरति । तस्य स्वाभावेनाभासीकरणादलंकारः सन्वाराङ्गनेवेत्युपमयाङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते । वृत्तं तु पूर्ववत् ॥ ३८ ॥

सोऽपि गुणाढ्य एव समाश्रयणीयः, न तु निर्गुण इति राजानमेव संबोधयति—

आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां

दानं भोगो मित्रसंरक्षणं च ।

येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः

कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ॥ ३९ ॥

आज्ञा मर्यादापरिपालनात्मकशासनम्, कीर्तिः दानक्षात्रोद्भवा सत्समाख्या, ब्राह्मणानां पालनं निरुपद्रवं ब्राह्मणसंतर्पणम्, दानं सत्पात्रे त्यागः, भोगः स्वचन्दनादिजनितसुखानुभवः, मित्रसंरक्षणं सुहृत्समुद्धरणं चेत्येते षड्गुणा येषां राज्ञां न प्रवृत्ता न प्रवर्तन्ते । कर्तरि क्तः, पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवस्तस्य संबुद्धिर्हे पार्थिव राजन् । ‘तस्येश्वरः’, ‘सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ’ इत्यणप्रत्ययः । तेषामुपाश्रयेण समाश्रयेण कोऽर्थः को लाभः? न कोऽपीत्यर्थः । तस्मादुक्तगुणसंपन्न एव राजा समाश्रयणीयः, न तु कुक्षिभरिरिति भावः । शालिनी वृत्तम्—‘शालिन्युक्ता स्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः’ इति लक्षणात् ॥ ३९ ॥

तथापि कार्पण्यं मा कुरु लाभालाभयोर्देवायत्त(मूलक)त्वादित्याशयेन लोकस्य तत्त्वं संबोधयन्निगमयति—

यद्वात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं

तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ च नातोऽधिकम् ।

तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः

कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥ ४० ॥

धात्रा ब्रह्मणा निजभालपट्टे स्वकीयललाटफलके स्तोकमल्पं महद्बहुलं वा यद्धनं वित्तं लिखितं लेखनेन निर्दिष्टम् । ‘आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च । पञ्चैतानि विलिख्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः’ इति स्मरणादिति भावः । तत्तावद्ब्रह्मलिखितं धनं मरुस्थले ऊपरदेशेऽपि, किमुतान्यत्रेति भावः । नितरां निश्चितं प्राप्नोति । न तत्र संदेह इत्यर्थः । ‘ऊषवानूषरो द्वावप्यन्यलिङ्गौ स्थलं स्थली । समानौ मरुधन्वाना’-वित्यमरः । मेरौ च कनकाचलेऽप्यतो ब्रह्मलिखितादधिकं धनं न प्राप्नोति, तत्तस्मात्कारणाद्धीरः स्थिरचित्तो भव । वित्तवत्सु धनाढ्येषु विषये कृपणां वृत्तिं दीनव्यापारं वृथा व्यर्थं मा कृथाः मा कार्षीः । तेन कार्पण्यजनितनिन्दामात्राश्रयत्वमेव न त्वधिक-धनलाभ इति भावः । कृजो लुङि थास् । ‘न माङ्योग’ इत्यद्भुतप्रतिषेधः । तत्र दृष्टान्तमाह—कूपेऽल्पजलाशयेऽपि पयोनिधौ बहुजलाधारे समुद्रेऽपि घटः कुम्भस्तुल्य-मात्मपरिमितं जलं गृह्णाति स्वीकुरुते । ‘कुम्भः परिमितमम्भः’ इति वचनात् । प्रत्यक्ष-सिद्धत्वाच्च पर्याप्तमेवाम्भो घत्ते, न तु कूपेऽल्पं पयोनिधावधिकमित्यर्थः । पश्येति कृपणसंबोधनम् । वाक्यार्थः कर्म । अत एतद्दृष्टान्तेन समाहितचित्तेन भवितव्यम्, न तु कार्पण्यपर्याकुलेनेति तात्पर्यम् ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४० ॥

इति नीतिशतकव्याख्यानेऽर्थपद्धतिवर्णनं नाम चतुर्थं दशकम् ।

श्रीरामार्पणमस्तु ॥

(अथ दुर्जनपद्धतिः)

अथार्थादिसंपन्नोऽपि दुर्जनोऽनुपादेय एवेत्याशयेनार्थपद्धतिनिरूपणानन्तरं दुर्जन-
पद्धतिं निरूपयति । तत्रादौ तेषामवगुणगणं गणयति—

अकरुणत्वमकारणविग्रहः

परधने परयोषिति च स्पृहा ।

सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता

प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम् ॥ ४१ ॥

परदुःखप्रहाणेच्छा करुणा तद्राहित्यमकरुणत्वं दयाहीनत्वं च, अकारणविग्रहो
निष्कारणकलहश्च । ‘अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ’ इत्यमरः । परधने
परद्रव्ये परयोषिति परदारेषु स्पृहा च । एकत्रापहरणेच्छा, अन्यत्र संभोगासि-
लाषश्च । सुजनेषु साधुषु बन्धुजनेषु च असहिष्णुता असहनशीलत्वं च । इतीदं सर्वं ।
‘नपुंसकमनपुंसकेन—’इत्यादिना नपुंसकैकशेषः । दुरात्मनां दुर्जनानां प्रकृतिसिद्धं
स्वभावसिद्धं हि, अतस्ते नोपादेया इति भावः । ‘प्रकृतिः पञ्चभूतेषु प्रधाने
मूलकारणे । स्वभावे’ इति विश्वः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम्—‘द्रुतविलम्बितमाह नभौ
भरौ’ इति लक्षणात् ॥ ४१ ॥

आस्तां तावदुर्जनमात्रस्य परित्याज्यत्वकथा, यतो अशेषावगुणावमार्जकविद्या-
संपन्नोऽपि दुर्जनः परित्याज्य एवेति सदृष्टान्तमाह—

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्यालंकृतोऽपि सन् ।

मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥ ४२ ॥

दुर्जनो विद्याया वेदवेदाङ्गाद्यात्मिकयालंकृतो भूषितः सन्नपि, सकलविद्यापारीणः
सन्नपीत्यर्थः । परिहर्तव्यस्त्याज्यः । कुत इत्यत आह—सर्प आशीविषः मणिना
फणाफलकस्थमाणिक्येन भूषितोऽलंकृतः सन्नपि । असौ सर्पो न भयंकरः किम्,
भयंकर एवेत्यर्थः । अतो मणिभूषितसर्पप्रायो विद्यावानपि दुर्जनो दूरतस्त्याज्य एव ।
‘दुर्जनं दूरतस्त्यजेत्’ इति न्यायादिति भावः । ‘मेवर्तिभयेषु कृजः’ इति कृज् ।
स्वशि ‘अर्द्धिषद्—’इत्यादिना मुमागमः । अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावेन धर्मधर्मिणो-
र्वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशाद्दृष्टान्तालंकारः । ‘बिम्बानुबिम्बन्यायेन निर्देशो धर्मधर्मिणोः ।
दृष्टान्तालंकृतिर्ज्ञेया भिन्नवाक्यार्थसंश्रया ॥’ इति विद्याचक्रवर्तिलक्षणात् ।
वृत्तमानुष्टुभम् ॥ ४२ ॥

अथास्य सर्वदूषकत्वमाह—

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतशुचौ दम्भः शुचौ कैतवं

शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि ।

तेजस्विन्यवलितता मुखरता वक्तव्यशक्तिः स्थिरे

तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ॥ ४३ ॥

हीमति लज्जावति पुंसि जाज्वं मान्द्यम् । 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति घ्यञ्प्रत्ययः । गण्यते संख्यायते, दुर्जनैरिति शेषः । न तु जुगुप्सितकर्माचरण-पराङ्मुखत्वम् । त्रतैस्तपश्चान्द्रायणादिनियमैः शुचौ शुद्धे दम्भो धर्मध्वजित्वं गण्यते, न त्वनुष्ठातृत्वम् । शुचौ स्वभावादेव बाह्यान्तरशुद्धे कैतवं कपटं गण्यते, न तु पारमार्थिकत्वम् । शूरे शौर्यशालिनि निर्घृणता दयाशून्यत्वं गण्यते, न तु विक्रान्त-त्वम् । मुनौ मननशीले विमतिता बुद्धिदैर्न्यं गण्यते, न त्वात्मैक्यानुसंधानतत्परत्वम् । प्रियालापिनि मधुरवादिनि दैन्यं गण्यते, न तु श्रवणानन्दकरत्वम् । तेजःप्रागल्भ्यं प्रभाविशेषो वा तद्वति अवलिप्तता गर्वप्रस्तत्वं गण्यते, न तु स्वभावः । 'अवलेपस्तु गर्वे स्याल्लेपने दूषणेऽपि च' इति विश्वः । वक्तव्येष्वर्थेषु शक्तिः प्रतिभापरपर्यायः सामर्थ्यविशेषः तथा स्थिरे । मुखमस्यास्तीति मुखरो दुर्मुखः । 'दुर्मुखे मुखराबद्ध-मुखौ' इत्यमरः । 'खमुखकुञ्जेभ्यः-' इति रप्रत्ययः । तस्य भावस्तत्ता । असंबद्धप्र-लापित्वमित्यर्थः । गण्यते, न तु वाग्मित्वम् । तत्तस्मात्कारणाद्गुणिनां गुणसंपन्नानां स को नाम गुणो भवेत्, यो गुणो दुर्जनैर्नाङ्कितो न दूषितः । दुर्जनादूषितो गुणः सुगुणिनां न कोऽप्यस्तीत्यर्थः । 'यो दुर्जनानां मतः' इति पाठे यो गुणो दुर्जनानां मत इष्टः स्यात्, स को नाम भवेदिति संबन्धः । दुर्जनाभिमतः सुगुणिनां न कोऽपि गुणोऽस्तीत्यर्थः । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४३ ॥

अथ ग्राह्याग्राह्यविवेकार्थं गुणागुणप्रगालिकामाह—

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः

सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ।

सौजन्यं यदि किं जनेन महिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः

सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥ ४४ ॥

लोभो धनगार्ह्वमस्ति चेत्तर्हि अगुणेन दुर्गुणेन किम् । न किञ्चिदपीत्यर्थः । तस्यै-वात्यन्तनिन्दावहत्वादिति भावः । पिशुनता परोक्षे परदोषसूचकता अस्ति यदि तर्हि पातकैर्ब्रह्महत्यादिभिः किम् । तस्या एव कुम्भीपाकादिनिरयविनिपातहेतुत्वादिति भावः । सत्यं यथार्थभाषणं समदर्शित्वं वाऽस्ति चेत्तर्हि तपसा कृच्छ्रचान्द्रायणादिना किम् । तस्यैव सकलकल्मषहन्तृत्वादिति भावः । शुचि रागद्वेषाद्यनुपहतत्वेन शुद्धम् । 'शुचिः शुद्धेऽनुपहत' इति विश्वः । मनोऽस्ति यदि तर्हि तीर्थेन गङ्गादि पुण्यतीर्थस्नानेन किम् । यद्वा वाराणसीपुरुषोत्तमादिपुण्यक्षेत्रनिषेवणेन किम् । तस्यैवापवर्गसाध-कत्वात् । 'यस्त्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रियः स सर्ववित्सर्वगतोऽमृतो भवेत्' इति स्मरणादिति भावः । सौजन्यं सज्जनत्वमस्ति यदि तर्हि जनेन परिजनेन किम् । तस्यैव सकलकार्यनिर्वाहकत्वादिति भावः । महिमा महत्त्वमस्ति यदि तर्हि मण्डनैः कुण्डलहाराद्यलंकरणैः किम् । तस्यैव समग्रप्रसाधनहेतुभूतत्वादिति भावः । सद्विद्या अनवद्यविद्या अस्ति यदि तर्हि धनैः किम् । तस्या एव सकलभोगसंपादकत्वादिति भावः । अपयशोऽपकीर्तिरस्ति यदि तर्हि मृत्युना मरणेन किम् । तद्वत् एव जीवन्मृ-तत्वादिति भावः । एवं विचार्य सद्गुणार्जनतत्परैर्भवितव्यं निपुणेन । न तु दौर्जन्य-संपादकावगुणप्रवणेनेति तात्पर्यम् । वृत्तं तु पूर्ववत् ॥ ४४ ॥

कस्यचिदनुभविनो निजकष्टाभिवेदनवचनमभिनीयाह—

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी

सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ।

प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतिः सज्जनो

नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥ ४५ ॥

दिवसेऽहि धूसरो निस्तेजस्कः शशी चन्द्रश्च, गलितयौवना भ्रष्टनूतनवयस्का कामिनी कान्ता च, विगतवारिजं पुण्डरीकषण्डहीनं सरः कासारश्च, सु शोभना-
कृतिर्यस्य तस्य सुन्दरपुरुषस्य अनक्षरं शास्त्रविभ्रष्टं मुखं च, धनपरायणो धनलुब्धः प्रभू
राजा च, सततदुर्गतिर्निरन्तरदारिद्र्यवान्सज्जनश्च, नृपाङ्गणगतो राजगृहान्तर्वर्ती खलो
दुर्जनश्च । तस्य कार्यविघटकत्वादिति भावः । इत्येव सप्त मे मम मनसि शल्यानि
शूलानि । तथा दुःसहदुःखजनकत्वादिति भावः । इदमेवात्यन्तकष्टनिवेदनवचनमिति
तात्पर्यम् । अत्राप्रकृतानां चन्द्रादीनां प्रकृतस्य खलस्य च दुःखहेतुत्वसाम्येनौपम्यस्य
गम्यमानत्वादीपकालंकारः । गतमिदं पृथ्वीवृत्तम् ॥ ४५ ॥

अथ दुष्टराजलक्षणं सदृष्टान्तमाह—

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् ।

होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ॥ ४६ ॥

चण्डकोपानामुग्रकोपाणां भूभुजां राज्ञां कश्चिदपि पुमान् आत्मीयो नाम आत्मीय-
त्वेन प्रसिद्धो न भवति, किं तु सर्वोऽप्यनात्मीय एवेत्यर्थः । ननु यथाकथंचिद्धित-
माचरन्भविष्यत्येवात्मीय इत्याशङ्क्य दृष्टान्तमुखेन निराकुर्वन्नाह—जुह्वानं आज्यचरु-
पुरोडाशादिदानेनोपचरन्तमपि । ‘हु दानादनयोः’ इति धातोः कर्तरि शानच्
[चानश्, पा० ३।२।१२९] । होतारं यजमानं पावकोऽग्निः स्पृष्टः सन् दहति ।
संतापयतीत्यर्थः । अतोऽग्निदृष्टान्तेनेदृशो राजा न समाश्रयणीय इति भावः ।
वृत्तमानुष्टुभम् ॥ ४६ ॥

कथं न समाश्रयणीय इत्याशङ्क्य तत्सेवाया दुष्करत्वादित्याह—

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वाचको जल्पको वा

धृष्टः पार्श्वे भवति च वसन्दूरतोऽप्यप्रगल्भः ।

क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ ४७ ॥

मौनात्तूष्णींभावान्मूको निर्वचो भवति, सेवक इति शेषः । प्रवचनपटुः प्रगल्भ-
श्चातिवक्ता वाचको बहुभाषी, जल्पतीति जल्पकोऽसंबद्धप्रलापी वा भवति । उभय-
त्रापि ‘ण्वुलृचौ’ इति कर्तरि ण्वुलप्रत्ययः । णित्वाद्धृद्धिः । ‘जल्पकः’ इति पाठे जल्प-
तीति जल्पकः । पचाद्यच् । स्वार्थे कप्रत्ययः । अन्यथा ‘जल्पभिक्ष-’ इत्यादिना
कन्प्रत्यये जल्पाक इति स्यात् । यथाहामरसिंहः—‘स्याजल्पाकस्तु वाचालः’ इति ।
पार्श्वे समीपे च वसन्धृष्टो निर्भीको भवति । दूरतो विप्रकृष्टे देशे वसन्नप्रगल्भोऽ-
प्रौढो भवति । क्षान्त्या परिभवादिषूपपद्यमानेषु उत्पद्यमानेषु क्रोधप्रतिबन्धलक्षणया

क्षमयोपलक्षितश्चेद्भीरुर्भयशीलो भवति । 'सियः कुक्कुकनौ' इति कुप्रत्ययः । न सहते परिभवादिकं न क्षमते यदि, तर्हि प्रायशो बाहुल्येनाभिजातः सत्कुलीनो न भवति । अतः परमगहनोऽत्यन्तदुरवगाहः सेवाधर्मः परिचर्यात्मकं कर्म योगिनामपि काल-त्रयाभिज्ञानामपि, अतीन्द्रियवस्तुपरिज्ञानवतामित्यर्थः । किमुतान्येषामिति भावः । अगम्यो ज्ञातुमशक्यः । सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः । यतः परब्रह्मापि ध्यानादिना साक्षात्क्रियते, न त्वयमिति भावः । मौनादिव्यतिरिक्तधर्मस्य गगनारविन्दप्रायत्वात्तस्य ब्रह्मणोऽपि दुर्विज्ञेयतयात्यन्तदुष्करत्वमिति तात्पर्यम् । अत्र सेवाधर्मस्य योगिगम्यत्वेऽप्यगम्यत्वोक्तेः संबन्धेऽसंबन्धरूपातिशयोक्तिः । वृत्तं मन्दाक्रान्ता—'मन्दाक्रान्ता जलधिषडङ्गैर्भौ नतौ तादुरु चेत्' इति लक्षणात् ॥ ४७ ॥

किं बहुनास्य पुरस्तात् कस्यचित्स्थातुमप्यशक्यमित्याह—

उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य

प्रोद्गाढविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः ।

दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य

नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः ॥ ४८ ॥

उद्भासिताः प्रकाशिता अखिलाः खला येन तस्य, अधिकारप्रदानेन पुरस्कृता-शेषदुर्जनस्येत्यर्थः । तस्य सुजनविद्वेषित्वादिति भावः । तथा विशृङ्खलस्य, विधिनिषेधातीततया स्वच्छन्दगतेरित्यर्थः । तथा प्रोद्गाढमतितरां विस्मृता स्मरणाविषयीकृता निजा स्वकीया अधमकर्मवृत्तिः प्राक्तननीचकर्मव्यापारो येन तस्य । 'प्रागेव विस्तृत—' [विस्मृत (?)] इति पाठे प्राक्प्रथमम् । आचरणसमय एवेत्यर्थः । एतेन लज्जाहैन्यमुक्तम् । तथा दैवाददृष्टवशादिदानीमवाप्तो विभव ऐश्वर्य संपत्तिर्यस्य । गुणद्विषः सुगुणनिन्दकस्य । अस्य पूर्वोक्तस्य नीचस्य राज्ञो गोचरगतैर्विषयवासिभिः कैर्जनैः सुखमङ्गेशेनास्यते स्वीयते ? न कैरपीत्यर्थः । अतो न नीचाश्रयः कर्तव्य इति भावः । 'आस उपवेशने' । भावे लट् । अत्रोद्भासितेत्यादिपदार्थस्य विशेषणगत्या सुखस्थित्यभावपदार्थं प्रतिहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ४८ ॥

अथ दुर्जनसुजनमैत्रीप्रकारमाह—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण

लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।

दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना

छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥ ४९ ॥

खलानां दुर्जनानां सज्जनानां च मैत्री । कर्त्री मैत्री व्याख्याता । दिनस्य अह्नः पूर्वार्धपरार्धभ्यां पूर्वाह्णापरारह्णभेदेन भिन्ना पृथग्विधा छाया अनातप इव । 'छाया त्वनातपे कान्तौ प्रतिबिम्बार्कजाययोः' इति वैजयन्ती । आरम्भे प्रारम्भसमये गुर्वी गुरुः । वर्धिष्णुरित्यर्थः । 'वोतो गुणवचनात्' इति विकल्पान्धीष् । क्रमेण कालक्रमेण क्षयिणी क्षयिष्णुश्च । 'जिहृक्षि—' इत्यादिना इनिः तथा पुरा प्रारम्भे लघ्वी लघुः ।

ह्रस्वेत्यर्थः । पूर्ववन्धीष् । पश्चादनन्तरं वृद्धिमती वर्धिष्णुश्च भवतीति शेषः । अयमर्थः—दुर्जनमैत्री पूर्वाह्च्छायेव प्रारम्भगुर्वी क्रमेण क्षयिणी च भवति, सुजनमैत्री तावदपराह्च्छायेवादौ लघ्वी ततो वर्धिष्णुश्च भवतीति । अतोऽत्र यदुक्तं तत्कर्तव्यं कुशलेनेति भावः । अत्र यथासंख्यासंकीर्णोपमालंकारः । उपजातिवृत्तम् ॥ ४९ ॥

यदुक्तम् 'अकरुणत्वमकारणविग्रहः' इति तदेव प्रकटयन्नुपसंहरति—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम् ।

लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणमेव वैरिणो जगति ॥ ५० ॥

संतोषो दैववशाल्लब्धेन मनःसंतुष्टिः । तृणजलसंतोषैर्विहिता कल्पिता वृत्तिर्जीवनं येषां तेषाम् । न तु परोपतापोपजीविनामित्यर्थः । 'वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यमरः । मृगाणां हरिणादीनां मीनानां मत्स्यानां सज्जनानां साधूनां च लुब्धको व्याधः । धीवरो दाशः । जालिक इत्यर्थः । पिशुनः सूचकश्च । 'व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकश्च सः ।' 'कैवर्ते दाशधीवरौ' इति वैजयन्ती चामरः । एते जगति भुवि निष्कारणं निर्हेतुकमेव वैरिणो विद्वेषिणः, घातुका इत्यर्थः । तृणेन विहितवृत्तीनां मृगाणां लुब्धकाः निष्कारणवैरिण इत्यादि यथाक्रममन्वयात्क्रमापरनामा यथासंख्यालंकारः । तदुक्तं विद्यानाथेन—'उद्दिष्टानां पदार्थानां पूर्वं पश्चाद्यथाक्रमम् । अनुद्देशो भवेद्यत्र तद्यथा-संख्यमुच्यते ॥' इति । आर्या वृत्तम् ॥ ५० ॥

इति नीतिशतकव्याख्याने दुर्जनपद्धतिवर्णनं नाम पञ्चमं दशकम् ।

श्रीरामार्पणमस्तु ॥

(अथ सुजनपद्धतिः ।)

अथैतद्वैलक्षण्येन सुजनपद्धतिं निरूपयति, तत्रादावादरातिशयात्तान्त्रमस्करोति—

वाञ्छा सज्जनसंगतौ परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता

विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम् ।

भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खलै-

रेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो महद्भयो नमः ॥ ५१ ॥

सज्जनसंगतौ साधुसङ्गमे वाञ्छामिलाषः, न तु जिहासा । तस्य मोक्षसाधकत्वादिति भावः । तदुक्तं ज्ञानवासिष्ठे—'मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः । शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसंगमः ॥' इति । तथा चोक्तं श्रीमद्भागवते—'महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः' इति । स्वेनाप्युक्तम्—'चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्' इति । परेषां गुणे सुगुणे प्रीतिः संतोषः, न तु दोषापादनम् । 'परगुणपरमाणूपर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः' इति वक्ष्यमाणत्वादिति भावः । गुरौ विद्योपदेष्टरि नम्रता भक्तिश्चद्वाभरेण प्रह्वीभावः, न तु गर्वोद्विक्ता । 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥' इति । 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः । गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥' इति श्रुतिस्मृती । विद्यायां वेदान्तादिविद्या-

भ्यासे व्यसनमासक्तिः, न तु द्यूतकेल्यादौ । तस्य मोक्षसाधनब्रह्मज्ञानजनकत्वादिति भावः । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थो' इत्यादि श्रुतेः । स्वयोषिति निजदारेषु रतिः संभोगः, न तु परदारेषु । 'रम्यं कुलस्त्रीरतम्' इति वचनादिति भावः । लोकापवा-
दाल्लोकनिन्दायाः । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । भयम्, न तु निर्लज्जत्वम् । 'लोकापवादो बलवानिति सत्यवती श्रुतिः' इत्यादिवचनात्तस्य बलिष्ठत्वा-
दिति भावः । शूलिनि परदेवतायां शिवे भक्तिरनुरागः, न तु क्षुद्रदेवतायाम् । 'शिवे भक्तिः शिवे भक्तिः' इत्यादिवचनेष्वावृत्त्या तस्याः प्राशस्त्यश्रवणादिति भावः ।
आत्मदमने स्वपरिभवे सति शक्तिः सामर्थ्यम्, पराक्रम इति यावत् । न तूपशमेनौ-
दासीन्यम् । 'अन्यदा भूषणं पुंसां शमो लज्जेव योषिताम् । पराक्रमः परिभवे वैयाल्यं
सुरतेष्विव ॥' इति वचनादिति भावः । खलैर्दुर्जनैः सह संसर्गमुक्तिः सङ्गत्यागः,
न तु तत्सहवासाभिलाषः । 'दुर्जनं दूरतस्त्यजेत्' इति, 'दुर्जनः परिहर्तव्य' इत्यादि-
वचनादिति भावः । इत्येते निर्मला निष्कलङ्का गुणाः सज्जनसंगतिवाञ्छादयो गुणा येषु
पुरुषेषु वसन्ति तेभ्यो महद्भयो नमः । 'तस्माद्वेदविद्भ्यो ब्राह्मणेभ्यो नमस्कुर्व्यात्' इति
श्रुतेः । इत्थंभूतगुणविशिष्टानामेव नमस्कारार्हत्वादिति भावः । 'नमःस्वस्ति-' इत्या-
दिना चतुर्थी । 'तैरेव भूर्भूषिता' इति पाठे तैर्निर्मलगुणसंपन्नैरेव भूरलंकृता, न त्वन्यैः ।
तेषामेव चारुत्वाद्यतिशयहेतुत्वादिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५१ ॥

अथैषां निसर्गसिद्धगुणगणं गणयति—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा

सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।

यशसि चाभिरतिर्व्यसनं श्रुतौ

प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ५२ ॥

विपद्यापत्काले धैर्यं निर्विकारचित्तत्वम्, न तु दैन्यम् । 'मनसो निर्विकारत्वं धैर्यं
सत्स्वपि हेतुषु' इति तज्ज्ञाः । अथानन्तरं वाक्यारम्भे वा । अभ्युदये संपदि क्षमा
सहिष्णुत्वम्, न तूच्चण्डता । सदसि राजविद्वत्सभायां वाक्पटुता वाग्मित्वं सरस-
वचनरचनाचातुर्यमिति यावत्, न तु मूकीभावः । युधि रणरङ्गे विक्रमः पराक्रमः,
न तु पलायनम् । यशस्यभिरतिः संप्रहेच्छा, न त्वनादरः । श्रुतौ वेदशास्त्राभ्यसने
व्यसनमासक्तिः, न तु निर्वेदः । इतीदं सर्वम् । 'नपुंसकमनपुंसकेन-' इत्यादिना
नपुंसकैकशेषः । महात्मनां महानुभावानां सुजनानां प्रकृतिसिद्धं स्वभावसिद्धं हि ।
'संसिद्धिप्रकृती त्विमे । स्वरूपं च स्वभावश्च निसर्गश्च' इत्यमरः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥
लक्षणं तूक्तम् ॥ ५२ ॥

अथैषां प्रसिद्धविलक्षणमण्डनसंपत्तिमाह—

करे श्लाघ्यस्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता

मुखे संत्या चाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ।

हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतं च श्रवणयो-

र्विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥ ५३ ॥

करे हस्ते श्लाघ्यः सकललोकप्रशस्तस्त्यागः दानं मण्डनम्, न तु कङ्कणम् ।
 'दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन' इति स्वेनैवाग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । शिरसि गुरुपादयोः प्रण-
 यिताभिवादनतात्पर्यं मण्डनम्, न तु मणिहिरण्मयकोटीरादि । मुखे वक्त्रे सत्या वाणी
 सूनुतभाषणं मण्डनम्, न तु ताम्बूलचर्वणादि । भुजयोरतुलं निरुपमानं विजयि
 जयशीलं च । 'जिह्वक्षि-' इत्यादिना इनिः । वीर्यं बलं मण्डनम्, न तु केयूरादि ।
 हृदयन्तरङ्गे स्वच्छा वृत्तिः निष्कलङ्कव्यापारो मण्डनम्, न तु हाररुचकादि । हृच्छ-
 वदस्य वक्षःस्थलवाचकत्वमपि संभवतीति कृत्वाऽभेदेन निर्देशः । श्रवणयोः कर्णयोरधिगतं
 श्रुतं शास्त्रमेव । 'श्रुतं शास्त्रावधृतयोः' इति विश्वः । मण्डनम्, न तु कुण्डले । 'श्रोत्रं
 श्रुतेनैव न कुण्डलेन' इति वक्ष्यति । इदं पूर्वोक्तदानादिकं सर्वमैश्वर्येण धनरत्नसंपत्त्या
 विनापि । 'पृथग्विना-' इत्यादिना विकल्पात्तृतीया । प्रकृत्या स्वभावेन महतां महात्म-
 नाम्, सौजन्यसंपन्नानामित्यर्थः । 'प्रकृत्यादिभ्यः-' इति तृतीयासमासः । मण्डनं
 भूषणम् । एतस्यैव लोकोत्तररामणीयकहेतुत्वादिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५३ ॥

गुणाढ्यत्वे को लाभ इत्याशङ्क्य तेषां श्रेयोहेतुत्वमाह—

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं

काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।

तृष्णाश्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा-

सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ५४

प्राणाघातात्प्राणहिंसाया निवृत्तिर्निवर्तनं च । 'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि', 'अहिंसा
 परमो धर्मस्त्वधर्मः प्राणिनां वधः' इत्यादिनाग्नीषोमीयपञ्चालम्भनव्यतिरिक्तहिंसाया
 निषेधश्रवणादिति भावः । परधनहरणे संयमो मनोनिरोधश्च । 'परद्रव्याणि लोष्टवत्'
 इति न्यायादिति भावः । सत्यवाक्यं यथार्थभाषणं च । 'सत्यं वद, धर्मं चर' इत्यादि
 धर्मोपदेशश्रवणादिति भावः । अत्र 'ब्राह्मणार्थं गवामर्थे' इत्यादिष्वसत्यवचनस्यापि
 निषेधाभावश्रवणात्काल इत्युक्तम् । काले समये शक्त्या प्रदानं वित्तानुसारेण
 त्यागश्च । 'वित्तशाक्यं न कारयेत्' इति वचनादिति भावः । युवतिजनकथायां परस्त्री-
 वृत्तान्तकथने मूकभावस्तूष्णींभावशीलत्वं च । 'स्वप्नेऽप्यन्यवधूकथाम्' इति निषेधा-
 दिति भावः । परेषां अन्येषाम्, याचकानामित्यर्थः । तृष्णा धनलिप्सा तस्या एव
 स्रोतसः प्रवाहस्य विभङ्गो निरोधः । अभीप्सितदानेन मनोरथपरिपूरणं चेत्यर्थः ।
 'याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय वत जन्म न यस्य । तेन भूमिरतिभारवतीयं न
 द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥' इति श्रवणादिति भावः । गुरुषु च विनयो नम्रत्वं च ।
 'गुरौ नम्रता' इत्युक्तत्वादिति भावः । सर्वभूतेष्वशेषप्राणिष्वनुकम्पया प्रत्यया सामान्यं
 समवर्शित्वं च । सर्वशास्त्रेषु वेदवेदान्तादिसकलागमेष्वनुपहतोऽविच्छिन्नो विधिरध्य-
 यनविधानं च । यद्वा सर्वभूतानुकम्पेति पृथक्पदम् । तथा सर्वशास्त्रेषु सामान्यमवै-
 षम्येण तत्तत्सिद्धान्तानुवर्तित्वम्, अनुपहतविधिरलुप्तकर्मानुष्ठानं चेत्येष गुणसमुदायः ।
 एष श्रेयसां पन्था अखण्डितैश्वर्यादिश्रेयःप्राप्तिमार्गः, न त्वेतद्व्यतिरिक्तोऽन्योऽस्ती-
 त्यर्थः । एतादृशगुणसंपत्तिः सुजनानामेवेति कृत्वा त एव श्लाघ्या इति भावः ।
 अथवा श्रेयसां श्रेष्ठानां प्रशस्यानां सुजनानां संबन्धी पन्थाः तत्प्रवृत्तिमार्ग इत्यर्थः ।

प्रशस्यशब्दादीयसुनि 'प्रशस्यस्य श्रः' इति श्रादेशः । अत्र 'वाञ्छा सज्जनसंगतौ इत्यादिश्लोकेषूक्तगुणाः प्रायेण दैवसंपदमिजातानामेव संभवन्ति, न त्वन्येषाम् । तदुक्तं भगवद्गीतासु—'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः । दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् । दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता । भवन्ति संपदं दैवीममिजातस्य भारत ॥' इति । स्रग्धरा वृत्तम्—'मन्त्रैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति लक्षणात् ॥ ५४ ॥

अथापत्संपदोः सुजनमनोवृत्तिमाह—

संपत्सु महतां चित्तं भवेदुत्पलकोमलम् ।

आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥ ५५ ॥

संपत्सु धनधान्यवस्तुवाहनादिसमृद्धिषु महतां महात्मनां सज्जनानां चित्तमुत्पलवत्कोमलं मृदुलं भवेत्, न तु कठिनमित्यर्थः । आपत्सु विपत्सु दारिद्र्याद्यनर्थसंकटेषु महाशैलस्य शिलासंघातः पाषाणकूटस्तद्वत्कर्कशं कठोरं च भवेत्, न त्वधैर्यविश्लथमित्यर्थः । न तु कदाप्युक्तवैपरीत्यम् । अन्यथा माहात्म्यभङ्गप्रसङ्गादिति भावः । विवेकिनामविवेकिनां चायमेव पन्था आदरणीय इति तात्पर्यम् । अत्र शैलस्य महत्त्वविशेषणं तच्छिलासंघातस्यात्यन्तदुर्भेद्यत्वद्योतनार्थम् । उक्तं चैतदन्यत्रापि—'सौजन्यामृतसिन्धवः परहितप्रारब्धवीरव्रता वाचालाः परवर्णने निजगुणालापे तु मौनव्रताः । आपत्स्वप्यविलुप्तधैर्यनिधयः संपत्स्वनुत्सेकिनो मा भूवन्खलवक्त्रनिर्गतविषम्लानाननाः सज्जनाः ॥' इति । उपमालंकारः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ५५ ॥

अथ द्वाभ्यामेव तद्वृत्तस्यासाधारण्यमाह—

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरं

त्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः ।

विपद्युच्चैः स्थैर्यं पदमनुविधेयं च महतां

सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥ ५६ ॥

न्यायादनपेता न्याय्या नीतिप्रवणा वृत्तिर्वर्तेनम् । 'वृत्तिर्वर्तेनजीवने' इत्यमरः । प्रीणातीति प्रिया इष्टा, न त्वन्या । तस्या एव श्रेयस्करत्वादिति भावः । 'इगुपधज्ञा-प्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः । असुभङ्गे प्राणप्रयाणेऽपि । किमुतान्यदेति भावः । मलिनं दुष्कर्म असुकरमकर्तव्यम्, न तु 'आपत्काले नास्ति मर्यादा' इति न्यायात्सुकरम् । तस्यैवैहिकामुष्मिकफलदत्वादिति भावः । 'ईषद्हुः—' इत्यादिना खलप्रत्ययः । ततो नञ्समासः । असन्तः कुहकास्तु नाभ्यर्थ्याः कस्मिंश्चिद्विषयेऽपि न प्रार्थनीयाः किंतु सन्त एव । तेषामुपेक्ष्यत्वादिति भावः । यद्यपि 'न पादादौ खल्वादयः' इत्याह वामनः तथापि कविप्रौढ्या तुशब्दस्य पादादौ प्रयोगः । सुहृदपि प्राणप्रियबन्धुरपि । किमुतान्य इति भावः । 'सुहृद्दुर्हदौ मित्रामित्रयोः' इति निपातनात्साधुः । कृशधनो धनहीनश्चेत् न याच्यो याचितुं न योग्यः, धनादिकमिति शेषः । किंतु धनपरिपूर्ण एव । तथाविधयाज्जाया अनुचितत्वादिति भावः । विपद्यनर्थसंकटेऽपि उच्चैः स्थैर्यं

महाधैर्यं न तु भयविह्वलत्वम् । 'आपत्स्वप्यविलुप्तधैर्यनिधयः,' 'विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा' इति चोक्तत्वादिति भावः । महतां पूज्यानामनुविधेयमनुकूलं पदं व्यवसितम्, न त्वननुकूलं पदम् । तथाभूतस्यैव श्लाघ्यत्वादिति भावः । 'पदं व्यवसितत्राणस्थान-लक्ष्माङ्गिवस्तुषु' इत्यभिधानात् । इतीदमेतत् विषममसाधारणतया दुष्करमसिधारा-व्रतमव्यभिचरितव्रतं सतां सत्पुरुषाणां केनोद्दिष्टमुपदिष्टम् ? न केनापीत्यर्थः । स्वतः-सिद्धत्वादिति भावः । अत्रासिधारावन्निशितत्वादसिधारासंचारवत्सावधानेनैकाग्रतया विधेयत्वाद्वा असिधाराव्रतम् । यद्वा असिधारया व्यवहारतां व्रतम्, वीरव्रतमित्यर्थः । अथ वा 'युवा युवत्या सार्धं यन्मुग्धभर्तृवदाचरेत् । अन्तर्निवृत्तसङ्गः स्यादसिधाराव्रतं हि तत् ॥' इति यादवः । तथा च यथा युवत्या सहितस्य यूनः मुग्धभर्तृवदाचरणं असिधाराचक्रेण तुल्यत्वादसिधाराव्रतमित्युक्तं तथेदं न्याय्यवृत्त्यादिकमप्यसिधारा-चक्रेण तुल्यत्वादसिधारव्रतमित्युक्तमित्यवधेयम् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५६ ॥

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते संभ्रमविधिः

प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः ।

अनुत्सेको लक्ष्म्या निरभिभवसाराः परकथाः

सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥ ५७ ॥

प्रच्छन्नं प्रदानं गुप्तदानम्, न तु प्रकाशम् । तथाभूतदानस्य महाफलश्रवणादिति भावः । गृहं निजमन्दिरं प्रत्युपगते आगते सति, अर्थिनीति शेषः । संभ्रमविधिः प्रत्युत्थानाभिवादनादिसत्वरव्यापारविधानं च, न तु वैमुख्यम्; तस्यैव शास्त्रोदिता-चारत्वादिति भावः । प्रियं तदभीष्टं कृत्वा मौनं तूष्णींभावश्च, अपरिकीर्तनमिति यावत्; न तु प्रकटनं कृतस्य परिकीर्तनम् । 'न दत्त्वा परिकीर्तयेत्' इति मनुस्मर-णादिति भावः । सदसि राजविद्वत्सभायामुपकृतेः कथनं परकृतोपकारप्रख्यापनं च, न तु तत्र तूष्णींशीलत्वम् । अन्यथा कृतघ्नत्वप्रसङ्गादिति भावः । लक्ष्म्या संपत्त्यानु-त्सेको गर्वराहिल्यम्, न तु मदान्धत्वम् । 'संपत्स्वनुत्सेकिनः' इत्युक्तत्वादिति भावः । निरभिभवसारा अनिन्दापराः परकथाः पुरुषान्तरप्रसङ्गाश्च, न तु गर्हणपराः । 'आत्मप्रशंसां परगर्हामपि च वर्जयेत्' इत्यापस्तम्बस्मरणात् । सतामित्यादि, वृत्तं च पूर्ववत् ॥ ५७ ॥

अथाधममध्यमोत्तमवृत्तिमाह—

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न श्रूयते

मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं दृश्यते ।

अन्तःसागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते

प्रायेणाधममध्यमोत्तमजुषामेवंविधा वृत्तयः ॥ ५८ ॥

संतप्तायसि सम्यगभिमतप्रायःपिण्डे संस्थितस्य, निक्षिप्तस्येत्यर्थः । पयसो जलस्य नामापि नामधेयमात्रमपि न श्रूयते, मूलतो ध्वस्तमेव भवतीत्यर्थः । स्वरूपदर्शनं तु किमु वक्तव्यमिति भावः । तदेव पयो नलिनीपत्रस्थितं पद्मपत्रगतं सत् मुक्ताकारतया मौक्तिकरूपेण दृश्यते, न तु मौक्तिकत्वेनेत्यर्थः । तदेव पयोऽन्तःसागरे सागरान्तराले ।

अन्तरित्यव्ययम् । या शुक्तिर्मुक्तास्फोटस्तस्या मध्ये उदरे पतितं सत् मौक्तिकं जायते
मौक्तिकत्वेन परिणमतीत्यर्थः । 'ज्ञानोर्जा-' इति जादेशः । मुक्तैव मौक्तिकमिति
विग्रहः । विनयादित्वात्स्वार्थे ठगिति वामनः । अतः प्रायेण भूम्ना अधममध्यमो-
त्तमजुषां निवृष्टसाधारणोत्कृष्टाश्रयानाश्रितवतामेवंविधा नामाश्रवणादिरूपा वृत्तयो
व्यापारा भवन्तीति यथाक्रममन्वयाद्यथासंख्यालंकारः । अतः महदाश्रय एव कर्तव्यः ।
'नीचाश्रयो न कर्तव्यः कर्तव्यो महदाश्रयः' इति भावः । अत्रोत्तममध्यमाधमा इति लोक-
प्रसिद्धोद्देशक्रमः कविना न विवक्षित इति ज्ञेयम् । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ५८ ॥

अथ सत्पुत्रकलत्रमित्रसंपत्तिः पुण्यकृदधीनेत्याह—

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो

यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ।

तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य-

देतत्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥ ५९ ॥

यः पुत्रः सुचरितैर्वाक्यकरणादिसदाचारैः पितरं प्रीणयेत्संतोषयेत् । 'प्रीञ् तर्पणे'
इत्यस्माद्धातोश्चौरादिकाणिच लिङ् । 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' इति नुगागमः । स
पुत्रः पुत्राग्नौ नरकाच्चायत इति व्युत्पन्न इति पुत्रशब्दवाच्यः, न तूत्पन्नमात्रः ।
'जीवतोर्वाक्यकरणात्प्रत्यब्दं पार्वणेन च । गयायां पिण्डदानेन त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥'
इति स्मरणात् । यद्भर्तुः पत्युर्हितमिच्छति भयभक्तिभ्यां हिताचरणतत्परं भवति तदेव
कलत्रं भार्या, न तु यादृच्छिकम् ; 'पतिभक्तिपरा साध्वी शान्ता सा सत्यभाषिणी'
इति पतिव्रताधर्मत्वात् । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः । यदापद्यनर्थसंकटे सुखे
संपदि च समक्रियम्, अविषमाचारमित्यर्थः । तुल्यवृत्ति तदेव मित्रं सुहृत्, न
त्वापत्संपदोस्त्यागानुवर्तनतत्परम् । 'आपद्रुतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्रल-
क्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः' इति वक्ष्यमाणत्वात् । एतत्रयमुक्तसत्पुत्रादित्रितयं जगति
भुवि पुण्यकृतो धन्या लभन्ते प्राप्नुवन्ति, न त्वकृतसुकृता इत्यर्थः । एवंविधत्रितय-
लाभस्य महापुण्यफलत्वादिति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ५९ ॥

अथ सतां असाधारणगुणगरिमास्पदत्वे न सकललोकपूज्यत्वं कथयन्निगमयति—

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान्ख्यापयन्तः

स्वार्थान्संपादयन्तो विततपृथुतरारम्भयन्तः परार्थे ।

क्षान्त्यैवाक्षेपरुक्षाक्षरमुखरमुखान्दुर्जनान्दुःखयन्तः

सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः ॥ ६० ॥

नम्रत्वेन प्रहृत्वेनैवोन्नमन्त औन्नत्यं प्राप्नुवन्तः । तथाभूतत्वस्यैवौन्नत्यहेतुत्वादिति
भावः । परेषां गुणकथनैः सद्गुणवर्णनैः स्वान्गुणान्स्वकीयान्सौजन्यादीन्ख्यापयन्तः
प्रकटयन्तः, न त्वात्मप्रशंसया, तादृग्भावस्यैव निजसद्गुणप्रख्यापकत्वादिति भावः ।
परार्थे परप्रयोजननिर्वहणे विततौ विस्तृतौ पृथुतरौ महत्तरौ चारम्भयन्तौ प्रारम्भो-
त्साहौ च येषां ते तथोक्ताः सन्त एव स्वार्थान्स्वप्रयोजनानि संपादयन्तो निष्पाद-
यन्तः परकार्यसाधनपुरस्कारेणैवात्मीयकार्यसाधनतत्पराः, नत्वेकान्तत इत्यर्थः ।

तथाभूतस्यैव स्वार्थसमर्थकत्वादिति भावः । क्षान्त्या सहिष्णुतयैव । आक्षेपेण निन्दया रूक्षाक्षराणि परुषाणि यस्याक्षराणि वाक्यानि तैः शब्दायमानानि वाचाटानीति यावत् । व्याख्यातमेतत् तानि मुखराणि मुखानि येषां तान्, परुषभाषिण इत्यर्थः । दुर्जनान्खलान्दुःखयन्तः संतापयन्तः, न तूच्चण्डतया तथाभूतत्वस्यैव तेषां हृच्छ-
ल्यप्रायत्वादिति भावः । दुःखशब्दात्तत्करोतिप्यन्ताच्छतृप्रत्ययः अत एव साश्चर्यचर्या अद्भुतचरित्राः गदमदचरेत्यादिना यत्वंतर्भाषितं । अतः जगति लोके बहुमता संभा-
विताः सन्तः सत्पुरुषाः कस्य वा पुंसो नाभ्यर्चनीया न पूजनीया इति काकुः । सर्वेषामप्यभ्यर्चनीया एवेत्यर्थः, तथाभूतगुणसंपन्नानां दुर्लभत्वादिति भावः । स्रग्धरा वृत्तम् 'म्रभ्रैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति लक्षणात् ॥ ६० ॥

इति नीतिशतकव्याख्याने सज्जनपद्धतिवर्णनं नाम षष्ठं दशकम् ।

श्रीरामार्पणमस्तु ॥

(अथ परोपकारपद्धतिः)

अथ सौजन्यस्य परोपकारफलकत्वात्तन्निरूपणान्तरं परोपकारपद्धतिं वर्णयति—

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-

नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।

अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः

स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥ ६१ ॥

तरवः पनसरसालादिवृक्षाः फलोद्गमैः फलभारैर्नम्रा अवनता भवन्ति । घना मेघा नवाम्बुभिर्नूतनोदकैरुपलक्षिताः सन्तो दूरविलम्बिनः सर्वत्र प्रवर्षणार्थमन्तरिक्ष-
संचारिणो भवन्ति । सत्पुरुषाः समृद्धिभिर्धनधान्यसंपत्तिभिरुपलक्षिता अप्यनुद्धता अनुच्चण्डा भवन्ति, तीक्ष्णस्वभावा न भवन्ति इत्यर्थः । 'अनर्थिताः' इति पाठेऽप्या-
चिताः, याज्जां विनैव परहितमाचरन्तीत्यर्थः । तथा एष उक्तनिजनम्रत्वादिव्यवहारः परोपकारिणां परहिताचरणतत्पराणां स्वभावः निसर्गसिद्ध एव, न त्वाहार्यक इत्यर्थः । महान्तो हि परोपकारार्थं क्लेशं क्लेशत्वेन न गणयन्ति । तेषां स्वाभाव्यादिति भावः । तदुक्तं—'परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः परोपकाराय वहन्ति नद्यः । परोपकाराय चरन्ति गावः परोपकारार्थमिदं शरीरम् ॥' इति । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः । वंशस्थं वृत्तम्—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् ॥ ६१ ॥

अथैषां मुख्यमण्डनसंपत्तिमाह—

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन

दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ।

विभाति कायः करुणाकुलानां

परोपकारेण न चन्दनेन ॥ ६२ ॥

करुणाकुलानां दयालूनाम्, परोपकारिणामित्यर्थः । श्रोत्रं कर्णः । 'कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रम्' इत्यमरः । श्रुतेन धर्मशास्त्रश्रवणेनैव विभाति प्रकाशते, कुण्डलेन सुवर्ण-
(मणि)मयकर्णभूषणेन न तु विभाति । पाणिर्हस्तो दानेन सत्पात्रत्यागेन विभाति, कङ्कणेन कनकवलयेन न तु विभाति । कायो देहः परोपकारेण परेषां हिताचरणेन विभाति, चन्दनेन कस्तूरीघनसारविमिश्रितपाटीरपङ्कलेपनेन तु न विभाति । महात्मनां श्रवणादिकमेव स्वाभाविकं मुख्यमण्डनं, न त्वन्यत् । तस्य नश्वरत्वादिति भावः ।
वृत्तमुपजातिः ॥ ६२ ॥

यदुक्तं 'अनर्थिताः सत्पुरुषाः' इति तदेव प्रपञ्चयति—

पद्माकरं दिनकरो विकचं करोति

चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ।

नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति

सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः ॥ ६३ ॥

दिनं दिवसं करोतीति दिनकरः सूर्यः । 'कृजो हेतु-' इत्यादिना टप्रत्ययः । अभ्यर्थितो न भवतीति नाभ्यर्थितः । अयाचितः सन्नेव । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । पद्माकरं पद्मवनं विकचं विकसितं करोति । 'प्रफुल्लोत्फुल्लसंफुल्लव्याकोशविकचस्फुटाः । फुल्लश्चैते विकसिते' इत्यमरः । तथा चन्द्रोऽपि कैरवचक्रवालं कुमुद-
षण्डम् । 'सिते कुमुदकैरवे' इत्यमरः । विकासयति व्याकोचयति । तथा जलधरो वारिवाहोऽपि । पचाद्यच् । नाभ्यर्थितः सन्नेव जलं ददाति प्रवर्षति । तथा हि सन्तः सत्पुरुषाः स्वयम्, अयाचिता एवेत्यर्थः । परेषां हिते हिताचरणे विहिताभियोगाः कृताभिनिवेशाः न त्वौपाधिका इत्यर्थः । अतो युक्तमेवं हिताचरणमेतेषामिति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः । 'सामान्यविशेषकार्यकारण-
भावाभ्यां निदिष्टप्रकृतकार्यसमर्थनमर्थान्तरन्यासः' इति सर्वस्वसूत्रम् । वसन्ततिलका-
वृत्तम् ॥ ६३ ॥

अथ व्यापारतारतम्येन पुरुषाणामुत्तमादिभेदमाह—

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये

सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।

तेऽभी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये

ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥ ६४ ॥

ये पुमांसः स्वार्थान्स्वप्रयोजनानि । 'अर्थोऽभिधेयैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यसि-
धानात् । परित्यज्य त्यक्त्वा परार्थघटकाः परप्रयोजनसंघटनशीलाः । एते सत्पुरुषाः पुरुषोत्तमाः । सत्वस्य तेनैवामिव्यक्तत्वादिति भावः । ये तु स्वार्थस्याविरोधेनावैषम्येण, स्वार्थनिर्वाहतत्परत्वेनैवेत्यर्थः । परार्थं परप्रयोजननिर्वाहार्थमुद्यमभृत उद्योगभाजस्ते सामान्याः साधारणाः, मध्यमपुरुषा इत्यर्थः । ये तु स्वार्थाय स्वार्थनिष्पत्त्यर्थं परहितं निघ्नन्ति नाशयन्ति तेऽभी मानुषराक्षसा मानुषशब्दवाच्या राक्षसाः । तथा क्रूराचारतत्परत्वात्पुरुषाधमा इत्यर्थः । ये तु निरर्थकं निष्फलम्, प्रयोजननिष्पत्ति-

राहिलेनापीति यावत् । परहितं घ्नन्ति ते पुमांसः के वा कथंभूता वा न जानीमहे ।
उक्तत्रिविधपुरुषविलक्षणत्वात्ताज्ज्ञातुं न शक्नुम इत्यर्थः । अत एव परमनीचा इत्यर्थः ।
उक्तपक्षेषु यः श्रेयांस्तत्पक्षाश्रयिणा भवितव्यामायुष्मतेति भावः । शार्दूलविक्री-
डितम् ॥ ६४ ॥

अथ सन्मित्रलक्षणमाह—

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं निगूहति गुणान्प्रकटीकरोति ।

आपद्रुतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥ ६५ ॥

पापात्पापाचरणान्निवारयति, निवर्तयति धर्मोपदेशेन दुष्कर्मप्रवृत्तेर्विरमयतीत्यर्थः ।
‘जुगुप्साविराम—’ इत्यादिना पञ्चमी । हिताय योजयते, सत्कर्माचरणाय प्रवर्तयती-
त्यर्थः । यद्वा,—श्रेयःसंग्रहार्थं प्रोत्साहयतीत्यर्थः । गुह्यं गोप्यं निगूहत्याच्छादयति न
कुत्रापि प्रकटयतीत्यर्थः । गुणान्सौशील्यादिसद्गुणान्प्रकटीकरोति प्रख्यापयति, न तु
निगूहतीत्यर्थः । आपद्रुतमतिसंकटस्थमपि न जहाति न त्यजति । ‘तन्मित्रमापदि
सुखे च समक्रियं यत्’ इत्युक्तत्वादिति भावः । काले व्यसनादिसमये ददाति वाञ्छितं
दिशति । तदिदं पापनिवारणादेकं सर्वं सन्तः । सत्पुरुषाः सन्मित्रस्याकैतवसुहृदो
लक्षणं स्वरूपं प्रवदन्ति । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ६५ ॥

पुनस्तदेव क्षीरनीरदृष्टान्तेन वर्णयति—

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरोत्तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः ।

गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद्दृष्ट्वा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वदीदृशी ॥ ६६ ॥

क्षीरेण कर्त्रा आत्मानमुपगतं प्राप्तं यदुदकं जलं तस्मै, स्वात्ममिश्रितजलायेत्यर्थः ।
पुरा पूर्वं ते प्रसिद्धा अखिलाः समस्ताश्च गुणा निजमाधुर्यधावल्यादिगुणा दत्ता हि
वितीर्णाः खलु, स्वगुणप्रदानद्वारा मैत्री संपादितेत्यर्थः । अतः क्षीरोत्तापं क्षीरस्य
श्रपणार्थं अग्नौ निक्षिप्तस्य दुग्धस्योत्तापं संतापमवेक्ष्य तेन क्षीरमिश्रितेन पयसोदकेन ।
‘पयः क्षीरं पयोऽम्बु च’ इत्यमरः । स्वात्मा स्वशरीरं कृशानौ बहौ हुतः, मित्रसंता-
पासहनात्संशोषित इत्यर्थः । तत्क्षीरं कर्तुं मित्रस्य जलस्यापदं संशोषरूपां विपत्तिं
दृष्ट्वा पावकं बहिर्गन्तुमुन्मन उद्युक्तमभवत् । ‘उत्क उन्मनाः’ इति निपातनात्साधुः ।
जलसंशोषणे क्षीराणां बहिर्निर्गमनसंभवादिति भावः । तदनन्तरं तेन जलेन युक्तं
मिलितं सत् शाम्यति प्रशान्तं भवति । ‘शमामष्टानां—’ इति दीर्घः । तथा हि—सतां
मैत्री सौहार्दम् । मैत्री व्याख्याता । ईदृशी पुनः परस्परव्यसनासहनशीला खलु ।
अत एतद्युक्तमिति भावः । अत्र स्वभावसिद्धस्य क्षीरनीरव्यवहारस्य परस्परसंतापदर्शन-
हेतुकत्वेनोत्प्रेक्षणात्क्रियानिमित्तक्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा । सा चोक्तार्थान्तरन्यासनिर्व्यूयन-
योर्विजातीयसंकरः । वृत्तमुक्तम् ॥ ६६ ॥

अथैतन्माहात्म्यमाह—

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषां

इतश्च शरणार्थिनः शिखरिणां गणाः शेरते ।

इतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्तकै-

रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥ ६७ ॥

इतोऽस्मिन्प्रदेशे केशवो विष्णुः । कुक्षिस्थाखिलभुवन इति भावः । स्वपिति योगानुसंधानेन निद्राति । 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इतीडागमः । इतोऽस्मिन्प्रदेशे तस्य केशवस्येमे तदीयाः । त्यदादित्वाद्वृद्धाच्छः । ये द्विषो हिरण्याक्षरावणादयस्तेषां कुलं समूहः, तिष्ठतीति शेषः । इतस्ततोऽन्यस्मिन्प्रदेशेऽपि शरणार्थिनो रक्षणाभिलाषिणः । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यभिधानात् । शिखरिणां मैनाकादिपर्वतानां गणाश्च शेरते स्वपन्ति । 'शीङो रुद्' इति रुडागमः । इतस्तस्मादप्यन्यस्मिन्प्रदेशे समस्ता ये संवर्तकाः प्रलयकालप्रवर्धिणो मेघविशेषाः । एत एव पुष्कलावर्तकसंज्ञया च व्यवहियन्ते । तैः सह वडवानलोऽपि वसति । तस्मात्सिन्धोः समुद्रस्य वपुः शरीरं विततं केशवाधारत्वेन विस्तृतं ऊर्जितं वडवानलाश्रयत्वेऽप्यतिवर्धिष्णु भरसहं पर्वतभरणेन भारोद्धहनक्षमं च । अहो, अप्रमेयानुभावत्वेनात्यन्ताश्चर्यमित्यर्थः । अत्र लक्ष्ययोजनपरिच्छिन्नस्य समुद्रस्यापरिच्छिन्नकेशवाद्याधारत्वकथनादधिकप्रमेदोऽलंकारः, 'आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मतः' इति लक्षणात् । पृथ्वी-वृत्तम् ॥ ६७ ॥

अथ परहिताचरणपराकाष्ठया द्वयोरेव जन्म सफलम्, न त्वन्येषामित्याह—

जातः कूर्मः स एकः पृथुभुवनभरायार्पितं येन पृष्ठं

श्लाघ्यं जन्म ध्रुवस्य भ्रमति नियमितं यत्र तेजस्विचक्रम् ।

संजातव्यर्थपक्षाः परहितकरणे नोपरिष्ठात्त चाधो

ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवदपरे जन्तवो जातनष्टाः ॥ ६८ ॥

किं बहुना, अवतारेष्वपीत्यध्याहार्यम् । एकः केवलः स कूर्म आदिकूर्मावतार एव जातः जन्मलाभवानित्यर्थः । कुतः ? । येन कूर्मेण पृथुर्महान्यो भुवनभरश्चतुर्दश-विष्टपभारस्तस्मै, तद्वहनार्थमित्यर्थः । पृथु विपुलमिति पृथक्पदं वा । पृष्ठं निजकूर्पर-तलमर्पितं दत्तम्, निरन्तरमधःप्रदेशस्थित्यादुर्भरभुवनभारभरणजनितक्लेशः सोढ इत्यर्थः । तथा ध्रुवस्योत्तानपादेर् जन्म श्लाघ्यं सकललोकप्रशस्यम् । कुतः ? । यत्र यस्मिन्ध्रुवे तेजस्विनां ग्रहनक्षत्रादीनां चक्रं शिशुमाराख्यं ग्रहनक्षत्रमण्डलं वा नियमितं नियुक्तं सद्भ्रमति पर्यावर्तते । तत्रभवान्भगवदनुग्रहवशात्सकललोकोन्नतमेरु-शिखरशिखामणिर्ध्रुवः स्वायत्तत्वेन तेजस्विचक्रं प्रवर्तयतीति श्रीविष्णुपुराणभागवता-दिकथानुसंधेया । ततः किमत आह-परहितकरणे परोपकाराचरणे विषये । व्यर्थो निरर्थोऽसमर्थः, अप्रयोजक इति यावत् । यः पक्षः कोटिः स संजातो येषां ते संजातव्यर्थपक्षाः, न तु संजातपरहितकरणसमर्थपक्षा इत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । अपरे उक्तोभयादन्ये जन्तवः प्राणिनः । नैच्योद्भावनार्थकोऽयं

जन्तुशब्दप्रयोगः । उपरिष्ठाच्च, ध्रुववदुपरिभागेऽपि वर्तमाना न भवन्तीत्यर्थः । अधश्च न, कूर्मवदधस्तादपि वा वर्तमाना न भवन्तीत्यर्थः । किं तु उदुम्बरो जन्तु-
फलाख्यवृक्षविशेषस्तस्य फलमुदुम्बरम् । 'उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाज्ञो हेमदुग्धकः'
इत्यमरः । 'फले लुक्' इति लुक् । ब्रह्माण्डमेवोदुम्बरं तस्यान्तरान्तराले ।
अव्ययमेतत् । ये मशकास्तैस्तुल्यं तद्वत् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वति-
प्रत्ययः । जाता उत्पन्नाश्च ते नष्टाश्च जातनष्टाश्च, भवन्तीति शेषः । स्नातानु-
लिसवत्पूर्वकालसमासः । यतो न तैः किमपि साधितम्, अतो मशकवन्निष्फल-
जन्मभिः किमेतैरिति भावः । रूपकोपमयोः संकरः । समधरावृत्तम् ॥ ६८ ॥

अथ विधेयलोकं संबोधयन्सदाचारं शिक्षयति—

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः

सत्यं ब्रह्मनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम् ।

मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय प्रश्रयं

कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां चेष्टितम् ॥ ६९ ॥

हे जनेत्यत्राध्याहार्यं सर्वत्रापि । मध्यमपुरुषप्रयोगसंभवात् । अलभ्येषु परधनेषु
लाभाभिलाषस्तृष्णा तां छिन्धि वैराग्येण विदारय, अन्यथा अनेकाशापाशनिबद्धत्वेन
क्लेशभागित्वं स्यादिति भावः । परिभवादिभूतपदमानेषु क्रोधप्रतिबन्धः क्षमा तां भज
विवेकेन सेवस्व । अन्यथा उग्रभावेन कार्यहानिः स्यादिति भावः । मदं विद्याधनादि-
जनितदर्पं जहि विज्ञानेन विनाशय । अन्यथा विवेकशून्यतया अकार्यकरणप्रवृत्ताव-
नर्थप्राप्तिः स्यादिति भावः । पापे पापकर्माचरणे रतिं प्रीतिं मा कृथाः अज्ञानेन मा
कार्षीः । किंतु 'धर्मं चर' इत्याद्युपदेशवचनेन सत्कर्माचरण एव मतिं कुर्वित्यर्थः ।
अन्यथा निरयपातः स्यादिति भावः । करोतेर्लुङि थास् । 'न माङ्योगे' इत्यद्विप्रति-
षेधः । सत्यं सूत्रतं ब्रूहि । 'सत्यं वद' इति वचनेन यथार्थमेव वचनं वदेत्यर्थः ।
अन्यथा 'नानृतात्पातकं परम्' इति न्यायात् पातकित्वप्रसक्तिः स्यादिति भावः ।
साधुपदवीं सन्मार्गमनुयाहि धर्मशास्त्रानुरोधेनानुसर, अन्यथोत्पथप्रतिपन्नत्वे वचनी-
यतादि दोषापत्तिः स्यादिति भावः । विद्वज्जनं ज्ञानोपदेशेन कृतार्थोत्पथप्रतिपन्नत्वे वचनी-
यतादि दोषापत्तिः स्यादिति भावः । 'यस्तु पर्यटते देशान्यस्तु सेवेत पण्डितान् । तस्य विस्तारिता
बुद्धिस्तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥' इति वचनाद्बुद्धिवैशद्यार्थं शुश्रूषस्व, अन्यथा बुद्ध्यवैश-
द्याशिक्षिताद्यभियोगः स्यादिति भावः । मान्यान्पूज्यान् मानय यथार्हं पूजय, अन्यथा
'समासमाभ्यां विषमसमे पूज्ये' इति गौतमसूत्रात् 'अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्याश्चै-
वावमानिताः । अयशो महदाप्नोति धनाद्धर्माच्च हीयते ॥' इत्यादिस्मरणाच्च, अन्यथा
अकीर्तिः सुकृतधनहीयमानत्वरूपाऽश्रेयः प्राप्तिः स्यादिति भावः । किं बहुना, विद्विषः
शत्रूनपि किमुतान्याननुनय 'समः शत्रौ च मित्रे च' इति भगवद्वचनात्प्रसादय,
अन्यथा रन्ध्रेषु पातयिष्यन्तीति भावः । प्रश्रयं गुर्वाचार्यादिषु नम्रत्वम्, विनयमिति
यावत् । प्रख्यापय, 'गुरौ नम्रता' इत्युक्तत्वात् । प्रकटय, अन्यथा दुर्विनीतत्वाप-
वादप्रसङ्गः स्यादिति भावः । कीर्तिं पालय, जन्मसाफल्यार्थं कीर्तिनिर्वहणे प्रयत्नं
कुर्वित्यर्थः; अन्यथा 'क्षितितले किं जन्म कीर्तिं विना' इति वचनाज्जीवन्मृतत्वापत्तिः

स्यादिति भावः । दुःखिते, संजातदुःखेषु भूतेष्वित्यर्थः । तारकादित्वादितच् ।
जातावेकवचनम् । दयां दुःखप्रहाणेच्छालक्षणां करुणां कुरु । 'दुःखेषु करुणा' इति
शास्त्रानुरोधान्, विधेहि, अन्यथा चित्तशुद्ध्यसंभवादिति भावः । कुतः ? । एतत्सर्वं
तृष्णाच्छेदादिकं सतां सज्जनानां चेष्टितं व्यापारः । यदि सौजन्ययशःकामी तदैवं
प्रवर्तस्व, अन्यथा पुरुषार्थलाभासंभवादिति भावः । शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ६९ ॥

ईदृशा विरला एवेति निगमयति—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-

स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।

परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं

निजहृदि विकसन्तः ख्यापयन्तः कियन्तः ॥ ७० ॥

मनसि वचसि काये मनोवाक्कायेषु पुण्यमेव पीयूषममृतं तेन पूर्णाः, करणत्रित-
येनापि सत्कर्माचरणतत्परा इत्यर्थः । 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः । अत एव त्रयाणां
भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम्, लक्षणया त्रिभुवनस्थजनमित्यर्थः । 'तद्धितार्थः-'
इत्यादिना उत्तरपदसमासः । पात्रादित्वाच्च स्त्रीत्वम् । उपकारश्रेणिभिर्हिताचरणपर-
म्पराभिः प्रीणयन्तः । संतोषयन्तः । 'प्रीञ् प्रीणने' इति धातोश्चौरादिकाणिचि
शतृप्रत्ययः । 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' इति नुगागमः । परेषां गुणपरमाणून्, अत्यल्प-
गुणानपीत्यर्थः । यतोऽणुर्नास्ति स परमाणुरित्याहुः । पर्वतीकृत्य महत्तरान् कृत्वा ।
अभूततद्भावे च्चिः 'ऊर्यादिच्चिडाचश्च' इति गतिसंज्ञायाम् 'कुगतिप्रादयः' इति
समासः । नित्यं ख्यापयन्तः निरंतरं प्रशंसन्तः । तथा निजहृदि स्वान्तःकरण एव
विकसन्तः संतुष्यन्तः (सन्तः) सत्पुरुषाः कियन्तः कतिपये, विरला एवेत्यर्थः ।
सन्तीति शेषः न तु सान्द्राः । एतादृशगुणसंपत्तेरसाधारण्यादिति भावः । 'निजहृदि
विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ।' इति पाठे तथा चोक्तम्—'सौजन्यामृत-
सिन्धवः—' इत्यादि । मालिनीवृत्तम् ॥ ७० ॥

इति नीतिशतकव्याख्याने परोपकारपद्धतिवर्णनं नाम सप्तमं दशकम् ।

(अथ धैर्यपद्धतिः)

परोपकारस्यापि धैर्यशीलमूलत्वात्परोपकारपद्धतिवर्णनानंतरं धैर्यशीलपद्धतिं वर्ण-
यति—

रत्नैर्महाब्धेस्तुतुषुर्न देवा

न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ।

सुधां विना न प्रययुर्विरामं

न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥ ७१ ॥

देवा अमरा महाब्धेः क्षीरार्णवस्य संबन्धिभी रत्नैः कौस्तुभादिमणिभिः ।
'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः । यद्वा,—रत्नैः । 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्न-

मभिधीयते' इति वचनात् ऐरावतोच्चैःश्रवःकल्पवृक्षादिश्रेष्ठजातीयवस्तुभिर्हेतुभिः । न तुतुषुस्तुष्टिं न प्रापुः । मथनसमय इति शेषः । तथा विभ्यत्यस्मादिति भीमम् । 'भीमादयोऽपादाने' इत्यपादानार्थे निपातनात् भियः शुणिति मप्रत्यय औणादिकः । तथाभूतं यद्विषं कालकूटाख्यं तेन हेतुना, तस्मादित्यर्थः । न भीतिं मेजिरे न प्राप्नुः । इति धैर्यातिशयोक्तिः । विषेणेत्यत्र 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादाने पञ्चम्या भाव्यम् । तथापि हेतुत्वमात्रविवक्षायां निर्देश इति मन्तव्यम् । किं तु सुधाममृतं विना । 'पृथग्विना—'इत्यादिना द्वितीया । विराममवसानं न प्रययुः, मथनादिति शेषः । सुधोत्पत्तिं विना न विरता इत्यर्थः । अनेन शीलसंपत्तिरुक्ता । तथा हि धीरा मनस्विनो निश्चितार्थात्प्रतिज्ञातार्थान्न विरमन्ति विरामं न प्राप्नुवन्ति, किं त्वाफलोदयं प्रयतन्त एवेत्यर्थः । अतो धैर्यशीलसंपन्नानां देवानामपीदं युक्तमेवेति भावः । 'जुगुप्साविराम—' इत्यादिना पञ्चमी । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः । वृत्तमुपजातिः ॥ ७१ ॥

उक्तमेवार्थं नीचादिवृत्तिकथनद्वारा द्रढयति—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः

प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।

विघ्नैर्मुहुर्मुहुरपि प्रतिहन्यमानाः

प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥ ७२ ॥

नीचैरधमैर्विघ्नेभ्योऽन्तरायेभ्यो यद्भयं तेन हेतुना न प्रारभ्यते खलु नोपक्रम्यते, कार्यमिति शेषः । 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमरः । मध्या मध्यमास्तु कार्यं प्रारभ्योपक्रम्य विघ्नैर्विहता विह्वलीकृताः सन्तो विरमन्ति विरता भवन्तीत्यर्थः । उत्तमा उत्कृष्टा गुणा धैर्यशीलादयो येषां ते तथोक्ताः पुरुषश्रेष्ठास्तु विघ्नैर्मुहुर्मुहुः पौनःपुन्येन प्रतिहन्यमाना बंभज्यमाना अपि प्रारब्धमुपक्रान्तं कर्म न परित्यजन्ति न विसृजन्ति । अतः कालकूटवडवानलादिविघ्नाद्युपहतत्वेऽपि उक्तगुणसंपन्नतया देवानां सुधोत्पत्तिपर्यन्तं मथनं युक्तमिति श्लोकद्वयस्यापि तात्पर्यम् । अत्र प्रकरणे कुत्रचिद्वैर्यस्य कुत्रचिच्छीलस्य कुत्रचिदुभयस्यापि प्राधान्यनिर्देश इति द्रष्टव्यम् । 'मनसो निर्विकारत्वं धैर्यं सत्स्वपि हेतुषु' इत्युक्तलक्षणं धैर्यम् । शीलं प्रतिनियतकुलोचितसत्त्वभाव इति विवेकः । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यभिधानात् । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ७२ ॥

अथोक्तादयगुणसंपन्नस्य कृच्छ्राकृच्छ्रयोर्दुःखसुखापरिगणनया कार्यसाधकत्वमाह—

कचित्पृथ्वीशय्यः कचिदपि च पर्यङ्कशयनः

कचिच्छाकाहारः कचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।

कचित्कन्थाधारी कचिदपि च दिव्याम्बरधरो

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥ ७३ ॥

कचित्कुत्रचिदेशे काले वा । पृथ्वी शय्या यस्य स तथोक्तः, कठिनतरस्थण्डिलशयनोऽपीत्यर्थः । कचिच्च पर्यङ्के हंसतूलिकातल्पे शयनं स्वापो यस्य स तथोक्तः ।

मृदुलतरशय्योऽपीत्यर्थः । 'शयनं मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समाः', 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः' इत्युभयत्राप्यमरः । क्वचिच्छाक एवाहारो यस्य, नीरसाहारोऽपीत्यर्थः । क्वचिच्च शाल्योदने शाल्यजे रुचिः स्वादो यस्य स तथोक्तः, पडूसोपेतमृष्टान्नभोजन-संतुष्टोऽपीत्यर्थः । क्वचित्कन्थां जीर्णवस्त्रशकलनिर्मिताच्छादनं धारयतीति कन्थाधार्यपि । क्वचिच्च दिव्याम्बरधरः कनकपीताम्बरधरोऽपि कार्यार्थी कार्यनिष्पत्त्यभिलाषी । अर्थः समर्थोभिलाषः तद्वानर्थीति विग्रहः । 'वृद्धतेस्तद्धितवृत्तिर्बलीयसी' इति महाभाष्ये । मनस्वी महामना धीरः । प्रशंसायामिनिः । पृथ्वीशय्यादिना दुःखं च न गणयति, पर्यङ्कशय्यादिना सुखं च न गणयति, किं तु सुखदुःखयोः समानावस्थयैव कार्य-साधनतत्परो भवतीत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ७३ ॥

अथ धीरा लोकनिन्दास्तुतिप्राप्ता अपि न्यायमार्गान् भ्रश्यन्तीत्याह—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु

लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा

न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ ७४ ॥

नीतिनिपुणा नयविशारदा निन्दन्तु कथंचिद्भूषयन्तु वा, यदि अथ वा स्तुवन्तु भूषयन्तु वा; लक्ष्मीः संपत्समाविशतु प्राप्नोतु वा, उत यथेष्टं निरर्गलं गच्छतु वा; अद्यैवेदानीमेव मरणं निधनमस्तु वा, उत युगान्तरे कल्पान्तरे वास्तु; तथापि धीरा धैर्यशालिनो न्याय्यान्त्यायादनपेतात्पथो मार्गात्पदमेकपादविन्यासमात्रमपि न प्रविचलन्ति न भ्रश्यन्ति । तेषां न्यायमार्गपरित्याग एव परमार्थः, न निन्दास्तुत्यादिरिति भावः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ७४ ॥

ननु कीदृशो धीरः, स वा किं साधयतीत्यतआह—

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य

चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ।

कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशा

लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥ ७५ ॥

यस्य चित्तं कान्ताकटाक्षाः 'यद्गतागतविश्रान्तिवैचित्र्येण विवर्तनम् । तारकायाः कलाभिज्ञास्तं कटाक्षं प्रचक्षते ॥' इति भावप्रकाशोक्तलक्षणलक्षितकामिन्यपाङ्ग-वीक्षणानि त एव विशिखा बाणा न लुनन्ति न भिन्दन्ति, न संमोहयन्तीति यावत् । तथा कोपकृशानुतापः क्रोधाग्निसंतापश्च न निर्दहति न प्रज्वलयति, न व्याकुलयतीति यावत् । तथा भूरयो बलवत्तरा विषयाः शब्दादीन्द्रियार्थाश्च लोभः परस्वापहरणे प्रयत्नः । एतेन कामादयोऽप्युपलक्ष्यन्ते । तथा च लोभा एव पाशा रज्जवश्च । बन्धनहेतुत्वात्तेषां पाशत्वारोपणम् । न तर्षन्ति तृष्णाकुलं न कुर्वन्ति । 'कर्षन्ति' इति पाठे इतस्ततः कर्षणेन न पीडयन्तीत्यर्थः । स धीरः कृत्स्नमशेषं लोकत्रयं स्वर्गादिभुवनत्रितयमपि जयति । आत्माधीनं करोति । तस्य न किञ्चिदप्यसाध्यमस्ती-त्यर्थः । वृत्तं तु पूर्ववत् ॥ ७५ ॥

धैर्यगुणन्यकारः कथंचिदपि कर्तुं न शक्यत इति सदृष्टान्तमाह—

कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्ते-

न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।

अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने-

नाधः शिखा यान्ति कदाचिदेव ॥ ७६ ॥

कुत्सितोऽर्थः कदर्थः । 'कोः कतत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः । कदर्थवा-
नकृतः कदर्थितस्तस्य नीचैः कृतस्यापि च सत इत्यर्थः । तत्करोतीति णिचि नाविष्टवद्भावे
विन्मतोर्कुक् ततः कर्मणि क्तः । धैर्येण धीरत्वेन वृत्तिवर्तनं यस्य तस्य पुरुषस्य संबन्धि
धैर्यमेव गुणः प्रमार्ष्टुमधःकर्तुं न शक्यते न संभाव्यते । तत्र दृष्टान्तः—अधोमुखस्य
कृतस्य अवाञ्छुखीकृतस्यापि सतो वह्नेः शिखा ज्वालाः कदाचिदेव कदाचिदपि अधो न
यान्ति, किं तु 'प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः' इति वचनात् प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्चोर्ध्वमेव
प्रसरन्तीत्यर्थः । तद्वद्धीरस्यापि धैर्यगुण इति भावः । दृष्टान्तालंकारः । 'यत्र वाक्य-
द्वये बिम्बप्रतिबिम्बतयोच्यते । सामान्यधर्मो वाक्यज्ञैः स दृष्टान्तो निगद्यते' इति
लक्षणात् । वृत्तमुपजातिः ॥ ७६ ॥

अथ यथाकथंचिदुद्धन्धमरणं वा वरं, न तु सत्स्वभावल्याग इत्याह—

वरं शृङ्गोत्सङ्गादुरुशिखरिणः कापि विषमे

पतित्वायं कायः कठिनदृषदन्ते विगलितः ।

वरं न्यस्तो हस्तः फणिपतिमुखे तीक्ष्णदशने

वरं वह्नौ पातस्तदपि न कृतः शीलविलयः ॥ ७७ ॥

अयं कायो देहः गुरुशिखरिणो महोन्नतपर्वतस्य शृङ्गोत्सङ्गात् शिखराग्रभागात् ।
“पञ्चमी विभक्ते” इति पञ्चमी । यद्वा,—शृङ्गोत्सङ्गात्, शृङ्गोत्सङ्गमारुह्येत्यर्थः । ल्यब्लोपे
पञ्चमी । कापि कुत्रचित् विषमे विकटे कठिनदृषदन्ते कर्कशपाषाणान्तराले पतित्वा
विगलितः शकलीकृतश्चेत् । 'विदलित' इति वा पाठः । वरं मनाक्प्रियम्, तथा हस्तः
तीक्ष्णदशने विषानलोग्रदंष्ट्रे फणिपतेर्महोरगस्य मुखे वक्त्रे न्यस्तो बुद्धिपूर्वकं निक्षिप्तश्चेत्
वरम्, तथा वह्नौ पातोऽग्निप्रवेशोऽपि वा वरम्, किं तु शीलविलयः सत्स्वभावल्यागः
कृतश्चेत्तदपि वरमपि न मनाक् प्रियमपि न भवतीत्यर्थः । शीलपरित्यागेन हीनजीव-
नाद्वरं मरणमेवेति भावः । “असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । तांस्ते
प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।” इत्यादिश्रुतेरात्महननपातकप्रयुक्तनिरय-
पातप्रसङ्गकं गिरिशृङ्गपतनादिकं वा वरम् । न तु शीलपरित्याग इति परमार्थः ।
‘दैवादृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रियमिल्यमरः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ७७ ॥

नन्वेवं शीलस्यात्यन्तावश्यकत्वमुक्तम्, तत्सद्भावे को लाभ इत्यत आह—

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा-

न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते ।

व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते

यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतरं शीलं समुन्मीलति ॥ ७८ ॥

तस्य पुंस इति सर्वत्र संबध्यते । वह्निः न दाहकोऽपीति भावः । जलायते जल-
मिवाचरति । तद्वच्छीतलो भवतीत्यर्थः । 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति क्यङ् । अकृ-
त्सार्वधातुकयोर्दीर्घ- इति दीर्घः । एवं सर्वत्र प्रक्रिया । जलनिधिः । दुस्तरोऽपीति
भावः । कुल्यायते खल्पसरिदिवाचरति । तद्वत्सुप्ततरो भवतीत्यर्थः । तत्क्षणात्त-
स्मिन्नेव क्षणे, न तु विलम्बेनेत्यर्थः । मेरुः अत्युचोऽपीति भावः । खल्पशिलायतेऽसूक्ष्म-
पाषाण इवाचरति । मृगपतिः सिंहः । हिंस्रोऽपीति भावः । सद्यः तत्क्षणमेव कुरङ्गायते
क्रीडामृग इवाचरति तद्वद्विश्वसनीयो भवतीत्यर्थः । व्यालः सर्पः, विषरोषमीषणोऽपीति
भावः । माल्यगुणायते पुष्पस्रगिवाचरति तद्वदाह्लादकरो भवतीत्यर्थः । विषमेव रसो
द्रवः, प्राणप्रयाणहेतुरिति भावः । पीयूषवर्षायते अमृतवृष्टिरिवाचरति तद्वदत्यन्ता-
प्यायनकरो भवतीत्यर्थः । 'गुणे रागे द्रवे रसः । पीयूषममृतं सुधे'ति चामरः । कस्येत्याका-
ङ्क्षायामाह—यस्य पुंसोऽङ्गेऽआत्मनिखिललोकानामशेषजनानां बलभतरमत्यन्तप्रीति-
जनकं द्विवचनम् । विभज्येत्यादिना तरप्प्रत्ययः । शीलं सत्स्वभावः समुन्मीलति समुल्लसति
(तस्येति संबन्धः) । शीलसंपन्नस्य दुःखहेतवोऽपि सुखहेतव एव भवन्ति, अयमेव
परमलाभ इति भावः । अत्र क्यङ्कर्त्तादौपम्यप्रतीतेरुपमाभेदः । तदुक्तं 'इवादिलोपे
द्विविधे णमुलि ख्यति चिह्न्यपि । तथा वाक्ये समासे च सप्तधैषा प्रकीर्तिता ॥'
इति । एषा उपमेत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ७८ ॥

अथैषां न कदाचिदपि मनःपरितापः प्रवर्तत इत्याह—

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः ।

इति विमृशन्तः सन्तः संतप्यन्ते न विश्लथेषु लोकेषु ॥ ७९ ॥

तरुर्वृक्षश्छिन्नः क्षतः सन्नपि पुनः रोहति उद्गच्छति, संजाताङ्कुरपल्लवो भवतीत्यर्थः ।
क्षतसंरोहणभग्नसंरोहणयोः संभवेन तेषामपि वैशेषिकैश्चेतनभावस्य साधितत्वादिति-
भावः । तथा चन्द्रः क्षीणः कृष्णपक्षे दिनक्रमेण कलाहासे कृशः सन्नपि पुनरुपचीयते
शुक्लपक्षे प्रवर्धते । इत्येवं विमृशन्तः पर्यालोचयन्तः सन्तः शीलसंपन्नाः लोकेषु
बन्धुजनेषु विश्लथेषु विश्लिष्टेषु सत्स्वपि न संतप्यन्ते न परितप्यन्ते । मनो वैकल्यं
न प्राप्नुवन्तीति यावत् । किं तु तरुचन्द्रदृष्टान्तेनाभिवृद्धिमाशंसन्त एव वसन्तीत्यर्थः ।
आर्यावृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ७९ ॥

शीलमेवाशेषभूषणमिति वदन्ननिगमयाति—

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो

ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ।

अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता

सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥ ८० ॥

ईश्वरस्य भावः ऐश्वर्यम् । तस्य साम्राज्याधिपत्यस्य । ब्राह्मणादित्वात् ध्यञ् ।
सुजनता सौजन्यम् । परहिताचरणतत्परत्वमिति यावत् । विभूषणमलंकारः । न तु
दौर्जन्यम् । तदुक्तम् । 'सुजनं व्यजनं मन्ये सदा सद्रंशसंभवम् । स्वपरिभ्रमणेनैव तापं
हरति देहिनाम्' इति । सहायान्तरानपेक्षणेन परनिकारसमर्थः शूरः । तस्य भावः

शौर्यम् । पूर्ववत् प्यञ् । तस्य वाक्संयमो वाङ्मयमः भूषणम् । न तु परोपतापात् वचनम् । यथा वा कामं एकः । नान्योपतापाद्वचनं चैका न व्रतचरिण्युतेति । यद्वा वाक्संयमः आत्मश्लाघनराहित्यम् । तदुक्तं महानाटके । 'अत्रासीत्फणिराजबन्धन-विधेः शक्त्याभववले गाढं वक्षसितादिते हनुमताद्रोणादिरत्राहतः । दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठावलीति । एतच्च रावणसंहारानन्तरं पुष्पकमारुह्यायोध्यां प्रति गमनवेलायां सीतां प्रति रामवाक्यम् । ज्ञानस्यात्मविषयकस्य उपशमः शान्तिर्विभूषणम्, न तूच्चण्डत्वम्; 'नास्ति ज्ञानसमं सुख'मिति स्मरणात् । श्रुतस्य विद्याध्ययनस्य विनयः नम्रत्वं विभूषणम् । न तु गर्वोद्विक्तत्वम् । विद्याफलं विनीतत्वं बुद्धेः फलमनाग्रहः इति वचनात् । वित्तस्य न्यायार्जितधनस्य पात्रे 'योग्यभाजनयोः पात्र'मित्यमरः । यद्वा "न विद्यया केवलया तपसा केवलेन वा । यत्र वृत्त...चोमे तद्धि पात्रं प्रचक्षते" इति विज्ञानेश्वर-स्मरणात् । कुलशीलवयोवृत्तविद्यातपःसंपन्ने सत्पात्रे व्ययस्यागो विभूषणम् । न तु विटनटगायकादौ । पात्रपाणिकमलार्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्ट इति श्रीहर्षवचनात् । तपसः व्रतोपवासादिनियमस्य अक्रोधः मनः प्रज्वलनराहित्यम् । क्वचित्प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ् समास इष्यते । विभूषणं न तु कोपनत्वम् । तदुक्तम् । क्षमा रूपं तपस्विनामिति । प्रभवितुः समर्थस्य क्षमा अपकारसहनं विभूषणम् । न तूत्पथप्रतिपन्नत्वम् । यथाह चाणक्यः—'शक्तानां भूषणं क्षमा' इति । धर्मस्य यज्ञ-दानादिरूपस्य निर्व्याजता दम्भराहित्यं विभूषणम् । न तु तद्राहित्यम् । तदुक्तम्—'अन्यायवित्तेन कृतो हि धर्मः सव्याज इत्यादुरशेषलोकाः । न्यायार्जितेऽर्थे स स एव धर्मो निर्व्याज इत्यार्यजना वदन्ति' इति । तथा सर्वेषामपि पुंसां सर्वकारणं ऐश्वर्याद्यशेषनिदानमिदमुपवर्णितमेकमेव शीलं परं सौजन्याद्यपेक्षयोत्कृष्टं भूषणम् । ऐश्वर्यसौजन्याद्यनेकश्रेयः साधकत्वात्तत्प्रसाधकत्वाच्च सर्वदा शीलमेवाश्रयणीयमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ८० ॥

इति नीतिशतकव्याख्याने धैर्यपद्धतिवर्णनं नामाष्टमं दशकम् ।

(अथ दैवपद्धतिः)

अथ धैर्यशीलयोरपि दैवायत्तत्वात्तन्निरूपणानन्तरं दैवपद्धतिं निरूपयति—

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः

स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो रावणः

इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे

तद्यत्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥ ८१ ॥

यस्य बलभिदः नेता शिक्षकः हिताहितोपदेष्टा बृहतां वाचां पतिः बृहस्पतिः न तु यः कश्चित् । 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुदूतलोपश्च' इति सुडागमतलोपौ । प्रहरणमायुधं तु वज्रं दम्भोलिः पर्वतपक्षच्छेदनेऽप्यकुण्ठितधारमिति भावः । न तु यत्किञ्चिदयोमयम् । सैनिकाः सेनानायकाः सुराः प्रबलतरा देवाः, न तु दुर्बलजनाः । दुर्गं गुप्तिस्थानं स्वर्गो लोकः, न तु मृत्पाषाणादिनिर्मितम् । अनुग्रहः परिपालनतात्पर्यं

हरेः खलु सकललोकाधीश्वरस्य विष्णोर्नतु क्षुद्रदेवतायाः, तस्यावरजभावेनाव-
तीर्णत्वादिति भावः । रावणः प्रधानहस्ती ऐरावणो दिग्गजेन्द्रः, न तु यः कश्चित्क-
लभः । इत्यनेन प्रकारेण । बलं नामासुरं भिनत्ति इति बलभिदिन्द्रः । आश्चर्य-
बलान्वितः असाधारणत्वादत्युन्नतशक्तियुक्तोऽपि । 'बलं सैन्यं बलं ल्यं बलं
शक्तिर्बलोऽसुरः' इति उभयत्रापि शाश्वतः । संगरे रणे । परैर्दानवैर्भग्नः पराजितः
तत्तस्मात्कारणात् व्यक्तं स्फुटं यथा तथा दैवमेव प्राणिमात्रस्य हिताहितप्रापको
विधिरेव । 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः । शरणं रक्षकं ननु ।
पौरुषं पुरुषकारः । पुरुषस्य कर्म पौरुषमिति विग्रहः । 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' इति
युवादित्वाद्ण् । 'पौरुषं पुरुषस्योक्तं भावे कर्मणि तेजसि' इति विश्वः । धिग्धिक् पौनः-
पुन्येन निन्द्यमित्यर्थः । 'धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयोः' इत्यमरः । वृथा व्यर्थम् । अप्रयोजकत्वा-
दिति भावः । धिग्धिगिति 'नित्यवीप्सयोः' इत्याभीक्ष्ये द्विरुक्तिः । तद्योगात्
पौरुषमिति द्वितीया । 'उभसर्वतसोः कार्याधिगुपर्यादिषु त्रिषु । द्वितीयाम्रेडितान्तेषु
ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' । इति वचनात् । अतः पौरुषस्याकिञ्चित्करत्वात् दैवमेव
प्राधान्येनाश्रयणीयमिति भावः । अयमेव 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवं
प्रधानमिति कापुरुषा वदन्ति । दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न
सिध्यति कोऽत्र दोषः' इत्यादिवचनस्य दत्ततिलाञ्जलिरिति वेदितव्यम् । अत्र सामि-
प्रायविशेषणत्वात् परिकरालंकारः । तदुक्तम्—'सामिप्रायविशेषणं परिकरः' इति ।
शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ८१ ॥

अथ बन्धमोक्षयोर्हानिवृद्धयोरपि दैवमेव कारणमित्याह—

भग्नाशस्य करण्डपिण्डततनोर्ग्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाबुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिन-
स्तृप्तस्तपिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा
स्वस्थास्तिष्ठत दैवमेव हि परं वृद्धौ क्षये कारणम् ॥ ८२ ॥

आखुर्मूषकः । 'उन्दुर्मुषिकोऽप्याखुः' इत्यमरः । नक्तं रात्रौ विवरं बिलं अर्थात्कर-
ण्डस्यैवेति भावः । 'सुषिरं विवरं बिलम्' इत्यमरः । कृत्वा भग्नाशस्य प्रतिनिभक्षत्वादुपहत-
मनोरथस्य । कुतः ? करण्डे पेटिकायां पिण्डिता पिण्डीकृता, वलयितेति यावत् ।
तत्करोति ण्यन्तात्कर्मणिक्तः । तनुः कायो यस्य तस्य । आसारप्रासारश्चन्यतयाति-
कृच्छ्रदशामापन्नस्येत्यर्थः । अत एव क्षुधाबुभुक्षया ग्लानेन्द्रियस्य आहारालाभाद्विन-
ष्टेन्द्रियपाटवस्येत्यर्थः । भोगिनः सर्पस्य मुखे स्वयमेव दैववशान्निपतितः प्रविष्टः ।
'अन्यथा चिन्तितं कार्यं दैवमन्यत्र चिन्तयेत् । विषचूर्णप्रयोगेण वेद्यामाता
विनश्यति' इति न्यायात् । करण्डमध्यस्थामिषबुभुक्षया विवरं कृत्वा स्वयमेव बुभुक्षित-
कृष्णसर्पमुखप्रवेशेन नष्ट इत्यर्थः । ततोऽसौ भोगी तपिशितेन मूषकमासेन तृप्तः
सन् तेनैव मूषकविरचितेनैव पथा विवरेण सत्वरं शीघ्रं यातो बहिर्निर्गत्य पलायितः ।
अतः, हे जना इति शेषः । स्वस्थाः स्थिरचित्ताः सन्तस्तिष्ठत । कुतः ? वृद्धौ क्षये च
दैवमेव परमुत्कृष्टं कारणम्, हि न त्वन्यत् । अतो मूषकभोगिदृष्टान्तेन स्वस्थैर्भा-
व्यम्, न तु अप्रयोजकपौरुषालम्बनपरैरिति भावः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ८२ ॥

अथ दैवायतिकतदन्ययोरवस्थामाह-

यथा कन्दुकपातेनोत्पतत्यार्यः पतन्नपि ।

तथा त्वनार्यः पतति मृत्पिण्डपतनं यथा ॥ ८३ ॥

आर्यो दैवायतिकः कन्दुकस्य गण्डुकापरपर्यायस्येन्द्रकाकारबालक्रीडासाधनस्य पातेन यथा पतनेन सदृशमित्यर्थः 'यथा सादृश्ययोग्यत्ववीप्सार्थानतिवृत्तिषु' इत्यभिधानात् । पतन्नपि कुतश्चिन्मितास्त्रीचैर्भवन्नपि उत्पतति पुनस्तूर्णमुद्रच्छति, यथा कन्दुकः अधः पतितस्तदुत्तरक्षण एव पुनरूर्ध्वं गच्छति तद्वदित्यर्थः । अनार्यः अदैवायतिकस्तु तथा तत्पतति कथमिव मृत्पिण्डपतनं यथा मृद्गोलकपतनमिव । मृत्पिण्डवत्पतित्वा भुवि विलीयते न तु पुनरुद्रच्छतीत्यर्थः । अतः सर्वेषामप्युच्चनीचभावयोर्दैवमेव कारणमिति भावः ॥ ८३ ॥

दैवोपहतस्य न कुत्रापि सुखप्राप्तिरित्याह-

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः संतापिते मस्तके

गच्छन्देशमनातपं द्रुतगतिस्तालस्य मूले स्थितः ।

तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः

प्रायो गच्छति यत्र दैवहतकस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥ ८४ ॥

खल्वाटः इन्द्रलघ्वाख्यरोगेण विनष्टलोमशिरस्कः । आन्ध्रभाषायां 'बद्धतलवांडु' । मस्तके निजशिरसि दिवसेश्वरस्य सूर्यस्य किरणैः संतापिते पीडिते सति अनातपमातपशून्यं देशं प्रति द्रुतगतिर्गर्भतालस्य मूले स्थितः तालवृक्षस्याधस्तादतिष्ठदित्यर्थः । तत्र तालमूलेऽपि पतता वृन्ताद्गलता महाफलेन गुरुतरफलेनास्य खल्वाटस्य शिरो मस्तकं शब्देन पटपटध्वनिना सह सशब्दं यथा तथा भग्नं विदलितम्, अभूदिति शेषः । कुत एतदित्याशङ्क्य दैवप्रातिकूल्यादित्याह-दैवहतको दैवोपहतः दैवानुग्रहशून्य इत्यर्थः । यत्र गच्छति यं देशमुद्दिश्य गच्छति तत्र तं देशमुद्दिश्यैव आपद उपद्रवा अपि प्रायो भूम्ना यान्ति, तदेतन्मशकभयाद् ग्रामं विहाय गच्छतोऽरण्ये व्याघ्रग्रहणप्रायमभूदित्यर्थः । दैवेऽनुकूले किं नाम न शुभाय प्रवर्तते । प्रतिकूलेन दैवेन जनस्येव मनोरथा इत्यादिवचनैर्दैवानुकूल्यप्रातिकूल्ययोरेव प्राणिनां शुभाशुभप्राप्तिनिमित्तत्वादिति भावः । शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ८४ ॥

इतोऽपि दैवमेव बलीय इति मम निश्चय इत्याह-

गजभुजंगविहंगमबन्धनं शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनम् ।

मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥ ८५ ॥

गजानामरण्यानीसंचारिणां सांनिध्यमात्रेणैव विमर्दनशीलानां मत्तेभानां च भुजंगानां बल्मीककुहरवर्तिनां विषाग्निरुषभीषणतया संनिधानं प्रति गन्तुमप्यशक्यानां सर्पाणां च विहंगमानामन्तरिक्षसंचरणशीलतयात्यन्तदुर्ग्रहाणां पक्षिणां च बन्धनकूटगर्तमणिमन्त्रौषधजालादिभिर्निरोधनं च शशिदिवाकरयोर्जगत्प्रकाशकयोर्धर्माधर्मसाक्षिणोः सकललोकाराध्ययोर्ग्रहनायकयोर्ग्रहपीडनं राहुकेतुग्रसनं च मतिमतां तत्त्वार्थ-

निर्णयसमर्थानां प्राज्ञानां सुमेधसां द्रविद्रतामकिंचनत्वं च निरीक्ष्य विलोक्य । अहो
इत्याश्चर्ये । विधिदैवम् । 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः । बलवान् प्रबलः । न तु
तेजो बलपौरुषादिकमित्यर्थः । इति मे मम मतिर्निश्चयः । अर्थनिर्धारणं मतिरिति
तज्ज्ञाः । अघटितघटनापटीयसा विधिना को वा कीदृशावस्थापन्नो न क्रियत इति
भावः । द्रुतविलम्बितवृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ८५ ॥

अथ विधेरनभिज्ञतामापादयति—

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलंकरणं भुवः ।

तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेदहह कष्टमपण्डितता विधेः ॥ ८६ ॥

विधिः अशेषगुणाकरं सकलसद्गुणनिधिं अतः भुवोऽलंकरणं मण्डनं पुरुषरत्नं
पुरुषश्रेष्ठम् । 'रत्नं श्रेष्ठे मणा'विति विश्वः । सृजति तावत् निर्मिनोति खलु । तदपि
पुरुषरत्नमपि तत्क्षणभङ्गि तस्मिन्नेव क्षणे भङ्गशीलम्, अल्पकालावस्थायीत्यर्थः । करोति
चेत् विधेरपण्डितता मौढ्यम् । न करोति चेत्पाण्डित्यमेवेत्यर्थः । अहहेति खेदे, कष्ट-
मतिकृच्छ्रम् । प्रायशो विशिष्टपुरुषरत्नस्य क्षणिकत्वेनैव निर्माणादपण्डित एव विधिरिति
भावः । वृत्तं तु पूर्ववत् ॥ ८६ ॥

अथ विधिकृतमेकं चोद्यमाह—

येनैवाम्बरखण्डेन संवीतो निशि चन्द्रमाः ।

तेनैव च दिवा भानुरहो दौर्गत्यमेतयोः ॥ ८७ ॥

निशि रात्रौ चन्द्रमाः येनैव यावतैवाम्बरखण्डेन वस्त्रशकलेन संवीतः आच्छा-
दितः, भवति इति शेषः । दिवा अहनि तेनैव तावतैवाम्बरखण्डेन भानुः सूर्यश्च
संवीतो भवति । अतः एतयोश्चन्द्रसूर्ययोर्दौर्गत्यं संकुचितदशापन्नत्वं, प्राप्तमिति शेषः ।
अहो बहुयोजनपरिमितविस्तीर्णमण्डलाधिष्ठानदेवतयोरप्येतयोरम्बरखण्डमात्रसंछाद-
नावस्थापन्नत्वादाश्चर्यमित्यर्थः । एतच्चापि दैवकृतचोद्यमेवेत्यवगन्तव्यम् ॥ ८७ ॥

अथ सकलसाधनसंपन्नेनापि दैवनियोगो लङ्घयितुं न शक्यत एवेत्याह—

अयममृतनिधानं नायकोऽप्योषधीनां

शतभिषगनुयातः शंभुमूर्ध्नोऽवतंसः ।

विरहयति न चैनं राजयक्ष्मा शशाङ्कं

हतविधिपरिपाकः केन वा लङ्घनीयः ॥ ८८ ॥

अयं परिदृश्यमानश्चन्द्रः अमृतस्य सुधाया निधानं निधिरपि ओषधीनां संजीवन्या-
दीनां नायकोऽधीशोऽपि । 'ओषधीशो निशापतिः' इत्यभिधानात् । शतभिषजा शतभिष-
गाख्यनक्षत्रेण शतेन शतसंख्याकैर्भिषग्भिर्वैद्यैश्च । 'भिषग्वैद्यश्चिकित्सकः' इत्यमरः ।
अनुयातः अनुसृतोऽपि । किं बहुना शमस्माद्भवतीति शंभुस्तस्य सकललोकक्षेमंकरस्य
शंकरस्य मूर्ध्नोऽवतंसः शिरोभूषणमपि भवतीति शेषः । तथाप्येनमुक्तविशेषविशिष्टम् ।

‘द्वितीया टौ खेन’ इत्यादेशः । शशाङ्कं चन्द्रं राजयक्ष्मा क्षयरोगो न च विरहयति, न त्यजति । यद्यप्येकैकविशेषणविशिष्टत्वमेव सकलरोग निवारणहेतुस्तथापि चन्द्रस्य नारोग्यसिद्धिरित्येतन्महदाश्चर्यमित्यर्थः । अतः हतविधेः नष्टदैवस्य परिपाको नियोगः केन वा पुंसा लङ्घनीयोऽतिक्रमणीयः ? न केनापीत्यर्थः । निर्वेदोपालम्भानुसंधानार्थको हतशब्दः । राजयक्ष्मेत्यत्र राज्ञश्चन्द्रस्य यक्ष्मा राजा चासौ यक्ष्मा चेति वा । अथ वा यक्ष्मणां रोगाणां राजा राजयक्ष्मा । ‘राजदन्तादिषु परम्’ इति उपसर्जनस्य यक्ष्मशब्दस्य परनिपातः । यथाह बाहटः—‘अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः । राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराडिति च स्मृतः । इति ।’ मालिनीवृत्तमुक्तम् ॥ ८८ ॥

मनोनियन्ताप्ययमेवेति सखायं संबोधयति—

प्रियसख विपद्दण्डाघातप्रपातपरंपरा-

परिचयबले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः ।

मृदमिव बलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालव-

भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥ ८९ ॥

प्रियश्चासौ सखा च तस्य संबुद्धिः हे प्रियसख ! ‘राजाहःसखिभ्यष्टच्’ इति टच् । खलः शठोऽयं विधिः । प्रगल्भकुलालेन तुल्यं प्रगल्भकुलालवत्, प्रौढकुम्भकार इवेत्यर्थः । ‘तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः’ इति वतिप्रत्ययः । तद्धितगतेयमुपमा । मनो मदीयचित्तं मृदं मृत्तिकामिव बलात्सामर्थ्यात् । यद्वा बलाद्वलमाश्रित्य । ल्यब्लोपे पञ्चमी । पिण्डीकृत्य कलापीकृत्य विपदः आपदः दण्डाघाता मुद्गरघट्टनानीव तेषाम् । यद्वा विपद्दण्डाघातानां विशिष्टपादाघातदण्डाघातानां तथा प्रपातानां पातनानां च या परंपरा आवृत्तिः तथा यः परिचयः संस्तवो निबिडावयवपरस्परसंनिवेशश्च स एव बलं दार्ढ्यं यस्य तस्मिन् चिन्ता विविधविषयविचारः चक्रं कुलालचक्रमिव । तस्मिन्निधाय भ्रमयति आवर्तयति । अत्र भ्रमणे किं विधास्यति किं करिष्यति वा नो जानीमः । कुलालस्तु घटं करिष्यति, अयं तु किं करिष्यति वा न विद्म इत्यर्थः । हरिणी वृत्तम् ॥ ८९ ॥

एवमापत्परंपराचरणे मनोधैर्यध्वंसो भविष्यतीति न मन्तव्य इति विधिमलक्ष्यी-
कृत्योपालम्भमानो निगमयति—

विरम विरमायासादस्मादुरध्यवसायतो

विपदि महतां धैर्यध्वंसं यदीक्षितुमीहसे ।

अयि जडविधे ! कल्पापायेऽप्यपेतनिजक्रमाः

कुलशिखरिणः क्षुद्रा नैते न वा जलराशयः ॥ ९० ॥

अयि इति प्रश्ने । ‘अयि प्रश्नानुनययोः’ इति विश्वः । जडेति मान्ये । विधे हे दैवेति संबोधनत्रयम् । अस्मादुरध्यवसायतो दुराग्रहाय आयासस्तस्माद्विरम विरम आभीक्ष्ण्येन विरतो भव । ‘निल्यवीप्सयोः’ इत्याभीक्ष्ण्ये द्विरुक्तिः । कोऽसावायास इत्यत आह—यत् यस्मादायासात् विपदि त्वत्कृतापदि महतां महात्मनां धैर्यध्वंसं

धीरत्वहानिमीक्षितुं द्रष्टुमीहसे वाञ्छसि, अस्मादिति संबन्धः । तस्यात्यन्तासंभावितत्वावन्मात्रस्यैवावशिष्यमाणत्वाच्चेति भावः । कुतो वाऽसंभावितत्वमित्याशङ्क्य तत्र दृष्टान्तमाह—कल्पापाये कल्पान्तेऽपि अतिसंकटेऽपि किमुतान्यदेति भावः । अपेतनिजकमा अतिक्रान्तस्वमर्यादाः सन्त एते प्रसिद्धाः कुलशिखरिणो महेन्द्रादिसप्तकुलाचला वा जलराशयः समुद्रा वा क्षुद्रा नीचा न खलु, किंतु धैर्यावलम्बनेनात्यक्तमर्यादा एव भवन्ति । अत एतद्दृष्टान्तेन धीरधैर्यध्वंसने यत्नो न कर्तव्य इति भावः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ९० ॥

तथापि दैवमेव शरणमित्याह—

दैवेन प्रभुणा स्वयं जगति यद्यस्य प्रमाणीकृतं

तत्तस्योपनमेन्मनागपि महान्नैवाश्रयः कारणम् ।

सर्वाशापरिपूरके जलधरे वर्षत्यपि प्रत्यहं

सूक्ष्मा एव पतन्ति चातकमुखे द्वित्राः पयोबिन्दवः ॥ ९१ ॥

प्रभुणा निग्रहानुग्रहसमर्थेन दैवेन जगति लोके यस्य पुंसो यद्यावद्वस्तु प्रमाणीकृतं निर्दिष्टं तद्वस्तु तस्योपनमेत्समीपमुपगच्छेत् । महानाश्रयो मनागीषदपि नैव कारणं न साधनम् । हि बहुफलप्राप्ताविति शेषः । तथा हि सर्वाशापरिपूरके सकललोकमनोरथपरिपूरके सकलदिगन्तव्यापके वा । 'आशा दिगतिर्तृष्णयोः' इति विश्वः । जलधरे अम्बुवाहे । पचाद्यच् । अहन्यहनि प्रत्यहम् । 'अव्ययं विभक्ति—'इत्यादिना यथार्थेऽव्ययीभावः । अनश्च 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' इति समासान्तः । वर्षति सत्यपि । चातकस्य पक्षिणो मुखे चञ्चूपुटे सूक्ष्मा अणव एव, तथापि द्वौ त्रयो वा द्वित्रा एव । 'संख्ययाव्ययासन्न—'इत्यादिना बहुव्रीहिः । 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' इति डच्प्रत्ययः । पयोबिन्दवो जलकणाः पतन्ति न त्वाश्रयमहत्तया बहुजलबिन्दवः । तत्रापि दैवस्यैव नियन्तृत्वादिति भावः । तस्मात्सर्वदा दैवमेव शरणमिति तात्पर्यम् । अत्र 'सर्वसहापतितमम्बु न चातकानाम्' इत्यादिना भूपतितोदकस्य स तेषां रोगहेतुत्वान्मासाष्टकं तूष्णीं स्थित्वा वर्षाप्रादुर्भावे आकाशे चञ्चूपुटं विवृत्य तिष्ठति । तत्र कतिपय एव जलबिन्दवः पतन्ति, न तु बहवः । अतो द्वित्रा इत्युक्तमित्यवगन्तव्यम् । उक्तं च चातकानां जलधरैकशरणत्वम् । 'अन्ये ते विहगाः पयोद ! पुरतो धावन्ति तृष्णातुरा वापीकूपतटाकसागरसरित्तोयेषु बद्धादराः । मामद्यापि न वेत्सि चातकशिंशुं यः शुष्ककण्ठोऽपि सन्नान्यं पश्यति नोपसर्पति मनाङ् न स्तौति न ध्यायति' ॥ इति अत्र पद्धतावेकं पद्यमधिकं तिष्ठति । तदेतदधिकं नैव दुष्यतीति कविनारचितं वोतान्येन प्रक्षिप्तं वा निपुणैरवश्यं परामृश्यं, मया तु व्याख्यातम् । शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ९१ ॥

इति नीतिशतकव्याख्याने दैवपद्धतिवर्णनं नाम नवमं दशकम् ॥

(अथ कर्मपद्धतिः)

अथ यदुक्तं दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषमित्युपक्रमे च दैवेन प्रभुनेत्युपसंहारे च एतन्मध्यसंदर्भे च दैवस्यैव सकलनियामकत्वम् । तदयुक्तम् ; तस्यापि कर्मनियम्यत्वेनास्वातन्त्र्यादित्याशयेन दैवपद्धतिनिरूपणानन्तर्येण कर्मपद्धतिं निरूपयिष्यंस्तस्य सर्वदैवनियामकत्वेन विधेस्तन्नियामकत्वेन कर्मणां च प्राबल्यं प्रपञ्चयन्देवादीनां क्रमेण नमस्कारमाचरति—

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं यदि किमपरैः किञ्च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥ ९१ ॥

देवानिन्द्रादीन्मस्यामोऽभिवादयामः । अत्रोपपदविभक्त्यपेक्षया कारकविभक्तेर्वलीयस्त्वाद्यमसा योगेऽपि न चतुर्थी । अथैकान्ततया नैतेषामिवाभिवाद्यत्वमेतन्नियामकस्य कस्यचिद्विधेर्विद्यमानत्वात्सोऽप्यभिवाद्य एवेत्याशयेनाह—ते देवा अपि, हतो यो विधिः ब्रह्मा तस्य वशगा ननु, तन्नियम्याः खल्वित्यर्थः । अतो विधिरपि वन्द्य अभिवाद्नीयः । न च विचार्यमाणे तस्यापि स्वातन्त्र्यमित्याह—सोऽपि विधिरपि प्रतिनियतं कर्मणां यदेकफलं मुख्यफलं तद्दातीति तथोक्तः । आतोऽनुपसर्गे कः । यस्य कर्मणो यत्फलं प्रतिनियतं तत्कर्म नियतफलप्रदं, न तु तदतिरिक्तफलप्रदानसमर्थ इत्यर्थः । तथा च फलं कर्मायत्तं यदि कर्माधीनं चेत्तर्हि अपरैर्दैवैः किं विधिना च किम् ? न किञ्चिदित्यर्थः । तेषामेव फलदानस्वाम्यादिति भावः । तत्तस्मात्कर्मभ्यो यज्ञदानतपोरूपेभ्यो 'नमः स्वस्ति—'इत्यादिना चतुर्थी । यतः विधिरपि येभ्यः कर्मभ्यो न प्रभवति नालं न पर्याप्तः, तन्नियमनसमर्थो न भवतीत्यर्थः । नियम्यस्य नियामकत्वासंभवादिति भावः । अत्रालमर्थग्रहणात्पूर्वक[?]श्चतुर्थी । अत्र पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रत्युत्कर्षावहत्वान्मालादीपकाख्योऽलंकारः । लक्षणं तूक्तम् । शिखरिणी वृत्तम् ॥९१॥

यदुक्तं 'विधिरपि न येभ्यः प्रभवति'इति तदेव प्रपञ्चयति—

ब्रह्मा येन कुलालवच्चियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं सेवते

सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥ ९२ ॥

येन कर्मणा कर्त्रा ब्रह्मा । 'बृह वृद्धौ'इति धातोर्बृहणशीलः । स्वयंभूः सुरश्रेष्ठोऽपीति भावः । ब्रह्माण्डं सप्तावरणावृतं जगद्गोलकमेव भाण्डं कटाहस्तस्योदरे गर्भे । कुलालेन कुम्भकारेण तुल्यं कुलालवत् । नियमितः जरायुजादिनानाविधजन्तुसंततिनिर्माणव्यापारक्लेशभागित्वेन नियोजितः । येन विष्णुः 'विष्णु व्याप्तौ' इति धातोः व्यापकशीलः कुक्षिस्थाखिलभुवनः सकललोकनियन्ता श्रीहरिरपीति भावः । महासंकटे दानवसंहरणादिकष्टकर्मानुबन्धितयात्यन्तनिबन्धे दशावतारा मत्स्यकूर्माद्यवतारा एव गहनं महारण्यं तस्मिन् क्षिप्तः प्रवर्तितः । येन कर्मणा रुद्रः । रोदयति प्रलय इति व्युत्पन्नरुद्रशब्दवाच्यः । 'यदरोदीतद्भद्रस्य रुद्रत्वम् । एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्य'

इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धः सृत्युज्जयोऽपीति भावः । कपालं ब्रह्मशिरः कपालमेव पाणिपुटकं करतलस्थभिक्षापात्रं तत्र भिक्षाटनं सेवते, कपालस्थभिक्षात्रं भुङ्क्ते इत्यर्थः । किं च येन सूर्यः ग्रहनायकस्त्रिमूर्त्यात्मकः सकललोकप्रकाशकोऽपीति भावः । नियमित इति शेषः । गगने अन्तरिक्षे नित्यमेव, न तु क्षणमात्रमपि विश्रमावकाश इति भावः । भ्राम्यति निमिषार्धेनैकेन द्वे च शते द्वे सहस्रे द्वे कममाणाय योजनानां नमोऽस्तु ते नलिननाथायेत्युक्तरीत्या परिवर्तते । 'वा भ्राश-' इत्यादिना विकल्पात् इत्यन्वयः । तस्मै ब्रह्मादिनियन्त्रे कर्मणे नमः । तथाभूतस्यैव नमस्कारार्हत्वादिति भावः । शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् ॥ ९२ ॥

एवं श्लोकद्वयेन सकलनियामकत्वकथनेनाभिवादनीयत्वप्रसाधनात्स्वयमभिवाद्य संप्रति बहुश्रेयोहेतुत्वात्तस्योपादेयतामाह—

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः

प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ।

तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं

हे साधो ! व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः ॥ ९३ ॥

या सत्क्रिया खलांश्च दुर्जनानपि साधूंस्सज्जनान्करोति, मूर्खानपि पण्डितानपि विदुषः पण्डितान्करोति, द्वेषिणः शत्रून्पि हितान्सुहृदः करोति, अक्ष्णः परोक्षमतीन्द्रियमपि वस्तु । 'पञ्चमी' इति योगविभागात्समासः । राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्याक्षिशब्दस्य परनिपातः । पारस्करादित्वात्सुडागमः । तस्याभक्तत्वाद्विसज्जनीयाभावात्सत्वमेवेति दशदीपिकासर्वस्वकारः । भोजराजस्तु 'परोक्षं परो परैस्तन्वा जुष' इत्यादौ पर इति सकारान्तं निपातमाह । प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षं इन्द्रियगोचरं कुरुते 'कुगतिप्रादय' इति तत्पुरुषसमासः । तथा हालाहलं विषमपि तत्क्षणात् सद्य एव अमृतं करोति, तादृक्सामर्थ्यसंभवादिति भावः । अतः हे साधो सज्जन निपुणेति वा । 'साधुः समर्थे निपुणे वा' इति काशिकायाम् । वाञ्छितमभिलषितं फलम् । भोक्तुमिच्छसि चेदिति शेषः । भगवतीं पूज्यां तां प्रसिद्धां सत्क्रियां सत्कर्माधाय सेवस्व चरेत्यर्थः । तस्या एवाशेषफलदायकत्वादिति भावः । किंतु व्यसनैर्विपुलेषु आपद्भूयिष्ठेषु 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः । गुणेषु शब्दादिविषयेषु । 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रिया-मुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती । वृथा व्यर्थमास्थामासक्तिं मा कृथा मा कार्षीः । तस्याः क्लेशैकफलदायकत्वादिति भावः । करोतेर्लुङि थास् । 'न माढ्योगे' इत्यङागम-प्रतिषेधः । अत्र खलादीनां साधुत्वादिकरणकथनादशक्यवस्तुकरणरूपो विशेषालंकार-भेदः । तदुक्तं विद्यानाथेन, 'आधाररहिताधेयमेकं चानेकगोचरम् । अशक्यवस्तु-करणं विशेषालंकृतिस्त्रिधा' ॥ इति ॥ ९३ ॥

वृद्धिहान्योरप्येतन्मूलकत्वमेवेत्याह—

शुभ्रं सद्य सविभ्रमा युवतयः श्वेतातपत्रोज्ज्वला

लक्ष्मीरित्यनुभूयते चिरमनुस्यूते शुभे कर्मणि ।

विच्छिन्ने नितरामनङ्गकलहक्रीडाव्रुटत्तन्तुकं

मुक्ताजालमिव प्रयाति झडिति भ्रश्यदिशो दृश्यताम् ॥ ९४ ॥

चिरं चिरकालमारभ्यानुस्यूतेऽनुवर्तमाने क्रियमाण इत्यर्थः । सीव्यतेः कर्मणि क्तः । 'च्छ्रोः शङ्गनुनासिके च' इति ऊठि यणादेशः । शुभे कर्मणि सुकृतविशेषे संभवति सतीत्यर्थः । शुभ्रं सद्म सौधादिकम् । सविभ्रमाः सविलासा युवतय- स्तरुण्यश्च । श्वेतातपत्रेणैकश्वेतच्छेत्रेणोज्ज्वला प्रकाशमाना लक्ष्मीराज्यश्रीरित्ये- तदखिलमित्यर्थः । अनुभूयतेऽनुभुज्यते तन्नान्तरीयकत्वात्तस्येति भावः । अथ विच्छिन्ने शुभकर्मणि विनष्टे सति नितरामतिशयेन अव्ययत्वादाम्प्रत्ययः । अनङ्ग- कलहो रतिरणः स एव क्रीडाकेलिस्तया हेतुना त्रुटन् भिदुरस्तन्तुसूत्रं यस्य तत्तथोक्तम् । शैषिकः कप्रत्ययः । मुक्ताजालमिव मौक्तिकनिकुरम्बमिव भ्रश्यत् भ्रंशं प्राप्नुवत्सत् सद्मा- दिकमिति शेषः । 'वा भ्राश-' इत्यादिना श्यन्प्रत्ययः । झडिति द्राक् दिशो याति 'यत्र यत्र स्थितं गेहे तत्र तत्र विनश्यति' इति वचनादिति भावः । दृश्यतां विलोक्यताम्, पर्यालोच्यतामित्यर्थः । वाक्यार्थः कर्म । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वृद्धिहान्योरस्यैव कारणत्वं द्रष्टव्यमिति भावः । उपमालंकारः ॥ ९४ ॥

अथ कर्मणामाचरणप्रकारमाह—

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यजालं

परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।

अतिरभसकृतानां कर्मणामविपत्ते-

र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥ ९५ ॥

गुणवद्गुणयुक्तं अगुणवद्गुणरहितं वा, मुख्यं वा साधारणं वेत्यर्थः । यत्कार्यजालं कर्म- जातं तत्कुर्वता आचरता पण्डितेन परिज्ञात्रा परिणतिः परिपाकावस्था यत्नतः अति- प्रयत्नेन, सावधानतयेति यावत् । अवधार्याऽनुसंधेया । यत्नत एव कर्मजातमारभ्य तथैव परिणतिपर्यन्तं प्रतीक्ष्यमित्यर्थः । उक्तान्यथाकरणेऽनर्थमाह—अतिरभसकृतानां सहसानु- ष्ठितानां कर्मणां गुणवतामगुणवतां वेति शेषः । विपाकः परिपाकः, फलमिति यावत् । आ विपत्तेः निष्पत्तिपर्यन्तं, विकल्पादाद्ये न समासः । विपूर्वात्पद्यतेर्निष्पत्त्यर्थत्वमुप- सर्गवशाद्धातूनामनेकार्थत्वादित्यवगन्तव्यम् । शल्यतुल्यः शल्यप्रायः सन् हृदयदाही मनःसंतापातिशयकारी । आभीक्ष्ण्ये णिनिप्रत्ययो भवति । सत्वरानुष्ठितकर्मणां फलं संदेहात्तन्निष्पत्तिपर्यन्तं शल्यवन्मनःपरितापकारी भवतीत्यर्थः । अतो विवेकिना सावधानमेव कर्म कर्तव्यमिति भावः । मालिनी वृत्तम् ॥ ९५ ॥

अथ सत्कर्मानुष्ठातुर्दुर्मेधस्कतामाह—

स्थाल्यां वैडूर्यमय्यां पचति तिलखलं चान्दनैरिन्धनौघैः

सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कतूलस्य हेतोः ।

छित्त्वा कर्पूरखण्डान्वृत्तिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्ता-

त्प्राप्येमां कर्मभूमिं न भजति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः ९६

विद्वरात्प्रभवतीति वैडूर्यं वालवायजमणिः । 'वैडूर्यं वालवायजम्' इत्यमरः । 'विद्वराब्ज्यः' इति व्यप्रत्ययः । अत्र विद्वरशब्दो वालवायस्यादेशः पर्यायो वा तत्रोपचरितो वा । तेन वालवायाद्विरेरसौ प्रभवति न विद्वराक्षगरात्तत्र तु संस्क्रियत इत्याक्षेपः प्रत्युक्तः । तदुक्तं 'वालवायो विद्वरं च प्रकृत्यन्तरमेव वा । न वै तत्रेति चे- द्भूयाजित्वरीवदुपाचरेत्' इति । स मनुज इह लोके वैडूर्यमय्यां वैडूर्यमणिविकारायाम् ।

‘तत्प्रकृतिवचने मयट्’ । ‘टिड्ढाणब्’ इत्यादिना ङीप् । आधारोऽधिकरणमित्यधिकरणविव-
क्षायां सप्तमी । स्थाल्यां पात्रे चान्दनैः श्रीखण्डविकारैः । वैकारिकोऽण्प्रत्ययः ।
इन्धनौघैः काष्ठसंचयैः तिलखलं तिलपिष्टं पचति पक्वं करोति, मृण्मयपात्रे साधारण-
काष्ठैः कर्तव्यं तिलपिष्टपचनं विशिष्टस्थाल्यां विशिष्टेन्धनैः करोतीत्यर्थः । तथा
सौवर्णैः सुवर्णविकारैः । पूर्ववदण् । लाङ्गलाग्रेहलमुखैः अर्कतूलस्य हेतोः, अर्काख्य-
वृक्षतूलार्थमित्यर्थः । ‘षष्ठी हेतुप्रयोगे’ इति षष्ठी । वसुधां भुवं विलिखति कर्षति ।
स्वर्गादिमहाफलसाधनयज्ञविशेषनिष्पत्त्यर्थतया विधिबोधितकर्तव्यताक्यजनभूमियोग्य-
सौवर्णलाङ्गलाग्रेऽतिकर्षणमर्कतूलार्थं करोतीत्यर्थः । तथा कर्पूरखण्डान् कर्पूरकदलि-
काण्डान् छित्त्वा कोद्रवाणां कोरदूषकाख्यसस्यविशेषाणाम् । ‘कोरदूषस्तु कोद्रवः’ इत्य-
मरः । समन्तात्सर्वतः वृत्तिमावरणं कुरुते आवेष्टनं करोति । ‘वाट आवेष्टको वृत्तिः’
इति हलायुधः । कण्टकशाखाभिः कर्तव्यं कोद्रवावरणं कर्पूरकदलिकाण्डैः करोती-
त्यर्थः । कोऽसावीदृशदुर्भग इत्यत आह—इमां कर्मभूमिं कर्माचरणयोग्यां भरतखण्डा-
त्मिकां भूमिं प्राप्य, अत्र जनितो भूत्वेत्यर्थः । भरतखण्डस्य पुण्यभूमित्वादत्राचरितं
सत्कर्माल्पमप्यधिकं फलमविलम्बेनैव ददातीत्यत इमामित्युक्तमित्यवगन्तव्यम् । यो
मन्दभाग्यो निर्भाग्यो मनुजस्तपो व्रतोपवासादि सत्कर्म न भजति न करोति स इति
संबन्धः । ‘यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि
मनीषिणाम्’ ॥ इति भगवद्वचनादवश्यकर्तव्यतया बोधितस्य तपसः अकरणे भाग्यहैन्य-
मेव कारणमिति कृत्वा मन्दभाग्य इत्युक्तम् । वैदूर्यपात्रे तिलपिष्टपचनादिवदत्यन्तदु-
र्भगत्वाभिद्योतकं कर्मभुव्यस्यां तपोननुष्ठानमिति फलितार्थः । अतः सर्वथा सत्कर्मानुष्ठेयं
श्रेयस्कामेनेति तात्पर्यम् । अत्र यस्तपो न भजति स तिलखलं पचतीत्यादि विशिष्टम-
जनपचनाद्योर्वाक्यार्थयोर्निर्दिष्टैकत्वासंभवात्सादृश्यलक्षणायामसंभवद्वस्तुसंबन्धवाक्या-
र्थवृत्तिर्निर्दर्शनाभेद इत्येतत्सर्वं मूर्खपद्धतौ ‘व्यालं बालमृणालतन्तुभिः’ इत्येतच्छ्लोक-
व्याख्यानावसरे सम्यक्प्रपञ्चितमितीहोपरम्यते । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ९६ ॥

अथ पुराकृतसुकृतविशेष एव फलनिदानम्, न त्वन्यदित्याह—

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं

विद्यापि नैव न च यत्नकृतापि सेवा ।

भाग्यानि पूर्वतपसा खलु संचितानि

काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥ ९७ ॥

आकृतिः रूपसंपत्तिः । ‘आकृतिः कथिता रूपे सामान्यवपुषोरपि’ इति विश्वः । नैव
फलति न निष्पादयत्येव फलम्, न जनयत्येवेत्यर्थः । फल निष्पत्ताविति धातोर्लट् ।
कुलं च सद्दंशो वा नैव फलति शीलं सत्स्वभावो वा नैव फलति, विद्या वेदवेदाङ्गादि-
रूपा विद्यासंपत्तिरपि नैव फलति । यत्नकृता प्रयत्नानुष्ठिता सेवा राजादिपरिचर्यापि
च न फलति, किंतु पूर्वतपसा पुराकृतसुकृतेन संचितानि संपादितानि पुरुषस्य
संबन्धीनि भाग्यान्यदृष्टविशेषा एव वृक्षा यथा रसालपनसादिवृक्षा इवेत्यर्थः । ‘इव-
वद्वायथाशब्दा’ इति सादृश्यपर्यायेष्वाचार्यदण्डी । काले परिपाकसमये फलन्ति फलानि
प्रसुवते खल्वित्यर्थः । तपोजनितभाग्यविशेषमन्तरेण फलजनकमन्यन्न किञ्चिदप्यस्तीति
भावः । उपमालंकारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ९७ ॥

सर्वथापि भाव्यभाविनोः प्रतिनियतत्वं कर्मवशादेवेत्याह—

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रूञ्जयत्वाहवे

वाणिज्यं कृषिसेवने च सकला विद्याः कलाः शिक्षतु ।

आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्कृत्वा प्रयत्नं परं

नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः ॥ ९८ ॥

अम्भसि मज्जतु मग्नो भवतु, जलस्तम्भादिनेति भावः । जन इति शेषः । मेरुशिखरं यातु गच्छतु, केनचियोगानुसंधानेनेति भावः । आहवे युद्धे शत्रूञ्जयतु, दण्डनीतिसंपत्त्येति भावः । वाणिज्यं क्रयविक्रयादि व्यवहारम् । कृषिः कर्षणं सेवनं परिचर्या । दौल्यादिनेति भावः । ते कृषिसेवने च शिक्षत्वभ्यसतु, वार्तानैपुण्येनेति भावः । तथा सकलाः समस्ता विद्या, वेदवेदाङ्गादयः । ‘अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश’ ॥ इति शास्त्रपरिगणिताश्चतुर्दश-विद्याश्च कला इतिहासागमप्रभृतीश्चतुःषष्टिकलाश्च शिक्षतु, निजप्रज्ञाबलेनेति भावः । तथा परमुत्कृष्टं प्रयत्नं पादुकासिद्ध्यादिरूपमाकाशयानसाधनं कृत्वा संपाद्य खगवत्पक्षिवत् विपुलं इयत्तावच्छिन्नपरिमाणशून्यं आकाशं प्रयातु, खेचरविद्ययेति भावः । तथापि कर्मवशतः धर्माधर्मवशादिहास्मिन् लोके अभाव्यं अभावि फलं न भवति । तथा भाव्यस्यावश्यं भाविनः फलस्य नाशः निरोधः कुतः ? न कुतोऽपीत्यर्थः । ‘यद्भावि तद्भवत्येव यदभावि न तद्भवेत् । भवितव्यं भवत्येव नारिकेलफलाम्बुवत् ॥ गन्तव्यं गच्छति सदा गजभुक्तकपित्थवत्’ ॥ इत्यादिवचनेन तस्य ब्रह्मणापि निवारयितुमशक्यत्वादिति भावः । अत्राम्भोमज्जनादीनां चतुःषष्टिकलास्वेवान्तर्भूतत्वमवगन्तव्यम् । चतुःषष्टिकलास्तु—‘इतिहासा आगमाश्च काव्यालंकारनाटकम् । गायकत्वं कवित्वं च कामशास्त्रं दुरोदरम् ॥ देशभाषालिपिज्ञानं लिपिकर्म च वाचनम् । सर्वाणि चावदानानि खरशास्त्रं तु शाकुनम् ॥ सामुद्रिकं रत्नशास्त्रं रथाश्वगतिकौशलम् । मल्लशास्त्रं सूदकर्म भूरुहाणां च दोहदम् ॥ गन्धवादो धातुवादः खन्यावादो रसस्य च । जालवादोऽग्निसंस्तम्भः खड्गस्तम्भो जलस्य च ॥ वाचस्तम्भो वयःस्तम्भो वश्याकर्षणमोहनम् । विद्वेषणोच्चाटने च मारणं कालवञ्चनम् ॥ पयसि प्लवचातुर्यं पादुकासिद्धिरेव च । मृत्तिसिद्धिर्धुटिकासिद्धिरैन्द्रजालिकमेव च ॥ आज्ञनं नरदष्टेस्तु वञ्चनं खरवञ्चनम् । मणि-मन्त्रौषधानां च सिद्धयश्चोरकर्म च ॥ चित्रलोहाश्ममृदास्वेणुवर्माञ्जनक्रिया । अदृश्य-करणी दूतकरणी मृगयारतिः ॥ वाणिज्यं पाशुपाल्यं च कृषिराहवकर्म च । लावकुक्कुट-मेषादियुद्धकारणकौशलम् । चतुष्षष्टिकलाश्चैताः कलाविद्धिः प्रकीर्तिताः ॥’ इति ॥ ९८ ॥

अथ अतिसंकटस्थस्यापि प्राचीनपुण्यसद्भावे न क्षतिरित्याह—

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।

सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥ ९९ ॥

वने हिंस्रजन्तुप्रचुरे महारण्ये वा । रणे सर्वतः शस्त्रसंपाते महासंप्रहारे वा । तथा शत्रूणामुपद्रवकारिणाममित्राणां च जलानां विनिमज्जनहेतुभूतानां नदीप्रस्रवणादितोयानां च अग्नीनां दाहकारिणां दावानलादीनां च मध्ये वा । महार्णवे अगाध-जले महासमुद्रे वा । पर्वतमस्तके अभ्रंक्रषगिरिशिखरे वा । सुप्तं सुषुप्त्यवस्थापन्नं वा । अथ प्रमत्तं जाग्रदवस्थायामप्यनवहितं वा । ‘प्रमादोऽनवधानता’ इत्यमरः । तथा

विषमस्थितं वा अतिसंकटस्थं वा इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारोपायविचारविधुरबुद्धिवृत्त्यु-
पाश्रितं वेत्यर्थः । पुरुषमिति शेषः । पुरा कृतानि पुण्यानि प्राग्भवीयसुकृतानि रक्षन्ति
नरसिंहवत् वराहवत् वामनवत् केशववत् श्रीरामवत् पञ्चायुधस्तोत्रपाठवच्च परिपा-
लयन्तीत्यर्थः । 'जले रक्षतु वाराहः स्थले रक्षतु वामनः । अटव्यां नरसिंहश्च सर्वतः
पातु केशवः ॥ रामोऽद्रिकूटेष्वथ विप्रवासे सलक्ष्मणोऽव्याद्धरताग्रजो माम् । वने
रणे शत्रुजलाग्निमध्ये यहच्छयापत्सु महाभयेषु । इदं पठन्स्तोत्रमहाकुलात्मा सुखी
भवेद्यैः कृतसर्वरक्षः ॥' इत्यादिवचनजातमत्र प्रमाणमिति भावः । पुरा कृतसुकृत-
वज्रकवचाभिगुप्तनिखिलमर्मस्थानस्यायुष्मतो धर्मवीरस्य न कुत्रापि क्षतिरिति परमार्थः ।
इदं च द्रष्टृचतुरजनचेतश्चमत्कृतये लिखितमित्यवगन्तव्यम् । वृत्तमुपजातिः ॥ ९९ ॥

किं बहुना, सुकृतिनस्तावत्सर्वमप्यानुकूल्यमेव प्रयातीति प्रकरणार्थं निगमयति—

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं

सर्वो जनः स्वजनतामुपयाति तस्य ।

कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा

यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥ १०० ॥

तस्य पुंसः भीमं सिंहव्याघ्रादिघातुकजन्तुसंकुलत्वेन भयंकरं वनमरणं कर्तुं प्रधानं
मुख्यं पुरं भवति, राजधानीवदशेषभोगसाधनसमृद्धं भवतीत्यर्थः । तस्य सर्वः
अशेषोऽपि जनः स्वजनतां विधेयतामुपयाति । तस्य कृत्स्ना चतुःसमुद्रान्ता भूर्भूमिश्च
सन्निधिभिः समीचीनैर्महापद्मादिनिधानैर्निक्षेपैर्वा रत्नैः श्रेष्ठवस्तुभिश्च पूर्णा भवति काम-
धेनुरिव कल्पलतेव चिन्तामणिरिव मनीषिताशेषवस्तुविशेषान् प्रसूत इत्यर्थः । कस्येत्यत
आह—यस्य नरस्य विपुलं महत् पूर्वसुकृतं पुराकृतपुण्यमस्ति वर्तते तस्येति संबन्धः ।
अतः सर्वथेदृङ्महाफलदसत्कर्मावश्यमाचरितव्यं श्रेयस्कामेनेति संदर्भाभिप्रायः ।
वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १०० ॥

इति श्रीभर्तृहरिमहायोगीश्वरस्य कृतौ सुभाषित-

त्रिशत्यां नीतिशतकं संपूर्णम् ॥

इति श्रीमत्परमयोगीन्द्रवृन्दमानसमि उन्मिलिन्दसंदोहामन्दानन्दलाभाभिनन्दि-
तरघुनन्दनचरणारविन्दमकरन्दस्वादनकन्दलितसारसारस्वतेनाखण्डतपःप्रचण्डमुनि-
प्रकाण्डमण्डलेश्वरशाण्डिल्यमहामुनिगोत्रावतंसस्यापञ्चान्ववायसुधापारावारपारिजातस्य
धन्वन्तर्यवतारान्तरस्यायुर्वेदप्रमुखनिखिलविद्यासारसार्वज्ञसर्वभौमस्य कोण्डोपण्डितव-
र्यस्य तनूजेन गङ्गाम्बिकागर्भरत्नाकरसुधाकरेण रामचन्द्रबुधेन्द्रेण विरचितायां
सुभाषितत्रिशतीव्याख्यायां सहृदयानन्दिन्याख्यायां नीतिशतकवर्णनं संपूर्णम् ॥
श्रीरामार्पणमस्तु ॥ श्रीः ॥

मञ्जुला नीतिशतकव्याख्या कुसुममञ्जरी ।

समर्पिता रामचन्द्रचरणाम्भोरुहद्वये ॥

वामाङ्गस्थाविदेहराजदुहितुर्धम्मिल्लमुल्लासय-

... हल्लकमल्लिकासुमचयैर्फालस्थले चित्रकम् ।

कस्तूर्या कुचकुम्भयोश्च रजयन् पत्राणि गात्राण्यलं-

कारैः साहात रजयन्नुपतिः शृङ्गारवान् पातु नः ॥

श्रीहनुमत्सीतालक्ष्मणभरतशत्रुघ्नसहितश्रीरामचन्द्राय नमः । करकृतमपराधं
क्षन्तुमर्हन्ति सन्तः ॥

२. अथ शृङ्गारशतकम्

नीतिपूर्वक एव शृङ्गारो न्याय्यः। अन्यथाभासः प्रसज्येतेत्याशयेन प्रथमं नीति-
सप्रपञ्चं निरूप्येदानीं शृङ्गारं निरूपयितुमुपक्रमते—अथ शृङ्गारशतकमिति। अथ नीति-
निरूपणानन्तरं शृङ्गारनिरूपणपरश्लोकशतकं शृङ्गारशतकम्, कथ्यत इति शेषः।
शाकपार्थिवत्वान्मध्यमपदलोपी समासः। शतसंख्यैः श्लोकैः शृङ्गारो निरूप्यत इत्यर्थः।
तत्र तावदेतन्निरूपणोपयोगितया यथायोगं रससामग्री समासेनोच्यते। विभावानु-
भावसात्विकव्यभिचारिसामग्रीसमुल्लसितः स्थायीभावो रस इति सामान्यलक्षणम्।
तदुक्तं दशरूपके—‘विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः। आनीयमानः स्वादुत्वं
स्थायीभावो रसः स्मृतः’ इति। भावव्यवस्थायित्वं नाम सजातीयविजातीयानभिभूत-
तया यावदनुभवमवस्थाप्य। तथा चोक्तं तत्रैव—‘सजातीयैर्विजातीयैरतिरस्कृतमूर्ति-
मान्। यावद्रसं वर्तमानः स्थायीभाव उदाहृतः’ इति। तत्र विभावो द्विविधः—
आलम्बनोद्दीपनभेदात्। तदुक्तम्—“विभावः कथ्यते तत्र रसोत्पादनकारणम्। आल-
म्बनोद्दीपनात्मा स द्विधा परिकीर्तितः” इति। रसामिव्यक्तिसमवायिकारणं दयित(?)
नालम्बनेन विभावः। इतरत्कारणजातमुद्दीपनमिति भावः। स चतुर्विधः। तथा चोक्तं
शृङ्गारतिलके—‘आलम्बनं गुणश्चैव तच्चेष्टा तदलंकृतिः। तटस्थश्चेति विज्ञेयाश्चतुर्धो-
द्दीपनक्रमः?’ इति। आलम्बनः सगुणो रूपयौवनादिः। हावभावादिकाश्चेष्टाः हारनूपु-
रादिरलंकारः। मलयानिलस्रक्चन्दनचन्द्रिकादिस्तटस्थश्चेति। तदुक्तं तत्रैव—
‘आलम्बनगुणो रूपयौवनादिरुदाहृतः। तच्चेष्टा यौवनोद्भूतहावभावादिका मताः॥
नूपुराङ्गदहारादितदलंकरणं मतम्। मलयानिलचन्द्राद्यास्तटस्थाः परिकीर्तिताः॥’
इति। कार्यभूतः कटाक्षभुजाक्षेपादेरवयवविकारविशेषोऽनुभावः। तदुक्तम्—‘कार्यभूतो-
ऽनुभावः स्यात्कटाक्षादिः शरीरजः’ इति। उक्तं च रतिरहस्ये—‘रसतां गच्छति स्वात्मा
यत्कार्यमुपलभ्यते। अनुभावः स विज्ञेयो रसावस्थानसूचकः’॥ इति। परगतसुखदुः-
खभावनया भावितान्तःकरणत्वं सत्त्वम्। तदुक्तं—“मां चान्ये स्वेदोवैवर्ण्यवेपथुः। अ-
वैस्वर्यमित्यष्टौ सात्विकाः परिकीर्तिताः॥’ इति। विविधमभितश्चरन्तीति व्यभिचारिणः।
ते च—‘निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडतामर्षदैर्न्येग्रचिन्तात्रासेर्ष्यामर्षगर्वस्मृतिमरणमदाः
सुप्तिनिद्रावबोधाः। व्रीडाष[प?]स्मारमोहानुमतिरलसतावेगतर्कावपाक्ष्या व्याध्युन्मादौ
विषादोत्सुकचपलविषादयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च’॥ एवमुक्तलक्षणानां विभावादीनां संयो-
गाद्रसस्योत्पत्तिज्ञप्तेः पुष्टिश्च भवति। तथा चोक्तं सूत्रकृता भरताचार्येण—‘विभावानुभाव-
व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः’ इति। ते च रसा नव ‘शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभया-
नकाः। बीभत्साद्भुतशान्ताख्या रसा नव समीरिताः॥’ एतेषां स्थायीभावाः।
‘रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा। जुगुप्सा विस्मयशमाः स्थायीभावाः
प्रकीर्तिताः॥’ तत्र शृङ्गारः सरतिः स्थायीभावः रतिः संभोगविषयः इच्छाविशेषः सैव
विभावादिभिः स्वादुतां नीता शृङ्गार इत्युच्यते। शृङ्गं प्राधान्यमियतीति शृङ्गारः।
तत्प्राधान्यं ध्वनिकारेणोक्तम्—‘शृङ्गार एव मधुरः परप्रह्लादको रसः। यन्मयं काव्यमाश्रित्य
माधुर्यं प्रति तिष्ठति॥’ तथा च विभावैर्ललनादिभिरालम्बनकारणैरङ्कुरितः।

चन्द्रचन्दनकलकण्ठकूजितमलयपवनकेलिकाननादिभिरुत्थापनकारणैः कन्दलितोऽनु-
भावैरपाङ्गावलोकनमन्दहासभुजलतान्दोलनादिभिः प्रतीतिपद्धतिमध्यारोपितो व्यभि-
चारिभिश्चिन्तामरणाग्रताव्याधिनिर्वेदादिवर्जं हर्षलज्जाचपलतादिभिः पल्लवितो
नानुभूतचरो वासनात्मतया स्थितो रतिस्थायीभाव एव पानकरसस्यायेन च व्यमाण...
व्यमाणतैकप्राणः समुल्लसन् ब्रह्मानन्दः स ब्रह्मचारिलोकोत्तरचमचमत्कारकारी
शृङ्गारो भवतीति निष्कर्षः । स च द्विविधः—संभोगो विप्रलम्भश्च । तत्रान्यो-
न्यानुरूपयोरन्योन्योपचारप्रत्युपचारानिपुणयोः संपन्नैश्वर्ययोरुत्कृष्टगुणयोर्नवयौवनयोः
श्लाघ्यप्रकृत्योः श्रेष्ठरूपयोरित्याद्युक्तस्वभावयोर्नारीपुरुषयोरनुरागपूर्वकदर्शनस्पर्शनादेर्यो
व्यापारः स संभोगः । तदुक्तं रतिरहस्ये—अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योः
संविलासिनौ । दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोग उदाहृतः’ इति ॥ अयं च
पुष्पापचयमधुपानलीलाद्युत्तगाननृत्यमन्मथपूजासालभञ्जिकापरिणयवसन्तचन्द्रिकासौ-
धविहारसलिलकीडाद्यनन्तमेदभिन्नोऽप्येक एव भेदो गण्यते । विप्रलम्भो द्विविधः—
अयोगो वियोगश्चेति । अयोगे तावद्भावस्थाश्चक्षुःप्रीत्यादयः । वियोगश्चतुर्विधः—
तदुक्तम्—‘संभोगो विप्रलम्भश्च द्विधा शृङ्गार इष्यते । विप्रलम्भश्चतुर्धात्र वर्ण्यते
रसकोविदैः ॥ पूर्वानुरागमानाख्यप्रवासकरुणात्मना । प्रागसंगतयोर्यूनोराद्यः स्यादुत्तरे
त्रयः ॥ स्युः प्राक्संगतयोरेव तत्र पूर्वानुरज्जनम् ॥’ इति । तत्र संभोगशृङ्गारे नायिकाना-
यकश्च परस्परानुरागस्यालम्बनविभावौ । ताश्च संभोगशृङ्गारनायिका अष्टविधाः ।
तदुक्तम्—‘स्वाधीनपतिका चैव तथा वासकसज्जिका । विरहोत्कण्ठिता चैव विप्रलब्धा
च खण्डिता ॥ कलहान्तरिता चैव तथा प्रोषितभर्तृका । तथाभिसारिका चेति
प्रोक्ताः शृङ्गारनायिकाः’ ॥ इति । एताश्च प्रत्येकं मुग्धा-मध्या-प्रगल्भावस्थामेदेन
त्रैविध्यं नातिक्रामन्तीत्येतत्सर्वमुत्तरत्र यथायोगमुदाहरिष्यत इति मनसि निधाय तत्र
शृङ्गारोद्दीपनस्वाराज्यपट्टबद्धत्वेनेशानप्रमुखदेवताधीश्वरसंमोहकत्वेन च प्रसिद्धत्वात्प्र-
थमं कामदेवस्य नमस्काररूपं मङ्गलमाचरति—

(अथ स्त्रीप्रशंसा)

शंभुस्वयंभुहरयो हरिणेषणानां

येनाक्रियन्त सततं गृहकुम्भदासाः ।

वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय

तस्मै नमो भगवते मकरध्वजाय ॥ १ ॥

अत्र स्वयंभुशब्दस्य शंभुशब्दवदौणादिकडुप्रत्ययान्तत्वमवगन्तव्यम् । न तु भुवः
संज्ञान्तरयोः क्विविति क्विप्रत्ययान्तत्वम् । अन्यथा स्वयंभुदेवोऽसावयमिति हरो-
त्थानमभजमित्यत्रेव दीर्घप्रसङ्गः स्यात् । तथा च येन मकरध्वजेन शंभुस्वयंभुहरयः
हरविरिधिमुरारयः संहारस्य सृष्टिस्थितिकर्तृत्वेन सकलभुवनाधीश्वरा अपीति भावः ।
हरिणेषणानां हरिणवन्मनोहरलोचनानां पार्वतीसरस्वतीश्रीदेवीनां सततं संततम् ।
‘समो वा हितततयोः’ इति समो मकारस्य लोपः । गृहकुम्भदासाः जलकुम्भभारवा-
हकभृत्याः । अक्रियन्त तासु तादृजोहमुत्पाद्य तथा विधेयीकृता इत्यर्थः । किमुतान्य

इति भावः । कृञ् कर्मणि लङिति तङ् । अर्धनारीश्वरत्वाच्छंभोः स्वयंभुवश्च सरस्वती-
निकेतनीकृतमुखत्वात् हरेर्वक्षःस्थलस्थापितलक्ष्मीकत्वाच्चैवमुक्तमित्यवगन्तव्यम् ।
अत एव वाचामगोचरमवाङ्मनसगोचरं यच्चरित्रं माहात्म्यं तेन विचित्रवत्कृतो
विचित्रितः, तस्मै अत्यन्ताश्चर्यकरायेत्यर्थः । 'विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रं' इत्यमरः ।
विचित्रशब्दात् तत्करोति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । णाविष्टवद्भावे विन्मतोर्लुक् । भगवते
सकललोकाराध्याय । यद्वा चतुर्व्यूहमध्यप्रविष्टत्वात्प्रद्युम्नरूपेण भगवत्पुत्रत्वात्तद्रूपाये-
त्यर्थः । 'आत्मा वै पुत्रनामासि' । 'पतिर्भार्या प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् । तस्यां
पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते' इति श्रुतेः । तस्मै मकरध्वजाय मकरकेतनाय
कामदेवसार्वभौमाय नमः । 'नमःस्वस्ति—'इत्यादिना चतुर्थी । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १ ॥

तत्रालम्बनविभावयोः स्त्रीपुरुषयोः मध्ये स्त्रीणां प्रशस्तत्वाद्विशल्या श्लोकैः प्रथमं
स्त्रीप्रशंसां चिकीर्षुस्तत्रादौ तावत्तासां बन्धनहेतुत्वमाह—

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया

पराङ्मुखैरर्धकटाक्षवीक्षणैः ।

वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया

समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥ २ ॥

स्मितेन यौवनादिमदविकारजनिताकस्मिकमन्दहासेन । 'आकस्मिकं तु हसितं
यौवनादिविकारजम्' इति लक्षणात् । बाल्ययौवनसंघावुत्पन्नः शृङ्गारविषयः प्रथमा-
न्तःकरणविकारो भावस्तेन च । तदुक्तं—'चित्तस्य विकृतेः सत्त्वं विकृतेः कारणे सति ।
ततोऽर्वाङ्विकृतिर्भावो बीजस्यादिविकारवत्' इति । 'हावेन' इति पाठे 'ईषदृष्टविकारः
स्याद्भावो हावः प्रकीर्तितः' इत्युक्तलक्षणेन चेष्टाविशेषेण च । लज्जया कुचकुम्भदो-
र्मूलाच्छादनवदनदीनमनदरनिमीलितनयनत्वानुभावकमनःसंकोचनरूपव्रीडया च ।
'चेतःसंकोचनं व्रीडासङ्गरागस्तनादिभिः' इति लक्षणात् । भिया, आकस्मिकभय-
जनितत्रासेनेत्यर्थः । तदुक्तम्—'आकस्मिकभयाच्चित्तक्षोभस्त्रासः प्रकीर्यते' इति ।
'लज्जया गुणैः' इति पाठे आसामेवालम्बनभूतानां रूपयौवनादिगुणैरित्यर्थः । 'आल-
म्बनगुणो रूपयौवनादिरुदाहृतः' इत्युक्तत्वात् । पराङ्मुखैः, हियैवास्फुटप्रसारिभिरि-
त्यर्थः । अर्धकटाक्षवीक्षणैः असमग्रापाङ्गावलोकनैश्च । कटाक्षलक्षणं तु संगीतरत्नाकरे
—'यद्गतागतविश्रान्तिवैचित्र्येण विवर्तनम् । तारकायाः कलाभिज्ञास्तं कटाक्षं
प्रचक्षते ॥' इति । वचोभिः शुकक्रोक्किलमधुरतरमृदुलालापैश्च । ईर्ष्यायां परोत्कर्षा-
सहनरूपासूयया यः कलहस्तेन च । 'परोत्कर्षासहिष्णुत्वमीर्ष्या प्राहुर्मनीषिणः' इति
लक्षणात् । यद्वा ईर्ष्यायां कलहेन प्रणयकलहेन चेति द्वन्द्वैकवद्भावः । 'सर्वो द्वन्द्वो
विभाषैकवद्भवति' इत्यनुशासनात् । लीलया वागादिभिः प्रियानुकरणरूपविलासविशेषेण
च । 'लीला प्रियानुकरणं वाग्भिर्गल्याथ चेष्टया' इति लक्षणात् । किं बहुना समस्त-
भावैः स्तम्भरोमाञ्चखेदादिसात्त्विकभावैः, हर्षौत्सुक्यावहित्थादिसंचारिभावैश्चेत्यर्थः ।
स्त्रियो बन्धनं खलु । पुंसां संसारबन्धहेतवः खल्वित्यर्थः । लिङ्गवचनव्यत्ययो नित्या
नपुंसकत्वेन जात्यभिप्रायेण च 'विदाः प्रमाणम्' इतिवद्ब्रष्टव्यः । अत्र स्मितकटाक्षालाप-

अनुभावाः—‘कार्यभूतोऽनुभावः स्यात्कटाक्षादिः शरीरजः’ इत्युक्तत्वात् । लज्जाभ-
येर्ध्याः संचारिभावाः । भावलीले शृङ्गारचेष्टाविशेषा इति द्रष्टव्यम् । तदुक्तम्—‘भावो
हावश्च हेला च माधुर्यं धैर्यमपि । लीलाविलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलिकिञ्चितम् ॥
मोदयितं कुट्टमितं बिम्बोको ललितं तथा । कुतूहलं च चकितं विहृतं हास इत्यपि ॥
एवं शृङ्गारचेष्टाः स्युरष्टादशविधा मताः ॥’ इति । ईदृक्साधनसामग्रीसंपन्नानां स्त्रीणां
बन्धनहेतुत्वं किं वक्तव्यमिति भावः । तथा चैतासां शृङ्गारनायिकानां मध्ये भावल-
ज्जाभयवत्यो मुग्धाः स्मितार्धकटाक्षमधुरालापवत्यो मध्यमाः, ईर्ष्याकलहलीलावत्यः
प्रौढाश्चेति विवेकः । तदुक्तम्—‘उदययौवना मुग्धा लज्जाविजितमन्मथा । लज्जा-
मन्मथमध्यस्था मध्यमोदितयौवना ॥ स्मरमन्दीकृतव्रीडा प्रौढा संपूर्णयौवना ॥’ इति ।
वंशस्थं वृत्तम् ॥ २ ॥

उक्तमेवार्थं प्रकारान्तरेणाह—

भ्रूचातुर्यात्कुञ्चिताक्षाः कटाक्षाः

स्निग्धा वाचो लज्जितान्ताश्च हासाः ।

लीलामन्दं प्रस्थितं च स्थितं च

स्त्रीणामेतद्भूषणं चायुधं च ॥ ३ ॥

भ्रूवोश्चातुर्याल्ललिताक्षेपवैचित्र्यात्कुञ्चितानि कूणीकृतानि अक्षीणि येषां ते तथोक्ताः ।
‘बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्पञ्च’ इति षञ् । कटाक्षाः अपाङ्गवीक्षणानि च । एतेन
रेचितभ्रुकुट्याख्यौ व्यापारविशेषावुक्तौ । तदुक्तम्—‘स्याद्भ्रुवोर्ललिताक्षेप एकस्या एक-
रेचितम् । द्वयोर्मूलसमक्षेपकौटिल्याद्भ्रुकुटिं विदुः ॥’ इति । स्निग्धाः स्नेहपरिष्कृता वाचश्च ।
स्नेहलक्षणं तु—‘विस्रम्भे परमां काष्ठामारूढे दर्शनादिभिः । येनान्तरङ्गं द्रवति स स्नेह
इति कथ्यते ॥’ इति । लज्जितमन्ते येषां ते लज्जितान्ता लज्जावसाना हासाश्च ।
तथाभूतहासानामेव मोहनत्वात्, अन्यथा हास्यरसापर्यवसानादिति भावः । लीला-
मन्दं लीलासमन्थरं प्रस्थितं प्रस्थानम्, गमनमिति यावत् । स्थितं अवस्थानं चेत्यु-
भयत्रापि भावे क्तः । इत्येतत्सर्वं स्त्रीणां भूषणं च चारुत्वातिशयहेतुत्वात् । आयुधं
शस्त्रं च युवजनविजयसाधनत्वादिति भावः । अत्र कटाक्षादीनां लक्षणानि प्रागेवो-
क्तानि । लज्जितं संचारिलीलाशृङ्गारचेष्टा भ्रुकुट्यादयोऽन्ये अनुभावा इति ज्ञेयम् ।
तथा लीला मन्थरगमनस्य पद्मिनीयुतिलक्षणत्वात् प्रायेणैतासां लज्जातिशयत्वं सूच्यते ।
तदुक्तं रतिरहस्ये—‘व्रजति शृद्धु सलीलं राजहंसीव तन्वी त्रिवलिललितमध्या
हंसवाणी सुवेषा । शृद्धु शुचि लघु भुङ्क्ते मानिनी गाढलज्जा धवलकुसुमवासोवल्लभा
पद्मिनी स्यात् ॥’ इति । अत्र भ्रुकुट्यादिसमुदाये भूषणत्वायुधत्वरूपणद्रूपकालंकारः ।
शालिनी वृत्तम् ॥ ३ ॥

अथ शृङ्गारानुभावद्विविलासान्सपरिकरं वर्णयति—

क्वचित्सभ्रूभङ्गैः क्वचिदपि च लज्जापरिगतैः

क्वचिद्भूरित्रस्तैः क्वचिदपि च लीलाविलसितैः ।

कुमारीणामेतैर्मदनसुभगैर्नैत्रवलितैः

स्फुरन्नीलानां प्रकरपरिकीर्णा इव दिशः ॥ ४ ॥

क्वचित्कुत्रचित्सम्भूतैर्भुक्तुटिरेचिताख्यभूव्यापारसहितैः । क्वचिदपि च लज्जया परिगतैः प्रत्यावृत्तैश्च, स्वानुकूल्यप्रकाशकैरित्यर्थः । तदुक्तम्—‘सत्रीडालोकनेनैव स्वानुकूल्यप्रकाशनम्’ इति । क्वचिद्भूरित्रस्तैर्बहुलभयसंभ्रान्तैः । क्वचिदपि च लीलाभिर्गतप्रत्यागतविलासविशेषैर्हेतुना विलसितैः कमनीयैः उज्ज्वलैर्वा तथा मदनेन सुभगैः मनोहरैः । विरक्तस्यापि चित्तक्षोभकरैरित्यर्थः । ‘यद्दर्शने विरक्तोऽपि क्षुभ्यते तत्समन्मथम्’ इति लक्षणात् । एतैः उक्तप्रकारैः कुमारीणां तरुणीनाम् । उत्पलाक्षीणामिति भावः । ‘वयसि प्रथमे’ इति ङीप् । नेत्रवलितैर्नयनविलासैर्दिशः स्फुरतां विकसतां नीलाब्जानां नीलोत्पलानां प्रकरैर्निकुरुम्बैः परिकीर्णा इव व्याक्षिप्ता इव लक्ष्यन्त इति शेषः । प्रसिद्धक्रियाध्याहारदोष इत्याह वामनः—‘लिङ्गाध्याहार’ इत्यत्र । अत्र नयनविलासानां प्रियजनादिरम्यवस्तुदर्शनचापलं विना असंभवात् कुतूहलं नाम शृङ्गारचेष्टितं सूच्यते—‘कुतूहलं रम्यदृष्टौ चापलं परिकीर्त्यते’ इति लक्षणात् । भ्रुकुट्यादीनां लक्षणं प्रागेवोक्तम् । तथा नयनबलनक्रियया विकीर्णत्वक्रियोत्प्रेक्षणाद्गुणक्रियानिमित्तक्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा । ‘यत्रान्यधर्मसंबन्धादन्यत्वेनोपकीर्तितम् । प्रकृतं हि भवेत्प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥’ इति लक्षणात् । तथा च नयनानां नीलोत्पलसाम्यं गम्यते । तेन चोपमा व्यज्यत इत्यलंकारेणालंकारध्वनिः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४ ॥

अथ यदुक्तमुद्दीपनविभावश्चतुर्विध इति, तत्र प्रथमोद्दिष्टालम्बनगुणकथनमुत्तरत्र करिष्यत इत्युपेक्ष्य ‘स्मितेन—’ इत्यादिश्लोकत्रयेण काश्चिच्छृङ्गारचेष्टाः केचिदनुभावाः संचारिणश्च वर्णिताः । इदानीं तु तदलंकरणं विवक्षुस्तस्य नैसर्गिकाहार्यमेदेन द्वैविध्यादाहार्यकमनुपदमेव वक्ष्यत इति मनसि कृत्वा संप्रति नैसर्गिकं मण्डनमाह—

वक्त्रं चन्द्रविकासि पङ्कजपरीहासक्षमे लोचने

वर्णः स्वर्णमपाकरिणुरलिनीजिष्णुः कचानां चयः ।

वक्षोजाविभकुम्भविभ्रमहरौ गुर्वी नितम्बस्थली

वाचां हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मण्डनम् ॥ ५ ॥

चन्द्रवद्विकसति ताच्छील्येनेति चन्द्रविकासि, सुन्दरमित्यर्थः । ताच्छील्ये णिनिः । वक्त्रं वदनं च पङ्कजानां पद्मानां परिहासक्षमे अवहेलनसमर्थं, तत्सदृशे इति यावत् । लोचने नयने । परिहासेत्यत्र ‘उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्’ इति दीर्घः । स्वर्णमपाकरिणुः । स्वर्णम् ‘पुष्पमूलेषु बहुलम्’ इति लुक् । तदपाकरिणुः, तत्सदृश इत्यर्थः । एतेन पद्मिनीत्वं सूच्यते—‘कापि चाम्पेयगौरी’ इति लक्षणात् । वर्णो देहकांतिश्च । तथा अलिनीनां भृङ्गाङ्गनानां जिष्णुर्जयशीलः, तद्वन्नील इत्यर्थः । ‘ग्लानिस्थश्च ग्लुः’ इति ग्लुप्रत्ययः । कचानां चयः केशपाशश्च । इभकुम्भयोर्विभ्रमहरौ विलासहारिणौ, करिवरशिरःपिण्डकल्पावित्यर्थः । ‘कुम्भौ तु शिरसः पिण्डौ’ इत्यमरः । वक्षोजौ कुचकुम्भौ च । गुर्वी दुर्भरा । ‘वोतो गुणवचनात्’ इति ङीप् । नितम्बस्थली, कटिपश्चाद्भागश्च । ‘पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः’ इत्यमरः । ‘जानपद—’ इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप् । हरतीति हारि मनोहरम् । पूर्ववर्णिनिः । वाचां मार्दवं वाङ्माधुर्यम्, मधुरकोमलालापश्चेत्यर्थः । एतत्सर्वं युवतिषु तरुणीषु स्वाभाविकं

स्वभावसिद्धम् । 'तत आगतः' इति ठक् । मण्डनम् । तरुणीनामेतन्नैसर्गिकालंकरण-
मित्यर्थः । अत्र 'चन्द्रविकासी' इत्यादिशब्दाः प्रायशः सादृश्यवाचकाः । अत एवोपमा-
लंकारः । तदुक्तमाचार्यदण्डिना—'स्पर्धते जयति द्वेष्टि हसतीर्ष्यत्यसूयति । तदन्वे-
त्यनुवध्नाति तच्छलं तन्निषेधति । तस्य वानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यवाचकाः ॥'
इति । शार्दूलविकीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

अथालम्बनगुणयौवनमाह—

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं सरलतरलो दृष्टिविभवः

परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः ।

गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः

स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव न हि रम्यं मृगदृशः ॥ ६ ॥

स्मितमिति । स्मितं मन्दहासः किञ्चिदीषन्मुग्धं सुन्दरं भवतीति यथायोगमध्याहा-
र्यम् । 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इत्यमरः । बाल्ययौवनमध्यस्थत्वेन तरुण्यः प्रागल्भ्या-
भावात्स्मितस्येषन्मुग्धत्वमुक्तमित्यवगन्तव्यम् । दृष्टिविभवो विलोकनसंपत्तिः सरलं
अकुटिलं यथा तथा तरलश्चञ्चलो भवति । वाचां परिस्पन्दो वाग्व्यापारोऽपि
अभिनवा नूतना विलासा यासां ता या उक्तयो वचनानि ताभिः सरसो रसयुक्तः,
रुचिर इति यावत् । भवति । गतानां गतीनाम् । कर्तरि क्तः । आरम्भ उपक्रमः ।
किसलयितः पल्लवितः । तारकादित्वादितच् । लीलापरिकरो विलाससमृद्धिर्यस्य स
तथोक्तः । विलाससंबन्धबन्धुरो भवतीत्यर्थः । अतस्तारुण्यं यौवनं स्पृशन्त्याः प्रविशन्त्या
मृगदृशस्तारुण्याः संबन्धि किमिव किंवा रम्यं मनोहरं न हि भवति, ? सर्वमपि रम्यमेव
भवतीत्यर्थः । इयं मुग्धा नायिका—'उदययौवना मुग्धा लज्जाविजितमन्मथा' इति
लक्षणात् । अत्र श्लोकद्वयेऽपि श्लाघ्यविशेषणयोगादुदात्तता नाम गुणः—'श्लाघ्यै-
र्विशेषणैर्योगो यत्तु सा स्यादुदात्तता' इति लक्षणात् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ६ ॥

अथ चक्षुःप्रभृतिषडिन्द्रियाणामत्रैव लोकोत्तरप्रतिनियतविषयान्वर्णयति—

द्रष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशः प्रेमप्रसन्नं मुखं

घ्रातव्येष्वपि किं तदास्यपवनः श्रव्येषु किं तद्वचः ।

किं स्वाद्येषु तदोष्ठपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तद्वपु-

र्ध्यं किं नवयौवनं सहृदयैः सर्वत्र तद्विभ्रमाः ॥ ७ ॥

अत्र प्रश्नोत्तरमालिकयान्वयः कार्यः । द्रष्टुं योग्यानि द्रष्टव्यानि तेषु दर्शनीयेषु
वस्तुषु । योग्यार्थे तव्यप्रत्ययः । उत्तमं श्रेष्ठं वस्तु किमिति प्रश्नः । प्रेमप्रसन्नं अनुरा-
गविकसितम्, प्रेमदायीत्यर्थः । 'द्रवीभूतं मनो यत्र दर्शने प्रेमदायि तत्' इति
लक्षणात् । मृगदृशस्तारुण्याः संबन्धि मुखमेव, न त्वन्यत् । तस्यैव निरतिशय-
नयनानन्दकरत्वादिति भावः । इत्युत्तरम् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । घ्रातव्येषु घ्रेयेषु
पूर्ववत्तव्यप्रत्ययः । उत्तमं किम् ? तदास्यपवनस्तस्याः तरुण्या आस्यपवनो मुखमारुतः,
तस्यैव घ्राणतर्पणत्वादिति भावः । यद्यपि घ्राणेन्द्रियविषयो गन्धः, न तु पवनः तथापि
तस्याः पद्मिनीजातित्वात्तदास्यगन्धस्य तस्य संक्रमणात् 'वीणाः श्रूयन्ते, मेर्यः श्रूयन्ते,

पुष्पाण्याघ्रायन्ते' इत्यादिवत्तद्बन्धसंबन्धिनि पवने तद्धर्मस्योपचरितत्वाच्च विरोधः । श्रव्येषु श्रोतव्येषु । अत्र योग्यार्थे यत्प्रत्ययः । एवमुत्तरत्रापि । उत्तमं किम् ? । तद्वचस्तस्यास्तरुण्या वचः मृदुमधुरभाषणम्, तस्यैव श्रवणानन्दकरत्वादिति भावः । स्वाद्येषु अनुभवयोग्येषु उत्तमं किम् ? । तस्या ओष्ठः पल्लव इव तस्य रसः, अधरा-मृतमित्यर्थः । तस्यैव रसनेन्द्रियतृप्तिहेतुत्वादिति भावः । स्पृश्येषु स्पर्शनयोग्येषु वस्तुषु उत्तमं किम् ? । तस्या वपुः, कुसुमसुकुमारशरीरमित्यर्थः । तस्यैव निरुपमत्व-मिन्द्रियसौख्यावहत्वादिति भावः । उत्तमं ध्येयं ध्यानार्हं किम् ? । ध्यातव्येष्विति शेषः । नवयौवनं तरुणीनवतारुण्यमेव, तस्यैवात्यन्तमनोरञ्जकत्वादिति भावः । अथ सर्वथा मुख्यं ध्येयमाह—सहृदयैर्हृदयालुभिः, रसिकजनैरित्यर्थः । सर्वत्र सर्व-देशेषु सकलकालेषु वा तस्यास्तरुण्या विभ्रमा विलासाः ध्येया इति शेषः । अत्र तत्तत्प्रसिद्धविषयाणामेकत्र समष्टिवर्णनान्महान् शृङ्गारपरितोषातिशय उक्तः । एतेनास्या लोकोत्तरमाभिरूप्यं सूच्यते । तथा चोत्तमविषयाकाङ्क्षिभिर्विशिष्टतरुणीसंभोग एव कर्तव्य इति फलितार्थः । तत्र प्रश्नोत्तरयोश्चास्तत्वातिशयार्थमसकृन्निबन्धना-दुदात्तालंकारभेदः—'उत्तरात्प्रश्न उन्नेयो यत्र प्रश्नोत्तरे तथा । बहुधा च निबध्यते तदुत्तरमुदीर्यते ॥' इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७ ॥

अथासां समाहार्यैकालंकरणवर्णनद्वारा सकललोकसंमोहकत्वमाह द्वाभ्याम्—

एताश्चलद्वलयसंहतिमेखलोत्थ-

झंकारनूपुरपराजितराजहंस्यः ।

कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो

वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृशैः कटाक्षैः ॥ ८ ॥

चलन्त्या गतिवैचित्र्याद्वलमाने ये वलयसंहतिमेखले वलयसंहतिः कङ्कणश्रेणिः । 'मेखला'शब्देन काञ्चीवाचिना तन्निबद्धाः किंकिण्यो लक्ष्यन्ते । तदुत्थस्तदुत्पन्नो यो झंकारो झणझणत्कारस्तेन नूपुराभ्यां मञ्जुलनिनादमञ्जीराभ्यां च पराजिताः तिरस्कृता राजहंस्यः कलहंसाङ्गना याभिस्ताः, कलनादसुन्दरमन्दगमनराजहंसीरमणीया इत्यर्थः । 'राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयोः' इति विश्वः । 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीप् । शैषिकस्य कपो वैभाषिकत्वाच्च प्रयोगः । एताः पूर्वोक्तास्तरुण्यः, किञ्चिदू-नविंशतिवार्षिकाः स्त्रिय इत्यर्थः । वित्रस्ता चकिता मुग्धा प्रौढा च या हरिणी कुरङ्गी तत्सदृशैः, तद्विलोकननिभैरित्यर्थः । कटाक्षैरपाङ्गवीक्षणैः । एतेनैतासां पद्मिनीत्वं सूच्यते—'चकितमृगहृगाभे प्रान्तरक्ते च नेत्रे' इति लक्षणात् । कस्य मनो विवशं संमोहितं न कुर्वन्ति ? सर्वस्यापि कुर्वन्त्येवेत्यर्थः । तरुणीलक्षणमुक्तं रतिरहस्ये—'बाला स्यात्पोडशाब्दा तदुपरि तरुणी विंशतेर्यावदूर्ध्वं प्रौढा स्यात्पञ्चपञ्चाशदवधि परतो वृद्ध-तामेति नारी' इति । वयोलक्षणमुक्तम्—'निदाघशरदोर्बाला पथ्या विषयिणो भवेत् । हेमन्ते तरुणी योग्या प्रौढा वर्षावसन्तयोः । संततं सेव्यमानापि बाला प्रथयते बलम् ॥' इति अत्र राजहंसीपराजयस्य सादृश्यपर्यवसानादेका उपमा । हरिणी सद-शैरित्यत्रान्येत्यनयोः परस्परनैरपेक्ष्यात्सजातीयसंसृष्टिः । एताश्च मध्यमा नायिकाः—'लज्जामन्मथमध्यस्था मध्यमोदितयौवना' इति लक्षणात् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ८ ॥

कुङ्कुमपङ्ककलङ्कितदेहा

गौरपयोधरकम्पितहारा ।

नूपुरहंसरणत्पदपद्मा

कं न वशीकुरुते भुवि रामा ॥ ९ ॥

कुङ्कुमपङ्केन काश्मीरजकर्दमेन । 'अथ कुङ्कुमम् । काश्मीरजन्माभिषिखम्', 'पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ' इति चोभयत्राप्यमरः । अथवा घुसृणापरपर्यायकुङ्कुमकुसुमरसरञ्जितचन्दनपङ्केन 'कुङ्कुमं घुसृणम्' इत्यभिधानरत्नमालायाम् । यद्वा कुङ्कुमेन चम्पकेन सिन्दूरापरनामशृङ्गारभूषणाख्यद्रवद्रव्यविशेषेण च । 'सिन्दूरं नागसंभवम् । चीनपिष्टं च गान्धारं पङ्कं शृङ्गारभूषणम् ॥' इत्यमरः । कलङ्कितश्चिह्नितो देहो यस्याः सा, कुङ्कुमसिन्दूरादिरञ्जकद्रव्यशृङ्गारिताकारेत्यर्थः । अत एव गौरयोररुणयोः । यद्वा पद्मिनीत्वाच्छ्रीफलसच्छाययोः—'स्तनयुगलमनिन्द्यश्रीफलश्रीविडम्बि' इति लक्षणात् । पयोधरयोः कुचकुम्भयोः कम्पिता वलमाना हारा मुक्तावलयो यस्याः सा तथोक्ता । नूपुरौ मञ्जीरावेव हंसौ हंसाविव नूपुरौ वा ताभ्यां रणती शब्दायमाने पदे एव पद्मे, पद्मे इव पदे वा यस्याः सा । अत एव रूपकोपमयोः साधकबाधकप्रमाणाभावात्संदेहः संकरः । रामा सुन्दरी भुवि कं पुरुषं न वशीकुरुते न स्वायत्तीकुरुते ? जितेन्द्रियमपि स्वायत्तीकुरुत एवेत्यर्थः । 'वश आयत्ततायां च' इति विश्वः । अभूततद्भावे च्विः । 'ऊर्यादिच्चिडाचश्च' इति गतिसंज्ञायाम् 'कुगतिप्रादयः' इति तिङापि समासः । अत्र 'सुप्सुपा-' इत्यननुवृत्तेः । अत्र हाराणां कम्पितत्वविशेषणेन पयोधरयोरत्यन्तपटुत्वं सूच्यते अन्यथा कम्पनायोगात् । तेन चात्युत्कटयौवनसंपत्तिश्च गम्यते । पयोधरयोश्च गौरत्वविशेषणेन रूपसमृद्धिर्व्यज्यते । एतेनालम्बनगुणलाभ उक्तः । एवं कुङ्कुमपङ्केत्यनेन तटस्थोद्दीपनभावः कथितः । तथा हारनूपुरात्मकालम्बनालंकरणमप्युद्बुद्धितम्, 'रणत्पदपद्म' इत्यनेन सूचितो लीलागतिविशेषरूपानुभावश्च । तथा चैवंविधसामग्रीसमुल्लसितेन 'आभिरूप्यमकाठिन्यमङ्गानां चातिमार्दवम् । एवमादिगुणावस्था प्रथमे यौवने भवेत् ॥' इत्युक्त्वा 'कृताधराङ्गसंस्कारा सखीकेलिषु लालसा' इत्युक्तचेष्टाविशिष्टयौवनपरिपूर्णं रमयतीति रामेति व्युत्पत्त्या लोकोत्तरलावण्यसंपन्नेनालम्बनविभावेनोपोद्बलिते शृङ्गाररसार्णवे को वा न निमज्जतीति भावः । अत्र श्लाघ्यविशेषणयोगादुदात्ततानाम गुणः । लक्षणं तूक्तम् । तथात्यन्तसुकुमारार्थसंदर्भितत्वात्कैशिकी वृत्तिः—'अत्यन्तसुकुमारार्थसंदर्भा कैशिकी मता' इति लक्षणात् । दोधकं वृत्तम् । तल्लक्षणं तु 'दोधकवृत्तमिदं भभभाद्रौ' इति लक्षणात् ॥ ९ ॥

अथैतासां प्राबल्यं वर्णयति—

नूनं हि ते कविवरा विपरीतवाचो

ये नित्यमाहुरवला इति कामिनीस्ताः ।

याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः

शक्रादयोऽपि विजितास्त्ववलाः कथं ताः ॥ १० ॥

ते कविवराः कवीश्वरा विपरीतवाचो व्यत्यस्तवचनाः नूनं सत्यं हि । ते क इत्याशङ्कयामाह—ये कविवरास्ताः प्रसिद्धाः कामिनीः अबला दुर्बला इति नित्यमाहुः ब्रुवते, वर्णयन्तीत्यर्थः । तत इति संबन्धः । 'ब्रुवः पञ्चनामादित आहो ब्रुवः' इति णलादेशः । ब्रुव आहादेशश्च । वामनेन तु 'आहेति लङ्प्रयोगो णलन्तत्वेन भ्रमात्' इत्युक्तम् । ननु यथार्थवर्णने कथं विपरीतवाक्त्वं इत्याशङ्क्य तासां प्रागल्भ्यं साधयति । याभिः कामिनीभिः कर्त्रीभिः विलोलतरा अतितरलास्तारकाः कनीनिका येषु ते तथोक्ता ये दृष्टिपाता लोचनप्रसारास्तैः करणैः । 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इति तृतीया । 'तारकाक्षः कनीनिका' इत्यमरः । शकादय इन्द्रादयोऽपि, किमुतान्य इति भावः । विजिता निर्जिताः, स्वायत्तीकृता इत्यर्थः । तास्तु कामिन्यः कथमबलाः कुतो वा दुर्बलाः ? किंतु प्रबला एवेत्यर्थः । वीक्षणमात्रेणैवेन्द्राद्युजयिनीनां बलिष्ठत्वं किं वक्तव्यम् ? अत एतासां दौर्बल्यप्रतिपादकाः कवय एव दुर्बलवाचः, न तु ता इति भावः । अत्रोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थसमर्थकत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १० ॥

अथ कामदेवस्य कामिनीकिंकरत्वमुत्प्रेक्षते—

नूनमाज्ञाकरस्तस्याः सुभ्रुवो मकरध्वजः ।

यतस्तन्नेत्रसंचारसूचितेषु प्रवर्तते ॥ ११ ॥

मकरध्वजः कामदेवस्तस्याः प्रसिद्धायाः पूर्वोक्ताया वा सुभ्रुवः कामिन्याः । जाता-वेक्यचनम्, सुभ्रुवामित्यर्थः । आज्ञां करोतीत्याज्ञाकरः किंकरः । 'कृजो हेतु—'इत्यादिना टप्रत्ययः । नूनमित्युत्प्रेक्षायाम् । कुतः ? । यतः कारणात्तस्याः सुभ्रुवो नेत्रसंचारेण दृष्टिप्रसारेण सूचितेषु संज्ञापितेषु जनेषु प्रवर्तते । यथा लोके स्वामिदृष्टिसूचिते भृत्यः प्रवर्तते तद्वदित्यर्थः । अतः कामिनीनां नूनमयं किंकर इति भावः । कामिनीकटाक्षवीक्षणमात्रेणैव जनस्य मन्मथावेशसंभवादियमुत्प्रेक्षा । सा च 'नूनम्' इति व्यञ्जकसद्भावाद्वाच्या । तदुक्तम्—'मन्ये शङ्के ध्रुवं नूनं प्राय इत्येवमादिभिः । उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥' इति । एतेनैतासामप्रतिहतजगद्वशीकरणसामर्थ्यरूपं वस्तु व्यज्यते । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ११ ॥

अथ रागिणां श्लेषवैचित्र्यात्कामिनीप्रशंसापरं वचनं संबोधनवचनमभिधायाह द्वाभ्याम्—

केशाः संयमिनः श्रुतेरपि परं पारं गते लोचने

अन्तर्वक्त्रमपि स्वभावशुचिभिः कीर्णं द्विजानां गणैः ।

मुक्तानां सतताधिवासरुचिरौ वक्षोजकुम्भाविमा-

वित्थं तन्वि ! वपुः प्रशान्तमपि ते रागं करोत्येव नः ॥ १२ ॥

केशाः शिरोरुहाः संयमिनः संयताः सम्यङ्द्वियमवन्तश्च । लोचने अपि श्रुतेः परं पारं कर्णान्तविश्रान्तत्वं वेदान्तपरिशीलनतात्पर्यं च गम्यते । अन्तर्वक्त्रं वक्त्राभ्यन्तरमपि स्वभावान् निसर्गाच्छुचिभिः शुभ्रैः पवित्रैश्च द्विजानां दन्तानां विप्राणां च ।

‘दन्तविप्राण्डजा द्विजाः’ इत्यमरः । गणैः कीर्णं व्याप्तम् । इमौ एतौ इति हस्तनिर्देशः । वक्षोजकुम्भौ कुचकलशौ च मुक्तानां मौक्तिकहाराणां जीवन्मुक्तानां च सतताधिवासेन निरन्तरावस्थानेन संततसहवासेन च रुचिरौ मनोज्ञौ ‘मुक्ता तु मौक्तिके मुक्तः’ ‘प्राप्तमुक्तौ तु मोचितः’ इत्युभयत्रापि विश्वः । अतः हे तन्वि ! इत्थमुक्तप्रकारेण ते वपुः शरीरं प्रशान्तं प्रसन्नम् । वैराग्यसाधनसंपत्तिमदपीति यावत् । ‘वा दान्त-’ इत्यादिना निपातः । नोऽस्माकं रागमनुरक्तिम्, संभोगाभिलाषमेवेति यावत् । करोति उत्पादयति, न तु वैराग्यमिति विरोधः । स चोक्तदिशा आभासितत्वाद्विरोधाभासोऽलंकारः—‘आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते’ इति लक्षणात् । स च श्लेषप्रतिभोत्थापित इति तयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः । लोचने अन्तर्वक्त्रमित्यत्र प्रगृह्यत्वात्प्रकृतिभावः । ‘ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम्’ इति प्रगृह्यसंज्ञा । वृत्तमुक्तम् ॥ १२ ॥

मुग्धे ! धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।

यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ॥ १३ ॥

धनुः प्रहरणमस्य धानुष्कः धन्वी । ‘प्रहरणम्’ इति ठक् । ‘इसुसुक्तान्तात्कः’ । ‘धन्वी धनुष्मान्धानुष्कः’ इत्यमरः । तस्य भावस्तत्ता । हे मुग्धे सुन्दरि ! ‘मुग्धः सुन्दरमूढयोः’ इति विश्वः । यद्वा हे उदयद्यौवनभावे ! ‘उदयद्यौवना मुग्धा’ इति लक्षणात् त्वय्यपूर्वा अदृष्टचरा, असाधारणीति यावत् । धानुष्कता दृश्यते । इयं धानुष्कता का कीदृशी ? न ज्ञायत इत्यर्थः । कुतः ? । यया धानुष्कतया हेतुना चेतांसि युवजनमनांसि । दुर्लक्ष्याणीति भावः । गुणा मौर्व्यो रूपयौवनादयश्च । तैरेव विध्यसि संप्रहरसि । सायकैः बाणैस्तु न विध्यसि । यतः लोके धानुष्काः प्रौढा एव सुलक्ष्याण्येव लक्ष्याणि बाणैरेव विध्यन्ति, त्वं तु मुग्धापि दुर्लक्ष्यापि लक्ष्याणि मौर्वीभिरेव विध्यसीति कृत्वा त्वदीयधानुष्कताया अपूर्वत्वादज्ञेयत्वमिति भावः । स्त्रीणां रूपयौवनगुणसंपत्तिरेव परप्रहरणसाधनमिति फलितार्थः । अत्र पूर्ववाक्यार्थस्योत्तरवाक्यार्थसमर्थितत्वाद्वैक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । तच्च गुणयोः श्लेषभित्तिकामेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिनिर्व्यूढमित्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः । तेन च प्रसिद्धाद्धानुष्कादुपमानादुपमेयभूतमुग्धाया आधिक्यप्रतीतेर्व्यतिरेको व्यज्यत इत्यलंकारेणालंकारध्वनिः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ १३ ॥

अथ विंशतिसमाप्तिकामिन्युद्देशेनोक्तान्यत्यन्तानुरागिणां प्रशंसावचनान्याह—

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारामणीन्दुषु ।

विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत् ॥ १४ ॥

प्रदीपे अर्थप्रकाशके दीपार्चिषि सति विद्यमानेऽपि । अग्नौ तथाभूते वह्नौ च सत्यपि । ‘सत्यर्के’ इति पाठे त्रिलोकप्रकाशके सूर्ये सत्यपि तथा तारामणीन्दुषु तिमिरनिरासकत्वेन प्रसिद्धेषु नक्षत्रपद्मरागादिमाणिक्यचन्द्रेषु सत्त्वपि तथा प्रसिद्धया पूर्वानुभूतया वा मृगशावस्य बालहरिणस्येवाक्षिणी यस्यास्तया प्रियतमया विना । ‘बहुव्रीहौ सकथ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्’ । ‘षिद्रौरादिभ्यश्च’ इति ङीष् । इदं जगन्मे मम तमोभूतमन्धकारमयम्, लक्ष्यत इति शेषः । तस्या एव मम नयनज्योतिष्पादिति

भावः । अत्रान्धकारनिराकरणसमर्थत्वेन प्रसिद्धे प्रदीपादिकारणसमुदाये सत्यपि तन्निरा-
सरूपकार्यानुत्थानाद्विशेषोक्तिरलंकारः—‘तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निर्गद्यते’ इति
लक्षणात् । तथा प्रदीपादिसद्भावेऽपि तमोभूतत्वमिति विरोधश्च व्यज्यते । तेन
चास्य महामोहान्धत्वं वस्तु गम्यत इत्यलंकारेण वस्तुध्वनिः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ १४ ॥

उद्धृतः स्तनभार एष तरले नेत्रे चले भ्रूलते

रागाधिष्ठितमोष्ठपल्लवमिदं कुर्वन्तु नाम व्यथाम् ।

सौभाग्याक्षरमालिकेव लिखिता पुष्पायुधेन स्वयं

मध्यस्थापि करोति तापमधिकं रोमावलिः केन सा ॥ १५ ॥

उद्धृतोऽत्यन्तवर्तुलः उत्पथगतश्च । एष इति पुरोवर्तिनो हस्तनिर्देशः । स्तनभारश्च ।
तरले लीलविलोले चपले चेति गम्यते । नेत्रे । चले रेचितादिविलासचञ्चले स्थैर्यविहीने
च भ्रूलते च । रागेण लौहित्येन मात्सर्येण चाधिष्ठितम्, तद्भूयिष्ठमित्यर्थः । ‘रागश्च
रक्ते मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितेषु च’ इत्युभयत्रापि विश्वप्रकाशौ । इदमिति निर्देशः ।
ओष्ठपल्लवं अधरकिसलयं चेत्येतानीति शेषः । व्यथां मनःपीडां कुर्वन्तु । नामेति
कुत्सायाम् । खलानां परपीडाकरणस्य स्वाभाविकत्वादिति भावः । किंतु पुष्पायुधेन
कामदेवेन स्वयं स्वहस्तेन लिखिता सौभाग्याक्षरमालिका सौभाग्याभिव्यञ्जकपुण्यवर्ण-
पङ्क्तिरिव स्थितेत्युत्प्रेक्षा । तथा मध्यस्था अवलम्बप्रदेशविलम्बा तटस्थापि सा प्रसिद्धा
रोमावलिः रोमराजिः केन हेतुना अधिकं तापं करोति मनः संतापयति ? विशिष्टत-
टस्थस्य परसंतापकरणानौचित्यादिति भावः । अत्र पूर्वार्धे उद्धृतत्वादिपदार्थानां
श्लेषभङ्ग्या स्वाभाव्येन च विशेषणगत्या पीडाकरणं पदार्थं प्रति हेतुत्वकथनात्पदार्थ-
हेतुकमेकं काव्यलिङ्गम् । उत्तरार्धे तु तटस्थपदार्थस्य श्लेषभङ्ग्यैव केन तापयतीत्याक्षे-
पपदार्थं प्रति हेतुत्वकथनादपरं च । तच्चोक्तोत्प्रेक्षया सापेक्षितत्वात्संकीर्णम् ।
तत्पूर्ववाक्यकाव्यलिङ्गेन नैरपेक्ष्यात्संसृज्यत इत्यनयोः सजातीयसंसृष्टिः । एतेन
स्तनभारादेर्लोकोत्तरलावण्यसंपन्नत्वमत्यन्तजनसंमोहकत्वं च सूच्यते । शार्दूलविक्री-
डितं वृत्तम् ॥ १५ ॥

मुखेन चन्द्रकान्तेन महानीलैः शिरोरुहैः ।

पाणिभ्यां पद्मरागाभ्यां रेजे रत्नमयीव सा ॥ १६ ॥

चन्द्रकान्तेन इन्दुसुन्दरेण चन्द्रकान्तमणिरूपेण चेति गम्यते । मुखेन च
महानीलैरतिमेचकैः सिंहलद्वीपसंभवेन्द्रनीलैश्च शिरोरुहैः कुन्तलैश्च । ‘सिंहलस्याक-
रोद्भूता महानीलास्तु ते स्मृताः’ इति भगवानगस्त्यः । तथा पद्मस्य राग इव रागो
ययोस्तौ ताभ्यां पद्मरागमणिरूपाभ्यां च कराभ्याम् । सा सुन्दरी रत्नमयीव रत्नरूपेव
रेजे । ‘तत्प्रकृतवचने मयट्’ । ‘टिङ्गाणञ्-’इत्यादिना ङीप् । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ १६ ॥

गुरुणा स्तनभारेण मुखचन्द्रेण भास्वता ।

शनैश्चराभ्यां पादाभ्यां रेजे ग्रहमयीव सा ॥ १७ ॥

गुरुणा दुर्भरेण गीष्पतिरूपेण च । ‘गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि
दुर्भरे’ इत्युभयत्रापि शब्दार्णवः । स्तनभारेण च भास्वता भास्वरेण सूर्येण च ।

‘भास्वान् भास्वरसूर्ययोः’ इति विश्वः । मुखमेव चन्द्रस्तेन च । शनैश्चराभ्यां मन्दगमनाभ्यां शनैश्चराख्यग्रहाभ्यां पादाभ्यां च सा ग्रहमयीव रेजे । प्रक्रिया तु पूर्ववत् । अत्र श्लोकद्वयेऽपि श्लेषमहिम्ना रत्नमयत्वग्रहमयत्वोत्प्रेक्षणात् श्लेषसंकीर्ण्य-मुत्प्रेक्षा । तथा चास्या लोकोत्तराकाररूपलावण्यसौन्दर्यकान्तिविशेषभाग्यसौभाग्या-दिसकलकल्याणगुणाभिरामत्वं गम्यते । एतच्च मदीयशृङ्गारशृङ्गाटके रुक्मिणीवल्लभ-व्याख्याने ‘निधिमयी ग्रहमयी’ इत्यत्र विस्तरेण प्रपञ्चितमितीहोपरम्यते । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ १७ ॥

तस्याः स्तनौ यदि घनौ जघनं च हारि

वक्त्रं च चारु तव चित्त ! किमाकुलत्वम् ।

पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तवास्ति वाञ्छा

पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः ॥ १८ ॥

तस्यास्तरुण्याः स्तनौ घनौ निविडौ यद्यपि । जघनं कटिपुरोभागश्च हारि मनोहरं यद्यपि । ‘स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः’ इत्यमरः । वक्त्रं च चारु मनोज्ञं यद्यपि । हे चित्त ! तव आकुलत्वं लोलुपत्वं किं किमर्थम् ? मास्तिवत्यर्थः । तावन्मा-त्रेणासंभवादिति भावः । तर्हि किं कर्तव्यमित्यत आह—तेषु स्तनादिषु तव वाञ्छा संभोगाभिलाषोऽस्ति यदि वर्तते चेत्, तर्हि पुण्यं सत्कर्म कुरुष्व समाचर । कुतः ? । पुण्यैर्विना समीहितार्था वाञ्छितार्था न भवन्ति हि खलु । ज्योतिष्टोमादिसत्कर्माचरणेन रम्भासंभोगवत्केनचित्पुण्यविशेषेण तवापि तत्संभोगः संभविष्यतीति भावः । अर्था-न्तरन्यासालंकारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १८ ॥

अथ विलासवर्णनं निगमयति—

इमे तारुण्यश्रीनवपरिमलाः प्रौढसुरत-

प्रतापप्रारम्भाः स्मरविजयदानप्रतिभुवः ।

चिरं चेतश्चोरा अभिनवविकारैकगुरवो

विलासव्यापाराः किमपि विजयन्ते मृगदृशाम् ॥ १९ ॥

तारुण्यश्रियो यौवनसंपदो नवपरिमला नूतनपरिमलप्रायाः, तद्वदभिव्यञ्जका इत्यर्थः । यद्वा तारुण्यश्रियो नवोऽपूर्वः परिमलः सौभाग्यविशेषो येषां ते तथोक्ताः । प्रौढसुरतं प्रचण्डरतिस्तत्र यः प्रतापः सामर्थ्यं तस्य प्रारम्भा उपक्रमाः स्मरस्य जगज्जित्वरस्य मन्मथस्य विजयदाने प्रतिभुवः लग्नकाः । ‘स्युर्लग्नकाः प्रतिभुवः’ इत्यमरः । यथा प्रतिभुवः अधमर्णात् धनमुद्धृत्य उत्तमर्णाय दातुं समर्थास्तथा इमेऽपि दिग्विजयमाकृष्य स्मराय दातुं समर्था इत्यर्थः । चिरं चिरकालमारभ्य चेतश्चोराः चित्ताकर्षकाः, मनोहरा इति यावत् । अभिनवविकारैराकस्मिकभयकम्पा-नुकरणादिप्रत्यग्रयौवनविकारैरेकगुरवोऽत्यन्तभूयिष्ठा मृगदृशां तरुणीनां संबन्धिन इमे पूर्वोपवर्णिता विलासव्यापाराः शृङ्गारचेष्टाविशेषाः किमप्यनिर्वाच्यतया विजयन्ते सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । ‘विपराभ्यां जेः’ इत्यात्मनेपदम् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १९ ॥

प्रणयमधुराः प्रेमोदारा रसाश्रयतां गताः

फणितिमधुरा मुग्धप्रायाः प्रकाशितसंमदाः ।

प्रकृतिसुभगा विस्मम्भार्द्राः स्मरोदयदायिनो

रहसि किमपि खैरालापा हरन्ति मृगीदृशाम् ॥ २० ॥

‘विस्मम्भे परमां काष्ठामारुढे दर्शनादिभिः । येनान्तरङ्गं द्रवति स स्नेह इति कथ्यते ॥’ इत्युक्तलक्षणः स्नेहः ‘प्रणय’शब्देन विवक्षितः । तेन प्रणयेन मधुराः संतापहराः । ‘शीतलीक्रियते तापो येन तन्मधुरं स्मृतम्’ इति लक्षणात् । प्रेम्णा अनुरागविशेषेण उदारा रम्याः, मनोहरा इति यावत् । रसाश्रयतां शृङ्गारास्पदत्वं गताः, शृङ्गाररसप्रसरोल्लसिता इत्यर्थः । फणित्या संदर्भविशेषेण मधुराः माधुर्य-गुणयुक्ताः । अमृतप्राया इत्यर्थः । मुग्धप्रायाः सौकुमार्यभरिताः, श्रुतिरञ्जका इत्यर्थः । प्रकाशितोऽभिव्यञ्जितः संमदः संभोगौत्सुक्यं यैस्ते तथोक्ताः प्रकृतिसुभगाः स्वभाव-रुचिराः विस्मम्भार्द्रा विश्वासपरिप्लुताः अत एव स्मरोदयदायिनो जितेन्द्रियस्यापि मन्मथोद्रेकावहाः मृगीदृशां संबन्धिनः खैरालापाः । नर्मोक्तय इति यावत् । रहसि एकान्ते किमपि हरन्ति । यद्वा रहसि खैरालापा इत्यन्वयः । किमपि हरन्ति । यद्वा अनिर्वाच्यतया मनोहरा भवन्तीत्यर्थः । अत्र श्लोकद्वयेऽपि संमर्दसहिष्णोः शृङ्गारस्य पाठसमयेऽप्यास्वाद्यमानत्वादन्तर्बहिःस्फुरणेन द्राक्षापाकोऽनुसंधेयः—‘द्राक्षापाकः स कथितो बहिरन्तःस्फुरद्रसः’ इति लक्षणात् । तथा श्लेषप्रसादादयो दण्ड्याचार्योक्ता दश प्राणाश्च प्रायेणात्र सन्ति ते निपुणैरुच्येया इति संक्षेपः । प्रकरणेऽस्मिन्प्रायशो नायकानुकूला दक्षिणाश्चानुसंधेयाः—‘एकायतोऽनुकूलः स्यात्तुल्योऽनेकत्र दक्षिणः’ इति लक्षणात् । हरिणी वृत्तम् ॥ २० ॥

इति शृङ्गारशतकव्याख्याने स्त्रीप्रशंसा नाम प्रथमा विंशतिः ।

श्रीरामार्पणमस्तु ।

(अथ संभोगवर्णनम् ।)

अथ संभोगविप्रलम्भभेदविभिन्नयोः शृङ्गारयोर्मध्ये संभोगशृङ्गारं सप्रपञ्चमुत्तरत्र वर्णयिष्यन्नादौ विप्रलम्भशृङ्गारमेकेनाह—

विश्रम्य विश्रम्य वनद्रुमाणां

छायासु तन्वी विचचार काचित् ।

स्तनोत्तरीयेण करोद्धृतेन

निवारयन्ती शशिनो मयूखान् ॥ २१ ॥

काचित्तन्वी कृशाङ्गी वनद्रुमाणां केलिवनवृक्षाणां छायासु चन्द्रातपरहिताधःप्रदेशेषु विश्रम्य विश्रम्य पुनः पुनः श्रममपनीय । वीप्सायां द्विर्भावः । ‘छाया त्वनातपे कान्तौ’ इति विश्वः । विचचार संचचार । केलीवनसंचारस्य विरहिजनविनोदोपायत्वादिति भावः । कथंभूता सती ? करोद्धृतेन हस्तोल्क्षितेन स्तनोत्तरीयेण कुचकुम्भाच्छादनपटाञ्चलेन शशिनश्चन्द्रस्य मयूखान्किरणान्, आतपानिति यावत् ।

निवारयन्ती निराकुर्वन्ती, ग्रीष्मोष्मणो व्यजनेनेवेति भावः । चन्द्रकिरणानां विरहिणीजनसंतापकरत्वात्तन्निवारणोक्तिः । एतेन दशावस्थापक्षे षष्ठी मन्मथावस्था । तथा च चतुर्थी जागरावस्था । तथा उत्तरीयेण शशिमयूखानामनिवारणीयत्वविवेकाभावाच्चित्तविभ्रमप्रतीतिः कामशास्त्रोक्तद्वादशावस्थापक्षे दशमी उन्मादावस्था सूच्यते । तन्वीत्यनेन कार्यावस्था च कथिता । तदुक्तम्—‘दृष्टानःसङ्गसंकल्पो जागरः कृशता रतिः । ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ॥’ इति । कामशास्त्रोक्तास्तु—‘चक्षुः-प्रीतिर्मनःसङ्गः संकल्पोऽथ प्रलापिता । जागरः कार्यमरतिर्लज्जालागोऽथ संज्वरः ॥ उन्मादो मूर्च्छनं चैव मरणं चरमं विदुः ॥’ इति । इयं च विरहोत्कण्ठिता—‘चिरयत्यधिकं कान्ते विरहोत्कण्ठितोन्मनाः’ इति लक्षणात् । उपजातिवृत्तम् ॥ २१ ॥

अथ संभोगशृङ्गारः । स च बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधः । वात्स्यायनेनाप्यस्य द्विविधस्यापि प्रकारान्तरेण द्विविधत्वमुक्तम्—‘बाह्यमाभ्यन्तरं चेति सुरतं द्विविधं स्मृतम् । तत्राद्यं चुम्बनाश्लेषनखदन्तक्षतादिकम् ॥ द्वितीयं सुरतं साक्षान्नानाकरण-कल्पितम् ॥’ इति । तत्र प्रथमालिङ्गनरूपं सोपस्कारमाह द्वाभ्याम्—

अदर्शने दर्शनमात्रकामा
दृष्ट्वा परिष्वङ्गसुखैकलोला ।
आलिङ्गितायां पुनरायताक्ष्या-
माशास्महे विग्रहयोरभेदम् ॥ २२ ॥

अत्र यत्तच्छब्दाध्याहारेणान्वयः कार्यः । अदर्शने प्रियतमविषयकदर्शनाभावे सति । क्वचित्प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते । यथा अदर्शनमश्रवणमभाषणमनुच्चारणमित्याद्यभियुक्तोक्तिः । दर्शनमात्र एव कामोऽभिलाषो यस्याः सा तथोक्ता । तावन्मात्राभिलाषिणीत्यर्थः । ततो दृष्ट्वा, प्रियतममिति शेषः । परिष्वङ्गसुखेन आलिङ्गनजनितसुखेन एकं मुख्यं यथा तथा लोला सतृष्णा । ‘लोलश्चलसतृष्णयोः’ इत्यमरः । या, आयताक्षीति शेषः । तस्यां आयताक्ष्यां कर्णान्तविश्रान्तलोचनायां प्रियतमायां पुनरालिङ्गितायां संपरिष्वक्तायां सत्याम् । विग्रहयोः शरीरयोः । ‘शरीरं वर्ष्म विग्रहः’ इत्यमरः । अभेदं ऐक्यं आशास्महे, तादृग्गाढालिङ्गनसुखमनुभवितुमभिलाषामहे इत्यर्थः । ‘तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः’ इत्यादिश्रुतेः । प्रियतमागाढालिङ्गनपरिष्वङ्गे विगलितवेद्यान्तरत्वेन ब्रह्मानन्दसुखविशेषसंभवात्तथाविधालिङ्गनाशंसनं युक्तमेवेति भावः । तदुक्तं रतिरहस्ये ‘तत्सौख्यं परतत्त्ववेदनमहानन्दोपमं मूढधीः को वा निन्दति सूक्ष्ममन्मथकलावैचित्र्यमूढो जनः’ इति । अन्यत्राप्युक्तम्—‘प्रौढालिङ्गनचुम्बनामितसुखं प्रच्छन्नवेद्यान्तरम्’ इति । वृत्तं पूर्ववत् ॥ २२ ॥

एवं परमानन्दानुसंधायकत्वेन परिष्वङ्गस्यापवर्गरूपत्वमुक्त्वा संप्रति स्वर्गरूपत्वमाह—

मालती शिरसि जृम्भणं मुखे
चन्दनं वपुषि कुङ्कुमाविलम् ।
वक्षसि प्रियतमा मदालसा
स्वर्ग एष परिशिष्ट आगमः ॥ २३ ॥

शिरसि मालत्याः पुष्पं मालती, जातीकुसुममालिकेत्यर्थः । 'सुमना मालती जातिः', 'पुष्पे जातीप्रभृतयः' इत्युभयत्राप्यमरः । 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' इति लुक् । मुखे जृम्भणं मदनमदजनितजृम्भश्च । 'जृम्भस्तु त्रिषु जृम्भणम्' इत्यमरः । यद्वा संभोगौत्सुक्यसूचकरागविलासस्रूर्तिश्च । वपुषि कुङ्कुमाविलं काश्मीरजमिश्रितं घुसृण-
रसमसृणितं वा चन्दनं पाटीरपङ्कं च वक्षसि मदालसा मदनमदमन्थरा प्रियतमा गाढमालिङ्गितमत्तकाशिनी च । इत्येषोऽयं समुदायः स्वर्गः स्वर्गशब्दवाच्य आगमः । स स्वर्गः स्यात् सर्वात्प्रत्यविशिष्टत्वात् । एतद्यतिरिक्तस्वर्गाभिधायकशास्त्रं तु परिशिष्टः साराभिप्रायानभिज्ञत्वादमुख्यः । स्वर्गपदवाच्यमुख्यार्थबोधशून्य इत्यर्थः । अन्यथै-
तत्परत्वेनैव वदेदिति भावः । स्वर्गसमानसौख्यप्रदोऽयमेवेति परमार्थः । रथोद्धता वृत्तम्—'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ॥ २४ ॥

अथाभ्यन्तरसंभोगं वर्णयितुमुपक्रमते—

प्राङ्गा मेति मनागनागतरसं जाताभिलाषं ततः

सव्रीडं तदनु श्लथोद्यममथ प्रध्वस्तधैर्यं पुनः ।

प्रेमार्द्रं स्पृहणीयनिर्भररहःक्रीडाप्रगल्भं ततो

निःसङ्गाङ्गविकर्षणाधिकसुखं रम्यं कुलस्त्रीरतम् ॥ २४ ॥

प्राक् प्रारम्भे मनाक् अल्पं मा मेति मास्तु मास्त्विति निषेधवचनेन अनागतः अनुत्पन्नः रसोऽनुरागविशेषो यस्मिंस्तत्, मौग्ध्यादिति भावः । ततो निषेधानन्तरं जातोऽङ्कुरितोऽभिलाषो वाञ्छा यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । तदन्वभिलाषानन्तरम् । 'अनु-
र्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयत्वाद्वितीया । नीवीविक्षंसनादिषु मन्दोद्यमनभावो व्रीडा तथा सह सव्रीडम् । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । 'वोपसर्जनस्य' इति सहशब्दस्य सत्वम् । अथ व्रीडानन्तरं श्लथोद्यमं निराकरणे शिथिलप्रयत्नम् । पुनरुद्य-
मनाभावानन्तरम् । 'पुनः' शब्दोऽत्रानन्तर्यार्थकः । प्रध्वस्तं विगलितं धैर्यं प्रातिलोम्य-
लक्षणं यस्मिंस्तत्तथोक्तम्, अङ्गीकृताभिमुख्यमित्यर्थः । ततः प्रेमार्द्रं प्रणयरसपरि-
भुतम् । ततः स्पृहणीया अन्योन्यमभिलषणीया निर्भरा उद्वेलाश्च या रहःक्रीडा एकान्तकेलयः, विस्मम्भविहारा इति यावत् । ताभिः प्रगल्भं प्रौढम् । ततो निःसङ्गे-
नाप्रतिबन्धेन अङ्गविकर्षणेन कुचाद्यवयवमर्दनेन अधिकसुखं परमानन्दो यस्मिंस्त-
त्तथोक्तम् । कुलस्त्रीरतं स्वस्त्रीसंभोगः रम्यं सुन्दरम्, अत्यन्तमनोहरमिति यावत् ।
एतच्च प्रथमसमागमपरत्वेन द्रष्टव्यम्, अन्यथोक्तव्यवहारासंभवादिति भावः ।
कुलशब्दव्यावर्तितसंभोगस्त्रीसंभोगस्त्वादित आरभ्य प्रागल्भ्यघटितत्वेनोक्तविलक्षण-
त्वादन्त्यादृशो द्रष्टव्यः । नायिका तु मुग्धा । नायकस्तत्तमोऽनुकूलः कामतन्त्रेषु
निपुणः । अन्यथोक्तक्रमसंभोगासंभवादिति मन्तव्यम् । संभोगलक्षणमुक्तं रतिरहस्ये—
'अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ । दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोग उदाहृतः ॥'
इति । अत्र मा मेति वागारम्भसूचितैरनुभावैर्जाताभिलाषमित्युक्तेन रत्याख्यस्थायिभावेन
सव्रीडमित्यनेनोपलक्षितैः संचारिभावैः अविशिष्टैर्विशेषणैर्यथायथं मानैरनुभावादिविशेषैः
'कुलस्त्री' इत्युक्तेनालम्बनविभावेन प्रतीयमानो रससार्वभौमः शृङ्गारो निःसङ्गाङ्गविकर्ष-
णाधिकसुखमित्यनेन परितोषातिशयं प्राप्नोतीति वेदितव्यम् । शार्दूलविक्रीडितम् ॥ २४ ॥

अथ यदुक्तम् 'नानाकरणकल्पितम्' इति, तत्र नानाकरणानि धैनुकादिबन्ध-
विशेषाः । तेषां मध्ये एकं बन्धविशेषं विवक्षुस्तदनुकूलमुपरिसुरतमाह—

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां

मुकुलितनयनानां किञ्चिदुन्मीलितानाम् ।

उपरिसुरतखेदस्विन्नगण्डस्थलाना-

मधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ॥ २५ ॥

उरसि निपतितानां पुरुषायितबन्धवशाद्वक्षःस्थलमधिष्ठितानाम् । अत एव स्रस्त-
धम्मिल्लकानां रतिरभसविश्लथकचप्रचयानाम् । 'धम्मिल्लः संयताः कचाः' इत्यमरः ।
तथा मुकुलितनयनानां रतिसुखपारवश्याल्लज्जानुभावानुकरणाद्वा विनिमीलितलोचना-
नाम् । तथापि किञ्चिदुन्मीलितानां ईषद्विकसितालोकनानाम्, अन्यथा अनौचित्या-
दिति भावः । अत एव उपरिसुरते यः खेदः श्रमस्तेन स्विन्नानि खेदाद्वाणि गण्ड-
स्थलानि यासां तासाम् । 'श्रमः खेदो हि रत्यादेर्जातः खेदादिभूमिकृत्' इति
लक्षणात् । वधूनां प्रियतमानां संबन्धि अधरमधु अधरामृतं भाग्यवन्तः भाग्य-
शालिनः पिबन्ति । पुरुषायिते स्त्रीमुखस्य निजमुखसामुख्यादक्लेशेनाधरं चुम्बन्ती-
त्यर्थः । एतच्च पुण्यकृतामेव संभवति, न त्वन्येषामत एव भाग्यवन्त इत्युक्तम् । तथा
बाह्यसुरतविशेषरूपमपि चुम्बनमाभ्यन्तराङ्गतया कथितमित्यवगन्तव्यम् । पुरुषा-
यितलक्षणमुक्तं रतिरहस्ये—'स्वेच्छया श्रमिणि वल्लभे तथा योषिदाचरति पुरुषा-
यितम्' इति । नायिकस्तु प्रगल्भः; 'स्मरमन्दीकृतव्रीडा प्रौढा संपूर्णयौवना' इति
लक्षणात् । नायिकाः कामतन्त्रकुशला अनुकूलाश्च । स्वभावोक्तिरलंकारः;
'स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् । मालिनी वृत्तम् ॥ २५ ॥

अथ ज्ञानपूर्वक एव सुरतानुभवः सार्थकः, न त्वन्य इत्याह—

आमीलितनयनानां यः सुरतरसोऽनु संविदं भाति ।

मिथुनैर्मिथोऽवधारितमवितथमिदमेव कामनिर्वहणम् ॥ २६ ॥

आमीलितेति । आमीलितनयनानां सुखपारवश्याद्वरमुकुलितनयनानां यूनां यः
सुरतरसः सुरतास्वादः संविदं अनु ज्ञानमनुसृत्य भाति, अयमेतादृश इति ज्ञान-
गोचरतया प्रतिभातीत्यर्थः । इदमेव ज्ञानपूर्वकसुरतानुभवप्रतिभानमेव अवितथं
अव्यर्थम्, सार्थकमित्यर्थः । कामस्य मन्मथस्य कामपुरुषार्थस्य वा निर्वहणं प्रतिष्ठा-
पनम्, उज्जीवनमिति यावत् । न त्वन्यदाभासत्वादिति भावः । इति मिथुनैः रसज्ञैः
स्त्रीपुरुषैः । 'स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वम्' इत्यमरः । मिथोऽन्योन्यं अवधारितं निश्चितम् ।
अनुभविनामेवार्थनिश्चयसंभवादिति भावः । ज्ञानपूर्वकसुरतानुभव एव काम-
पुरुषार्थ इति फलितार्थः । अत इत्थंभूतसुरतमेव कर्तव्यम्, न त्वन्यादृशम् । तस्य
क्लेशमात्रफलकत्वादिति तात्पर्यम् । आर्यावृत्तमेदः ॥ २६ ॥

अथ सुरतावधिं कथयन्निगमति—

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां

यदिह जरास्वपि मान्मथा विकाराः ।

सु. त्रि. ७

तदपि च न कृतं नितम्बिनीनां

स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा ॥ २७ ॥

इहास्मिल्लोके पुंसामिदमनुचितं अन्याय्यं अक्रमो निर्मर्यादा च । किमिदमित्या-
शङ्कयामाह—जरासु, वार्धकावस्थास्वपीत्यर्थः । 'विस्त्रसा जरा' इत्यमरः । पिद्भिदादि-
भ्योऽङ् । मान्मथा विकाराः सुरतव्यासङ्गाः, कृता इति यावत् । इदमिति संबन्धः ।
किंतु यौवनावधिकसुरतमेव न्याय्यं मर्यादागोचरं चेत्यर्थः । तदुपरितनसुरतस्या-
भासत्वादिति भावः । तथा नितम्बिनीनां स्त्रीणां च तदनुचितम् । किं तदित्यत
आह—स्तनपतनं अवधिः मर्यादा यस्य तत्तथोक्तं जीवितं जीवनं वा रतं वा
सुरतं वा न कृतमिति यत्, ब्रह्मणेति शेषः । तदिति संबन्धः । स्त्रीणां तावत्स्तनपत-
नावधिकमेव जीवनं कर्तव्यं, सुरतमपि तदवधिकमेव, अन्यथा 'तारुण्यं पञ्चपञ्चा-
शदवधि परतो वृद्धतामेति नारी' इति कामशास्त्रोक्तेर्वृद्धानां संभोगानर्हत्वात्, 'त्यजे-
दन्यकुलोद्भूतां वृद्धस्त्रीं कन्यकां त्यजेत्' इति निषेधस्मरणात्, 'आलिङ्गनं लम्बपयोध-
राणां स्त्रीणां च दुःखं त्रयमेव भूमौ' इति लम्बस्तननितम्बिनीसंभोगस्य दुःखरूपत्वा-
च्चेति भावः । यथाह माघः—'अयमतिजरठाः प्रकामगुर्वारलघुविलम्बिपयोधरोप-
रुद्धाः । सततमसुमतामगम्यरूपाः परिणतिदिक्करिकास्तटीर्बिभर्ति ॥' इति । अत्र
स्त्रीणां पुरुषाणां च यौवनकृतसुरतमेव रमणीयमिति तात्पर्यम् । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ;
'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् ॥ २७ ॥

यदुक्तं सुरतानुगुण्येन यौवनस्यात्यन्तावश्यकत्वं तन्निर्भिर्वर्णयति, तत्रादौ चिर-
प्रवासनिर्विण्णानां राजसेवातत्पराणां यूनां वचनमेतत्—

राजंस्तृष्णाम्बुराशेर्न हि जगति गतः कश्चिदेवावसानं

को वार्थोऽर्थैः प्रभूतैः स्ववपुषि गलिते यौवने सानुरागे ।

गच्छामः सद्य तावद्विकसितकुमुदेन्दीवरालोकिनीना-

माक्रम्याक्रम्य रूपं झटिति न जरया लुप्यते प्रेयसीनाम् ॥ २८ ॥

हे राजन् ! जगति अस्मिल्लोके कश्चिदेव कश्चिदपि पुमान् । तृष्णा धनलिप्सा
सा एवाम्बुराशिः समुद्रस्तस्य अवसानं पारं न गतो हि न प्राप्तः खलु, किंतु मग्न
एवेत्यर्थः । तृष्णाया अपरिच्छिन्नत्वादम्बुराशित्वरूपणम् । अथ यावत्काङ्क्षितार्थ-
लाभेऽपि न तैः प्रयोजनसिद्धिरित्याहुः । प्रभूतैः प्रचुरैः । 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्'
इत्यमरः । अर्थैर्धनैः को वाऽर्थः किं प्रयोजनम् ? न किमपीत्यर्थः । अकिंचित्करत्वादिति
भावः । 'अर्थोऽभिधेयैर्वस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । कस्मिन्कथंभूते सति ? ।
स्ववपुषि निजशरीरे अधिकरणे सानुरागे संभोगेच्छाजनके अनुरागसहिते वा यौवने
गलिते सति कोऽर्थ इति संबन्धः । धनलाभादपि यौवनमेवास्माकं बलीय इत्यर्थः ।
अतस्तावत्तत्पूर्वमेव सद्य स्वगृहं प्रति गच्छामो यास्यामः । यावत् यदवधि विकसितानि
उत्फुल्लानि कुमुदानि कैरवाणि इन्दीवराणि नीलोत्पलानि च तत्सदृशान्यालोकानि
नेत्राणि आसां सन्तीति तथोक्तानाम्, सितासिताब्जदलमनोहरनयनानामित्यर्थः ।
'सिते कुमुदकैरवे । इन्दीवरं च नीलेऽस्मिन्' इत्युभयत्राप्यमरः । प्रेयसीनां प्रियतमानां
संबन्धि रूपं यौवनप्रयुक्तसौन्दर्यं जरया आक्रम्याक्रम्य अभीक्ष्णं आक्रम्य झटिति

अञ्जसा । 'स्वाग्ज्झटिल्यञ्जसाहाय' इत्यमरः । न लुप्यते न हियते, तावदिति संबन्धः । अन्यथा शशकापाये बिलखननवद्गमननैष्फल्याद्बुद्धस्त्रीगमननिषेधाच्चेति भावः । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ २८ ॥

अथास्यानर्थमूलत्वमाह—

रागस्यागारमेकं नरकशतमहादुःखसंप्राप्तिहेतु-

मोहस्योत्पत्तिबीजं जलधरपटलं ज्ञानताराधिपस्य ।

कन्दर्पस्यैकमित्रं प्रकटितविविधस्पष्टदोषप्रबन्धं

लोकेऽस्मिन्न ह्यनर्थव्रजकुलभवनं यौवनादन्यदस्ति ॥ २९ ॥

रागस्य मात्सर्यस्य एकं अगारं मुख्यायतनं अनुरागस्थानमिति वा । तथा नरक-
शतेषु निरयपरम्परासु यानि महादुःखानि तीव्रयातनास्तेषां संप्राप्तिहेतुः प्राप्ति-
साधनम्, अगम्यागमनादिदुष्कर्मप्रवर्तकत्वादिति भावः । मोहस्य ह्यन्तरासक्तिरूप-
स्याज्ञानस्य उत्पत्तिबीजं जन्मकारणम् । 'हेतुर्ना कारणं बीजम्' इत्यमरः । ज्ञान-
ताराधिपस्य प्रबोधचन्द्रस्य जलधरपटलं अभ्रवृन्दम्, ज्ञानप्रकाशप्रतिबन्धकमित्यर्थः ।
कन्दर्पस्य कामदेवस्य एकमित्रं मुख्यबन्धुः, तदुद्वेककरमित्यर्थः । प्रकटितः प्रवृद्धः
विविधो नानाविधः स्पष्टः प्रकाशश्च दोषप्रबन्धः पातकसंबन्धो यस्य तत्तथोक्तम्,
यद्यौवनमिति शेषः । अतोऽस्मिन्लोके तस्माद्यौवनादन्यत् इतरत् अनर्थानामुक्तविधानां
व्रजस्य समूहस्य कुलभवनं उत्पत्तिनिकेतनं नास्ति हि, इदमेवात्यन्तानर्थमूलमित्यर्थः ।
तदुक्तम्—'यौवनं रूपसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता । एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र
चतुष्टयम् ॥' इति । वृत्तं तु पूर्ववत् ॥ २९ ॥

इत्थंभूते यौवने कश्चिदेव निर्विक्रिय इत्याह—

शृङ्गारद्रुमनीरदे प्रसृमरक्रीडारसस्रोतसि

प्रद्युम्नप्रियबान्धवे चतुरवाङ्मुक्ताफलोदन्वति ।

तन्वीनेत्रचकोरपार्वणविधौ सौभाग्यलक्ष्मीनिधौ

धन्यः कोऽपि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने ॥ ३० ॥

शृङ्गारः संभोगविप्रलम्भरूपशृङ्गाररस एव द्रुमो वृक्षस्तस्य नीरदे अम्बुवाहे,
अङ्कुरितत्वकन्दलितत्वपल्लवितत्वपुष्पितत्वफलितत्वरूपावस्थाभिः परिपोषावह इत्यर्थः ।
प्रसृमरो व्यापनशीलो यः क्रीडारसो मन्मथकेलिरसस्तस्य स्रोतसि प्रवाहे, अविच्छेदेन
प्रवर्तक इत्यर्थः । अथवा प्रसृमरक्रीडानां रसस्रोतसि रसप्रवाहे, यथेच्छाविहारास्पद
इत्यर्थः । प्रसृमरेत्यत्र 'स्रग्धस्यदः कमरच्' । प्रद्युम्नस्य कन्दर्पस्य प्रियबान्धवे आप्त-
बन्धौ । स्वार्थेऽण् प्रत्ययः । 'प्रद्युम्नो मीनकेतनः । कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः' इत्यमरः ।
चतुरवाचो निपुणवाक्यान्वेव मुक्ताफलानि मौक्तिकमणयः तेषामुदन्वति समुद्रे,
सरससंल्लापोत्पत्तिनिकेतनभूत इत्यर्थः । 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातनात्साधुः ।
समुद्रस्य मुक्ताकरत्वमुक्तं रत्नशास्त्रे—'करीक्षुजीमूतवराहशङ्खमत्स्याहिशुत्तयर्णववेणु-
जानि । मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुत्तयुद्भवमेव भूरि ॥' इति । तन्वीनां
विलासिनीनां नेत्राण्येव चकोराः चन्द्रिकापायिपक्षिविशेषास्तेषां पार्वणविधौ पूर्णचन्द्रे,

तद्वदुल्लासकर इत्यर्थः । पर्वणि भवः पार्वण इति विग्रहः । 'विधुर्विष्णौ चन्द्रमसि' इत्यमरः । सौभाग्यलक्ष्म्याः सौन्दर्यसंपदो निधौ निधाने । कदाचिदपि स्वावस्थान-दशायां सौन्दर्यं न क्षीयत इति भावः । नवे यौवने नूतने वयसि प्राप्ते सति कोऽपि धन्यः कश्चिदेव सुकृती विक्रियां मन्मथविकारं न कलयति न प्राप्नोति, ईदृशस्तु विरल इति भावः । श्लोकद्वयेऽपि निरवयवरूपकालंकारः । वृत्तं शार्दूलविकीडितम् ॥ ३० ॥

यदुक्तं यौवनस्यानर्थमूलत्वं तत्तस्य कामिनीपरित्यागेऽत्यन्तदूरापास्तमित्याशङ्क्य तासामपरित्याज्यतां त्रिभिर्वर्णयति—

संसारेऽस्मिन्नसारे कुनृपतिभवनद्वारसेवाकलङ्क-

व्यासङ्गव्यस्तधैर्यं कथममलधियो मानसं संविदध्युः ।

यद्येताः प्रोद्यदिन्दुद्युतिनिचयभृतो न स्युरम्भोजनेत्राः

प्रेङ्खत्काञ्चीकलापाः स्तनभरविनमन्मध्यभाजस्तरुण्यः ॥ ३१ ॥

अमलधियो निर्मलमतयो महान्तः मानसं निजमनः असारे निरसारे अस्मिन्परिवर्तमाने संसारे कलत्रादिपोषणव्यासङ्गरूपे कुनृपतिभवनद्वारस्य कुत्सितराजमन्दिरस्य प्रतिहारस्य सेवा अनुवर्तनमेव कलङ्कोऽपवादः तत्र यो व्यासङ्गः अत्यासक्तिस्तेन व्यस्तं निरस्तं धैर्यं धीरत्वं यस्य तत्तथोक्तम्, ईदृक्कष्टकर्मासक्तिमलिनमित्यर्थः । कथं संविदध्युः कुर्युः ? न कथंचिदपीत्यर्थः । किं न स्याच्चेदित्यत आह—प्रोद्यत् उदित्वरो य इन्दुः तस्य द्युतिरिव द्युतिर्येषां तानि चन्द्रधवलानि माञ्जिष्ठानि वा । उद्यद्विशेषण-सामर्थ्यात् । तानि निचयानि अङ्कुशानि विभ्रतीति तथोक्ताः । अम्भोजे इव नेत्रे यासां ताः, पद्मपलाशविशाललोचना इत्यर्थः । प्रेङ्खत्काञ्च्यः कणद्रशना एव कलापा भूषणानि यासां ताः । यद्वा काञ्च्यो भूषणानि च यासां ताः । 'कलापो भूषणे बर्हे' इत्यमरः । स्तनभरेण कुचकुम्भगौरवेण विनमन्ति अवनतानि मध्यानि अवलम्बानि भजन्तीति तथोक्ताः, पीवरकुचाः कृशोदर्यश्चेत्यर्थः । एतेन सौन्दर्यातिशय उक्तः । एताः प्रसिद्धास्तरुण्यो युवतयो न स्युर्यदि न भवेयुश्चेत्तर्हि कथं संविदध्युरिति संबन्धः । अतो विशिष्टतरुणीनां विद्यमानत्वादेव सुधियोऽप्येवंभूता भवन्तीत्यर्थः । तस्मात्तरुण्यो दुष्परिहरा इति भावः । तदुक्तम्—'असाधाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे । कुले च कामिनीमूले का वा स्यात्परिकल्पना ॥' इति । अत्रोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थसमर्थ-कत्वात्काव्यलिङ्गभेदः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ३१ ॥

सिद्धाध्यासितकन्दरे हरवृषस्कन्धावरुणद्रुमे

गङ्गाधौतशिलातले हिमवतः स्थाने स्थिते श्रेयसि ।

कः कुर्वीत शिरः प्रणाममलिनं म्लानं मनस्वी जनो

यद्वित्रस्तकुरङ्गशावनयना न स्युः सरास्त्रं स्त्रियः ॥ ३२ ॥

सिद्धैर्योगिभिः अध्यासिता अधिष्ठिताः कन्दरा गुहा यस्य तस्मिन्स्तथोक्ते । एतेन तपःसिद्धिहेतुत्वं सूच्यते । हरस्य नित्यसंनिहितस्य यो वृषो वाहनभूतो महोक्षस्तस्य स्कन्धेन अंसपीठेन, ककुदेति यावत् । अवरुणा भग्नो द्रुमा यस्मिन् तत्तथोक्ते । 'रुजो भङ्गे' कर्मणि क्तः । 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वे णत्वम् । एतेनाखिलश्रेयःप्रद-

शिवसांनिध्यमुक्तम् । गङ्गाधौतानि गङ्गाजलप्रक्षालितानि शिलातलानि यस्मिन् तत्तथोक्ता,
एतेनात्यन्तपवित्रत्वमुक्तम् । अत एव श्रेयसि श्रेष्ठे श्रेयस्करे वा हिमवतो गिरेः संव-
न्धिनि स्थाने प्रदेशे स्थिते सति । को वा मनस्वी सुमेधाः धीरो जनः । प्रशंसायां
विनिः । शिरो निजोत्तमाङ्गं प्रणामेन कुतृपतिपादवन्दनेन मलिनं कलङ्कितम् । अत एव
म्लानं उत्कर्षहीनं कुर्वीत । 'मलिनं मानम्' इति पाठे मानं निजाभिमानं कर्म शिरः-
प्रणामेन निजोत्तमाङ्गविनमनेन मलिनं प्रतिष्ठाहीनं कुर्वीत ? । न कोऽपीत्यर्थः । कुतः ? ।
यद्यस्मात्कारणात् विप्रस्तकुरङ्गशावनयनाः पद्मिनीजातित्वाच्चकितबालहरिणक्षणाः अत
एव स्मरास्त्रं महावीरस्य मारस्य जगद्विजयसाधनभूतबाणा इत्यर्थः । लिङ्गवचनव्य-
त्ययो नित्यनपुंसकत्वेन जाल्यमिप्रायेण वा 'वेदाः प्रमाणम्' 'तन्त्रवः पटस्य समवायि-
कारणम्' इत्यादिवद्ब्रह्मव्य इत्युक्तं प्राक् । स्त्रियः न स्युश्चेत् । अतः अमोघमदनशस्त्र-
भूतस्त्रीणामपरित्याज्यतया विद्यमानत्वादेव मनस्विनामपीदृग्दुरवस्थापत्तिरिति भावः ।
वृत्तमुक्तम् ॥ ३२ ॥

संसार ! तव पर्यन्तपदवी न दवीयसी ।

अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि ते मदिरेक्षणाः ॥ ३३ ॥

हे संसार ! तव पर्यन्तपदवी अवसानसीमा न दवीयसी न दविष्ठा भवति, न
दूरतरेति यावत् । किंतु नेदीयस्येवेत्यर्थः । दूरशब्दादीयसुनि 'उगितश्च' इति ङीप्,
'स्थूलदूर-' इत्यादिना पूर्वगुणयणादिपरलोपौ । कुतः ? । ते तव अन्तरा मध्ये दुस्तरा
महानद्य इव तरितुमशक्याः । 'ईषद्दूर-' इत्यादिना खलप्रत्ययः । मदिरेक्षणाः मद-
मन्थरेक्षणाः स्त्रियः न स्युर्यदि न संभाविताश्चेत् । न दवीयसीति संबन्धः । संभा-
वितत्वादेव दवीयसीत्यर्थः । एतेन संसारपारगमनप्रतिबन्धिन्यः स्त्रिय इत्युक्तम् ।
तत्परित्यागे तु श्रेयःसंभवेदेव इति भावः । पूर्वश्लोकेऽप्यत्रापि च पूर्वतरश्लोकवत्काव्य-
लिङ्गमुज्ज्वलम् । वृत्तमनुष्टुप् ॥ ३३ ॥

इत्थं स्त्रीणां परिहर्तुमशक्यत्वे तदासक्तस्य कुतः श्रेयःप्राप्तिरित्याशङ्कायां तदत्यन्ता-
त्यागत्यागयोरप्येहिकामुष्मिकफलसाधनत्वमेवेति मनसि कृत्वा तदुभयमिदानीं ताव-
न्निरूपयितुं प्रतिजानीते—अथ पक्षद्वयनिरूपणमिति । अथ स्त्रीणां अपरित्याज्य-
त्वकथनानन्तरं पक्षयोः विरक्तयनुरक्तिरूपपक्षयोः द्वयस्य निरूपणं क्रियत इति शेषः ।
तत्प्रकारमेवाविंशतिसमाप्तेर्वर्णयति—

दिश वनहरिणीभ्यो वंशकाण्डच्छेवीनां

कवलमुपलकोटिच्छिन्नमूलं कुशानाम् ।

शक्युवतिकपोलापाण्डुताम्बूलवल्ली-

दलमरुणनखाग्रैः पादितं वा वधूभ्यः ॥ ३४ ॥

हे जनेत्यध्याहार्यम् । वने पुष्पारण्ये हरिणीभ्यः कुरङ्गीभ्यः । तपःप्रसक्त्या
निर्भोक्तत्वेन तासां समीपवर्तित्वादिति भावः । उपलकोट्या निशितपाषाणप्रान्तेन
च्छिन्नानि लूतानि मूलानि यस्य तथोक्तम् । तत्र लवित्रादिसाधनान्तरासंभवान्मूलाना-
मुपलकोटिच्छिन्नत्वमुक्तम् । वंशकाण्डस्य वंशकरीरस्य छविरिव छविर्येषां तेषाम्,

सरसानामित्यर्थः । कुशानां कवलं ग्रासं वा दिश तपश्चरणसमय इति शेषः । अथवा वधूभ्यः प्रियतमाभ्योऽरुणनखानामग्रैः पाटितं शकलितं शक्युवतीनां शकाख्यदेशीय-तरुणीनां कपोलवदापाण्डु आ समन्ताद्धवलं यत्ताम्बूलवल्लीदलं नागवल्लीपत्रं तद्वा दिश, संसरणसमय इति शेषः । उक्तोभयमेव परमसौख्यनिदानं उभयत्र नान्यदिति भावः । एवमुत्तरत्रापि यथायोगमूहनीयम् । अत्र नखानामारुण्यग्रहणं महाभाग्य-लक्षणत्वेन सुखित्वद्योतनार्थम् । तदुक्तं सामुद्रिकैः—‘पाणी पादतले रक्ते नेत्रान्तश्च नखस्तथा । तालुजिह्वाधरोष्ठं च सप्तरक्तः सुखी भवेत् ॥’ इति । मालिनी वृत्तम् ॥३४॥

असाराः सर्वे ते विरतिविरसाः पापविषया

जुगुप्स्यन्तां यद्वा ननु सकलदोषास्पदमिति ।

तथाप्येतद्भूमौ नहि परहितात्पुण्यमधिकं

न चास्मिन्संसारे कुवलयदृशो रम्यमपरम् ॥ ३५ ॥

ननु हे ते प्रसिद्धाः सर्वे पापहेतुत्वात्पापाः विषयाः शब्दादयः, स्रक्चन्दनवनि-तादयो वा । असाराः अस्थिराः, निःसारा वा इति । ‘सारो बले स्थिरांशे च’ इत्यभिधानात् । तथा विरतौ परिणतिसमये विरसाः अनर्थकरा इति वा । यद्वा सकलदोषास्पदम्, रागद्वेषमोहाद्यशेषदोषावहा इति वा । ‘आस्पदं प्रतिष्ठायाम्’ इति निपातनात्सुडागमः । लिङ्गवचनव्यत्ययस्तु पूर्ववद्ब्रष्टव्यः । जुगुप्स्यन्तां परित्यज्यन्ताम् । तत्परित्यागे परमसुखलाभादिति भावः । तथा च वक्ष्यति—‘स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति’ इति । ‘गुपेर्निन्दायाम्’ इति इच्छासन्नन्तात्कर्मणि यकि विधौ लोटि तद्ध । तथाप्युक्तप्रकारेण विषयाणां जुगुप्स्यत्वेऽप्येतद्भूमौ अस्यां भुवि परहितात् परोपकारकरणात् अधिकं अतिरिक्तं पुण्यं नहि नास्ति खलु । ‘श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः । परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥’ इति वचनादिदमेवात्यन्तपुण्यमित्यर्थः । अथास्मिन्संसारे च कुवलयदृश उत्पलाक्ष्याः । ‘अन्यारादितरर्ते’ इत्यादिना पञ्चमी । अपरं अन्यत् रम्यं मनोहरं वस्तु नास्ति, इयमेवात्यन्तं मनोहरेत्यर्थः । अतो दोषदृष्ट्या विषयान्परित्यज्य शमसुखानुभवतात्प-र्येण वा स्थातव्यम्, अन्यथा परहिताचरणतत्परेण सांसारिकतया वा वर्तितव्यम्, न तु प्रकारान्तरेणेति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३५ ॥

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्य-

मार्याः ! समर्यादमिदं वदन्तु ।

सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणा-

मुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥ ३६ ॥

हे आर्याः पण्डिताः ! मात्सर्यं असूयाम्, पक्षपातमिति यावत् । उत्सार्य निराकृत्य, तस्य यथार्थकथनप्रतिरोधकत्वादिति भावः । कार्यं कर्तुं योग्यम्, विधेयमित्यर्थः । विचार्य ऊहापोहाभ्यां सम्यगालोच्य ततः समर्यादं मर्यादया सन्मार्गानतिक्रमणेन सहितं यथा भवति तथा । इदं एतत् वदन्तु कथयन्तु । किमिदमित्यत आह—धर-न्तीति धराः । पचाद्यच् । भुवो धरा भूधरास्तेषां भूधराणां पर्वतानां नितम्बाः

कटिप्रदेशाः सेव्याः किमु आश्रयणीया वा? उत अथवा स्मरस्मेराः स्मरोलसिताः, मदनमदोत्कटा इत्यर्थः । यद्वा स्मरेण मन्मथावेशेन हेतुना स्मेराः संभोगौत्सुक्यसूचक-मन्दस्मितसुन्दरवदनारविन्दा इत्यर्थः । 'धिमङ् ईषद्वसने' इति धातोः 'नमिकम्पि-' इत्यादिना रप्रत्ययः । अथवा विषयमात्रविश्रान्तिविरहेण विशृङ्खलवृत्तित्वमदमन्थर-त्वादिगुणविशिष्टकटाक्षवीक्षणानि स्मरशब्देन विवक्षितानि । तदुक्तं भावप्रकाशे-^{~~~~~}'अप-रिच्छिन्नविषयं मदमन्थरमीलितम् । स्फुरद्भूपक्षतायुक्तं तत्स्मेरमिति कथ्यते ॥' इति । तानि च स्मरप्रधानानि यासां ताः स्मरस्मेरास्तासां विलासिनीनां विलसनशीलानां तरुणीनाम् । 'वौ कषलस-' इत्यादिना घिनुप्रत्ययः । नितम्बाः कटिप्रदेशाः आश्रयणीया वा इदं वदन्तिवति संबन्धः । यदि वैराग्यं स्यात्तर्हि गिरिनितम्बाः सेव्याः, अन्यथा विलासिनीनितम्बा इति त्वदीयप्रश्नस्येदमुत्तरं न त्वन्यदस्तीति भावः । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः', 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः' इति चोभयत्राप्यमरः । अत्र पूर्वार्धे एकवर्णस्य पुनःपुनरावृत्तैवृत्यनुप्रासः शब्दालंकारभेदः; 'एकद्विप्रभृतीनां तु व्यञ्जनानां यदा भवेत् । पुनरुक्तिरसौ नाम वृत्यनुप्रास इष्यते ॥' इति लक्षणात् । अयं च नितम्बा इत्यत्र द्वयानामपि नितम्बानां प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतत्वगोचरेण एक-नालावलम्बिफलद्वयवदेकस्मादेवशब्दार्थद्वयप्रतीतेः केवलार्थप्रवणेन विजातीयनोत्तर-वाक्यस्थेन श्लेषेण तिलतण्डुलवत्परस्परनैरपेक्ष्यात्संसृष्टिः कंचिच्चमत्कारातिशयमावह-तीति काव्यस्य महानुत्कर्षः प्रतिपादित इति रहस्यम् । वृत्तमुपजातिः ॥ ३६ ॥

संसारे स्वप्नसारे परिणतितरले द्वे गती पण्डितानां

तत्त्वज्ञानामृताम्भःप्लवललितधियां यातु कालः कथंचित् ।

नो चेन्मुग्धाङ्गनानां स्तनघनजघनाभोगसंभोगिनीनां

स्थूलोपस्थस्थलीषु स्थगितकरतलस्पर्शलीलोद्यमानाम् ॥३७॥

स्वप्नस्य सार इव सारो यस्य तस्मिन्, मिथ्याभूत इत्यर्थः । 'सप्तम्युपमाने' इत्यादिना बहुव्रीहिः । तथा परिणत्यां परिणामावस्थायां तरले अस्थिरे, अशाश्वत इत्यर्थः । संसारे संसृतौ पण्डितानां परिज्ञातृणां द्वे गती अवस्थे, विद्येते इति शेषः । के द्वे इत्याशङ्कयामाह-तत्त्वज्ञानमेव अमृताम्भः अमृतप्रायजलं तत्र प्लव इव ललिता रुचिरा । यद्वा तत्त्वज्ञानामृताम्भसि प्लवः प्लवनम्, क्रीडेति यावत् । तत्र ललिता उल्लासवती धीर्येषाम् तेषाम्, तत्त्वज्ञानोल्लसितबुद्धीनां सतामित्यर्थः । कथंचिदति-प्रयत्नेन कालो यातु गच्छतु, अतिक्रामत्वित्यर्थः । 'कथमादि तथाप्यन्तैर्यत्नगौरव-बाढयोः' इत्यमरः । 'कालः कदाचित्' इत्यपपाठः । इयमेकावस्था । नो चेदेवं न स्याच्चेत्तर्हि स्तनयोर्धनजघने विपुलकटिपुरोभागे च आभोगसंभोगिनीनां विस्तृतसंभोगे-च्छावतीनाम् । यद्वा स्तनयोर्धनजघनस्य निबिडतरजघनस्य च य आभोगो विस्तार-स्तत्र संभोगिनीनाम् । कुचमर्दननिधुवनरूपबाह्याभ्यन्तरसंभोगाकाङ्क्षिणीनामित्यर्थः । एतेन समानुरागित्वमुक्तम्; अन्यथा आभासप्रसङ्गात् । तदुक्तम्-'एकत्रैवानुराग-श्चेत्तिर्यङ्मूलेच्छगतोऽपि वा । योषितो बहुसक्तिश्च रसाभासस्त्रिधा मतः ॥' इति । मुग्धाङ्गनानां सुन्दरस्त्रीणां नवयौवनानां वा; 'उदययौवना मुग्धा' इति लक्षणात् । स्थूलोपस्थस्थलीषु वर्तुलोच्छूनमदनसदनप्रदेशेषु । 'जानपद' इत्यादिना अकृत्रिमार्थे

जीप । स्थगितमाच्छादितं यत्करतलं तस्य स्पर्शः संपर्कः स एव लीला तत्र उद्यम उद्योगो येषां तेषां सताम् । कामिनीमेहनोपस्थस्पर्शसुखमनुभवतां सतां वेल्यर्थः । कालो यातु । इयं चैकावस्था । इमे द्वे एवोत्तमे गती, न त्वेतद्व्यतिरिक्तं गत्यन्तरमस्तीत्यर्थः । सर्वदा ज्ञाननिष्ठया वा कामगोष्ठ्या वा पण्डितानां कालो यापयितव्यः, न त्वन्यथेति भावः । स्थूलोपस्थेल्यनेन आसां चित्रिणीजातित्वं सूचितम् । तदुक्तं रतिरहस्ये कोकोकेन—‘मदनसदनमस्या वर्तुलोच्छूनमन्तर्मुदु मदनजलाढ्यं रोमभिर्नातिसान्द्रैः । प्रकृतिचपलदृष्टिर्बाह्यसंभोगसक्ता रसयति मधुरालपं चित्रिणी चित्ररक्ता ॥’ इति । एतज्जात्यनुकूलसुरतनियतयामोऽपि तत्रैवोक्तः—‘व्रजति रतिसुखार्थं चित्रिणीमग्रयामे भजति दिनरजन्योर्हस्तिनीं च द्वितीये । रमयति च तृतीये शङ्खिनीमार्द्रभावां रमयति रमणीयां पद्मिनीं तुर्ययामे ॥’ इति । मतान्तरे तु द्वितीययाम इत्युक्तम्—‘घनकुचनखमेदैर्मुष्टिघातैश्च मध्ये रतिनियतकरैश्च प्रीतियुक्तैर्वचोभिः । अनृततरकथाभिस्तत्र यामे द्वितीये सुगुणसहितमन्तश्चित्रिणीं संलभेत ॥’ इति । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ३७ ॥

आवासः क्रियतां गाङ्गे पापहारिणि वारिणि ।

स्तनद्वये तरुण्या वा मनोहारिणि हारिणि ॥ ३८ ॥

पापानि हरत्यभीक्ष्णमिति पापहारिणि । ‘गाङ्गं वारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम् । त्रिपुरारिश्चिरश्चारि पापहारि पुनातु माम् ॥ पापापहारि दुरितारि तरङ्गधारि दूरप्रसारि गिरिराजगुहाविहारि । झङ्कारकारि हरिपादरजोपहारि गाङ्गं पुनातु परितः शुभकारि वारि ॥’ इत्यादिना समस्तपापक्षयकर इत्यर्थः । ‘बहुलमाभीक्ष्ये’ इति णिनिः । गाङ्गे गङ्गासंबन्धिनि । ‘तस्येदम्’ इत्यप्रत्ययः । वारिणि आवासः क्रियताम् । स्नानपानादिना बाह्याभ्यन्तरशुद्धिसंपादनद्वारा स्वर्गापवर्गप्राप्त्यर्थं तत्र निवासो विधीयतामित्यर्थः । तथा च श्रुतिः—‘सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राप्नुतासो दिवमुत्पतन्ति । ये वै तन्व्यां विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते ॥’ इति । स्मृतिश्च—‘गङ्गा तुङ्गतरङ्गिणी भवभयक्लेशापहा सर्वदा मर्त्यानामवगाहनात्सकृदपि स्वर्गेऽपि संस्थापिनी’ इत्यादि । अथवा मनोहारिणि अत्यन्तमनोहरे । पूर्ववण्णिनिः । कुतः ? हारिणि मुक्ताहारवति । अत्र मत्वर्थीय इतिप्रत्ययः । तरुण्या नवयौवनायाः स्तनद्वये आवासः परिशीलनतात्पर्यं क्रियताम् । तरुणी स्तनसमाश्रयस्यैव निरतिशयसुखहेतुत्वादिति भावः । अत्र तरुणीग्रहणं स्तनद्वयस्य पतनाभावेन पाटवातिशयद्योतनार्थम् ; अन्यथाभासप्रसङ्गात् । एतेन मणिहिरण्मयकङ्कणयोरिव स्तनद्वयहारयोरप्यन्योन्यरामणीयकपरिपोषावहत्वेन विशिष्टस्तनद्वयस्याश्रयणयोग्यत्वं सूचितमित्यवगन्तव्यम् । यथाह श्रीहर्षः—‘तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम्’ इति । अत्र पूर्वोत्तरवाक्यस्थयोरनुप्रासयमकयोः शब्दालंकारयोः संसृष्टिः स्पष्टा ॥ ३८ ॥

अथ द्वाभ्यां निगमयति—

किमिह बहुभिरुक्तैर्युक्तिशून्यैः प्रलापै-

र्द्वयमिह पुरुषाणां सर्वदा सेवनीयम् ।

अभिनवमदलीलालालसं सुन्दरीणां

स्तनभरपरिखिन्नं यौवनं वा वनं वा ॥ ३९ ॥

इहास्मिन्नर्थे बहुभिरपरिमितैर्युक्तिशून्यैर्निःसारैरुक्तैरुदितैः प्रलापैरनर्थकवचनैः, किं फलमिति शेषः । वाचो विग्लापनं विना न किञ्चित्फलमस्तीत्यर्थः । 'प्रलापोऽनर्थकं वचः' इत्यमरः । किं त्विहास्मिन्नलोके पुरुषाणां द्वयं सर्वदा निरन्तरम् । 'सर्वथा' इति वा पाठः । सेवनीयं समाश्रेयणीयम् । किं तद्वयमत आह—अभिनवा नूतना या मदलीला मन्मथावेशजनितविलासास्तासु लालसं लोलुपम्, अत्यासक्तमित्यर्थः । स्तनभरेण कुचकलशभारेण परिखिन्नं परिश्रान्तम् । उभयत्रापि यौवनवतीधर्मो यौवन उपचर्यते । सुन्दरीणां यौवनं वा, न त्वसुन्दरीणामिति भावः । उत वनं पुण्यारण्यं वा । सेवनीयमिति संबन्धः । एतयोरेव परमसुखनिदानत्वादिति भावः । मालिनी ॥ ३९ ॥

इदानीं निष्कृष्टमर्थमाह—

सत्यं जना वच्मि न पक्षपाता-

लोकेषु सप्तस्वपि तथ्यमेतत् ।

नान्यन्मनोहारि नितम्बिनीभ्यो

दुःखैकहेतुर्न च कश्चिदन्यः ॥ ४० ॥

किं बहुना, हे जनाः ! सत्यं वच्मि यथार्थं ब्रवीमि । पक्षपातात् वैषम्यात् न वच्मि । सप्तसु लोकेष्वप्येतदेव तथ्यम् । भूर्भुवःस्वरादिसप्तलोकेष्वपीदमेव सत्यमित्यर्थः । किमेतदित्यत आह—नितम्बिनीभ्यस्तरुणीभ्यो मनोहारि मनोहरं वस्तु अन्यन्नास्ति । तथा ताभ्योऽन्य इतरो दुःखानामेकहेतुर्मुख्यकारणं कश्चित् नास्ति । 'को भोगो रमणीं विना' इत्यादिना भोगैकसाधनत्वात्, 'बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः' इत्यनर्थमूलकत्वाच्च नितम्बिनीनामेव परमसुखदुःखैकनिदानत्वादिति भावः । अत्र सप्तश्लोक्या पक्षद्वयनिरूपणस्यायमभिप्रायः—अखण्डनिरतिशयानन्दावाप्तिलक्षणत्वेनाभ्यर्हितत्वान्मुख्यो मोक्षः पुरुषार्थ इति सकलमतसिद्धान्तः । प्रसूतिभाजो विश्वस्य स्त्रीपुंसाभ्यामेव निष्पन्नत्वात्कामस्य पितृऋणविमोचनहेतुभूततया सततं महापुरुषपरिग्रहात्पुरुषार्थत्वमिति नन्दिकेश्वर-श्वेतकेतु-पाञ्चाल-वात्स्यायनादि-पूर्वसिद्धान्तः । एवं च सति 'पूर्वालामे परः परः' इति न्यायान्मुख्यकल्पालामेऽनु-कल्पस्यापि विहितत्वान्मोक्षपुरुषार्थसाधनप्रवृत्त्यलामे कामपुरुषार्थसाधनेषु वा अवश्यं प्रवृत्तिः कर्तव्येत्यनुसंधायैवमुपन्यस्तमिति अत्र नितम्बिन्यतिरिक्तरम्यवस्त्वनर्थहेत्वोः सत्यपि संबन्धेऽसंबन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । इन्द्रवज्रा वृत्तम्; 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति लक्षणात् ॥ ४० ॥

इति शृङ्गारशतकव्याख्याने संभोगवर्णनं नाम द्वितीया विंशतिः ।

श्रीरामार्पणमस्तु ॥

(अथ कामिनीगर्हणम् ।)

यदुक्तम्—‘दुःखैकहेतुर्न च कश्चिदन्यः’ इति, तदेव प्रपञ्चयितुमिदानीं कामिनी-
गर्हणमारभते—अथ कामिनीगर्हणमिति । अथ संभोगनिरूपणानन्तरं कामिनीनां
गर्हणं निन्दा । आविंशतिसमाप्तिं क्रियत इति शेषः । ननु शृङ्गारालम्बनत्वेन प्रसि-
द्धानां कामिनीनां गर्हणे शृङ्गारवर्णनप्रतिज्ञाभङ्गः प्रसज्येतेति चेन्न, शिशुपालादिकृत-
भगवद्गर्हणस्य पुरुषार्थपर्यवसानवत्कामिनीगर्हणस्यापि यथाकथंचिच्छृङ्गारवर्णन एव
पर्यवसानाच्च कोऽपि विरोध इति मन्तव्यम् । तत्प्रकारमेव विवृणोति—

कान्तेत्युत्पललोचनेति विपुलश्रोणीभरेत्युन्नम-

त्पीनोत्तुङ्गपयोधरेति सुमुखाम्भोजेति सुभूरिति ।

दृष्ट्वा माद्यति मोदतेऽभिरमते प्रस्तौति विद्वानपि

प्रत्यक्षाशुचिभस्त्रिकां स्त्रियमहो मोहस्य दुश्चेष्टितम् ॥४१॥

वेत्तीति विद्वान् सारासारविचारचतुरः । ज्ञानवानपीत्यर्थः । किमुतान्य इति
भावः । ‘विदेः शतुर्वसुः’ इति वखादेशः । प्रत्यक्षेणाशुचिभस्त्रिकां अपवित्रचर्मपुटीम् ।
स्वार्थे कः । ‘प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्य-’ इत्यादिना इकारादेशः ‘भस्त्रैषाजाज्ञा-’ इत्यादिना
वैकल्पिकः । ‘पुत्रिकाम्’ इति पाठे अशुचिपाञ्चालिकाम् । अत्यन्तजुगुप्सितस्वरूपामि-
त्यर्थः । तदुक्तम्—‘हासोऽस्थिसंदर्शनमक्षियुग्ममत्युज्ज्वलं तत्कलुषावसायाः । स्तनौ
च पीनौ पिशितास्यपिण्डौ स्थानान्तरे किं नरकेण योषित् ॥’ इति । इत्थंभूतां
स्त्रियम् । ‘वाम्शसोः’ इति विकल्पादियडादेशः । दृष्ट्वा । कान्ता कमनीया इति,
मनोहरेति वा । ‘कान्तं मनोहरं रुच्यम्’ इत्यमरः । उत्पले इन्दीवरे इव लोचने
यस्याः सा तथोक्तेति । विपुलश्रोणीभरा पृथुलनितम्बबिम्बा इति । उन्नमन्तौ
ऊर्ध्वमुत्पतन्तौ इव स्थितौ । कुतः ? पीनौ पीवरौ उत्तुङ्गौ उन्नतौ च पयोधरौ
स्तनौ यस्याः सा तथोक्तेति । ‘स्त्रीस्तनाब्दौ पयोधरौ’ इत्यमरः । सुमुखाम्भोजा
सुन्दरवदनारविन्दा इति । शोभने मदनकार्मुकरुचिरे भ्रुवौ यस्याः सा तथोक्तेति च ।
माद्यति मत्तो भवति । मोदते हृष्यति । अभिरमते कीडति । अभिपूर्वाद्रमतेर्लटि
तङ् । व्याङ्परिपूर्वस्यैव परस्मैपदित्वनियमात् । प्रस्तौति उक्तप्रकारेण प्रकारान्तरेण
वा अभिष्टौति । अतः मोहस्य अविद्याया दुश्चेष्टितं दुर्विलसितम् । अहो विद्वांसमपी-
दगवस्थापन्नं करोतीत्याश्चर्यमित्यर्थः । एतत्सर्वं व्यामोहमूलमेव । तस्य दुरवच्छेदत्वादिति
भावः । यद्यपि ‘अमेध्यपूर्णं कृमिजन्तुसंकुलं स्वभावदुर्गन्धमशौचमध्रुवम् । कलेवरं
मूत्रपुरीषभाजनं रमेत मूढो न रमेत पण्डितः ॥’ इति वचनात्पण्डितस्येत्थं जुगुप्सि-
तकामिनीकलेवरे रमणमेव नास्ति, तथापि मोहस्यात्यन्तप्राबल्यप्रकटनार्थमित्युक्तमित्य-
वगन्तव्यम् । अत्र क्रियाणां बह्वीनां समुच्चितत्वात्क्रियासमुच्चयालंकार एकविषयः—
‘गुणक्रियायौगपद्यमलंकारसमुच्चयः’ इति लक्षणात् । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥४१॥

अथ त्रिभिरानुष्टुभैः स्वरूपं दूषयति—

स्मृता भवति तापाय दृष्ट्वा चोन्मादकारिणी ।

स्पृष्ट्वा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम् ॥४२॥

या स्मृता सदृशादृष्टचिन्तादिस्मृतिबीजोद्धोषकसद्भाववशात्प्रवासे कदाचित्स्मरण-
विषयीकृता सती तापाय भवति संतापकारिणी भवतीत्यर्थः । ततः दृष्टा सती उन्माद-
कारिणी चित्तविभ्रमकरी भवति । स्पृष्टा आलिङ्गिता सती मोहाय भवति वहिः-
प्रपञ्चविस्मरणकारिणी भवति । अतः सा वधूः कथं नाम कुतो वा दयिता प्रियतमा ?
न कथंचिदपीत्यर्थः । किंतु उक्तविधबह्वनर्थहेतुभूतत्वादप्रियतमैवेति भावः । अत्र
'स्मृता भवति तापाय' इति पदार्थानां विशेषणगत्या तुरीयपादस्थपदार्थं प्रति
हेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ४२ ॥

तावदेवामृतमयी यावल्लोचनगोचरा ।

चक्षुष्पथादतीता तु विषादप्यतिरिच्यते ॥ ४३ ॥

तावदेव तावत्पर्यन्तमेव अमृतमयी । अमृतोपमानात्तद्वन्मधुरतरेत्यर्थः । वधूरिति
शेषः । 'तत्प्रकृतवचने मयद्' । 'टिड्ढाणञ्-' इत्यादिना ङीप् । कियत्पर्यन्तमित्यत
आह—यावत् यावत्पर्यन्तं लोचनगोचरा चक्षुर्विषया भवति, तावदिति संबन्धः ।
व्यतिरेके तु नैवमित्याह—चक्षुष्पथात् लोचनमार्गात् । 'ऋक्पूः-' इत्यादिना समा-
सान्तः । अतीता तु अतिक्रान्ता चेत् विषादपि कालकूटादपि अतिरिच्यते अतिरिक्ता
भवति । तद्वत्प्राणप्रयासकारिणी भवतीत्यर्थः । अत्र वध्वा अमृतमयत्वविषातिरिच्य-
मानत्वासंबन्धेऽपि तत्संबन्धाभिधानादसंबन्धे संबन्धरूपातिशयोक्तिः ॥ ४३ ॥

उक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—

नामृतं न विषं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम् ।

सैवामृतलता रक्ता विरक्ता विषवल्लरी ॥ ४४ ॥

एकां नितम्बिनीं मुक्त्वा विहाय अमृतं अमृतशब्दवाच्यं किंचिद्वस्तु नास्ति ।
विषं विषशब्दवाच्यमपि किंचिन्नास्ति, इयमेवामृतप्राया विषप्राया चेत्यर्थः । कुत
एतदित्याशङ्क्य तत्त्वं साधयति—रक्ता अनुरागवती चेत्सैव नितम्बिन्येव अमृतलता
संजीविनी भवतीत्यर्थः । विरक्ता अनुरागरहिता चेत् विषवल्लरी विषलतामञ्जरी ।
'वल्लरी मञ्जरी स्त्रियाम्' इत्यमरः । प्राणापहारिणी भवतीत्यर्थः । अत्र नितम्बिनी-
व्यतिरेकेणामृतविषयोरस्तित्वसंबन्धेऽप्यसंबन्धात्संबन्धे असंबन्धरूपातिशयोक्तिः ।
तथोत्तरार्धे तस्यामेव अमृतलतात्वविषवल्लरीत्वरूपणाद्रूपकालंकारः । स च रक्तत्वविर-
क्तत्वपदार्थहेतुककाव्यलिङ्गोत्थितः सन् पूर्वातिशयोक्तिमुज्जीवयतीति संकरः । प्रायेणैका-
र्थमप्यनेकं श्लोकमुक्तिविशेषलोभाल्लिखन्ति कवयः । यथा नैषधे—'आदावेव निपीय—'
इत्यादिश्लोकद्वयम् । यथा च माघे—'प्रसाधितस्य' इत्यादिश्लोकद्वयमित्यादि ॥ ४४ ॥

अथ स्त्रीयन्त्रस्रष्टारं दूषयति—

आवर्तः संशयानामविनयभुवनं पट्टणं साहसानां

दोषाणां सन्निधानं कपटशतमयं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।

स्वर्गद्वारस्य विघ्नो नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं

स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिलोकस्य पाशः ॥ ४५ ॥

संशयानां संदेहानामावर्तः परिपाकः, सकलसंदेहास्पदीभूतमित्यर्थः । अविन-
यानां भुवनं लोकः । साहसानां पट्टणं नगरम् । दोषाणां रागद्वेषादीनां सन्निधानं
अक्षयनिधिः । कदाचिदप्यत्र दोषा न क्षीयन्त इति भावः । कपटशतमयं अनेककैत-
वप्रचुरम् । बहुविधकैतवान्यत्रैव प्राचुर्येण वर्तन्त इति भावः । प्राचुर्यं मयद्र ।
अप्रत्ययानां अविश्वासानाम् । 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः । क्षेत्रं
उत्पत्तिभूमिः, अनेकाप्रत्ययोत्पादकमित्यर्थः । स्वर्गद्वारस्य स्वर्गलोकप्राप्तिसाधनस्य
विघ्नः प्रतिबन्धः । नरकपुरमुखं यमलोकद्वारम्, तत्प्रापकमित्यर्थः । 'मुखं तु वदने
मुख्ये ताम्रे द्वाराभ्युपाययोः' इति यादवः । सर्वमायाकरण्डम् । अशेषशाम्बरीवि-
द्येन्द्रजालमहेन्द्रजालपेटिकेत्यर्थः । अमृतमयं सुधारूपं विषम्, बहिरमृतवत्प्रतीय-
मानम्, विचार्यमाणे विषप्रायमित्यर्थः । प्राणिलोकस्य जनसमुदायस्य पाशो बन्धन-
साधनम् । स्त्रीयन्त्रं स्त्रीरूपकीलकं केन सृष्टं निर्मितम् । ईदृगनर्थाश्रययन्त्रनिर्मातृत्वे-
नास्य कुत्सितत्वमेवेत्यर्थः । अत एव केनेत्युक्तम् । यद्वा यद्यपि ब्रह्मणैव सृष्टम्, तथापि
ईदृगदुर्यन्त्रनिर्मातृत्वेन तस्य नामोच्चारणमपि कर्तुं न युज्यत इति केनेत्युक्तम् । अत्र
स्त्रीयन्त्रे पट्टणादिनिरूपणाच्चिरवयवरूपकालंकारः । तदुक्तम्—'आरोपविषयस्य स्याद-
तिरोहितरूपिणः । उपरज्जकारोप्यमाणं तद्रूपकं मतम् ॥' इति । स्रग्धरा वृत्तम् ॥४५॥

इत्थमनर्थैकतन्त्रमपि स्त्रीयन्त्रं कविवाक्यप्रपञ्चवञ्चितो मूढोऽनुवर्तत इत्याह—

नो सत्येन मृगाङ्ग एष वदनीभूतो न चेन्दीवर-

द्वन्द्वं लोचनतां गतं न कनकैरप्यङ्गयष्टिः कृता ।

किं त्वेवं कविभिः प्रतारितमनास्तत्त्वं विजानन्नपि

त्वङ्मांसास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मन्दो जनः सेवते ॥ ४६ ॥

एष परिदृश्यमानो मृगाङ्गश्चन्द्रः सत्येन यथार्थेन अवदनो वदनं संपद्यमानो वदनी-
भूतः, वदनत्वेन परिणत इत्यर्थः । नो न भवतीति शेषः । अभूततद्भावे च्चिः । 'ऊर्या-
दिच्चिडाचश्च' इति गतिसंज्ञायाम् 'कुगतिप्रादयः' इति समासः । तथा इन्दीवरद्वन्द्वं नीलो-
त्पलयुगलम् । 'द्वन्द्वं रहस्य-' इत्यादिना निपातः । लोचनतां लोचनभावं च न गतम् ।
'तस्य भावस्त्वतलौ' इति तत्प्रत्ययः । तथा कनकैः सुवर्णदलैः, यथा चाम्पेयप्रसूनै-
रित्यर्थः । 'कापि चाम्पेयगौरी' इति पद्मिनीस्वरूपनिरूपणात् । 'अथ चाम्पेयश्चम्पको हेम-
पुष्पकः' इत्यमरः । 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' इति लुक् । अङ्गयष्टिर्गात्रयष्टिरपि न कृता न
निर्मिता । किंत्वेवं उक्तप्रकारेण । वदनं चन्द्र इत्याद्याकारेणेत्यर्थः । कविभिः प्रगल्भ-
वचनैः कवीश्वरैः प्रतारितमना वञ्चितचित्तः, विमोहितः सन्निति यावत् । मन्दो
मूढो जनः तत्त्वं यथार्थं विजानन्नपि । न त्वयं चन्द्रः, किंतु तत्साम्येन तथा व्यप-
दिश्यत इति विदन्नपीत्यर्थः । त्वङ्मांसास्थिमयम्, अत्यन्तजुगुप्सितमपीत्यर्थः ।
मृगदृशां स्त्रीणां वपुः कलेवरं सेवते संभोगार्थमाश्रयते, विद्वांस्तु नैवमिति
भावः । अत्र प्रतारितमनःपदार्थस्य विशेषणगत्या जुगुप्सितवपुराश्रयणपदार्थं प्रति
हेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४६ ॥

अथ पुरुषाणां भ्रान्ति सदृष्टान्तमाह—

लीलावतीनां सहजा विलासा-

स्त एव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति ।

रागो नलिन्या हि निसर्गसिद्ध-

स्तत्र भ्रमत्येव वृथा षडङ्घ्रिः ॥ ४७ ॥

लीलावतीनां विलासिनीनां अतो विलासा विभ्रमाः सहजा नैसर्गिकाः त एव विलासाः मूढस्य अज्ञस्य हृदि स्फुरन्ति, आत्मगोचरा इमे विलासा इति बुद्ध्या सर्वदा हृदयपरिस्फुरिता भवन्तीत्यर्थः । एतच्च वृथैवेति भावः । तथाहि—नलिन्याः पद्मिन्या रागो रक्तिमा अनुरागश्च निसर्गसिद्धः स्वभावसिद्धः, किं तु षडङ्घ्रिः षट्पदः विटश्च ध्वन्यते । वृथा व्यर्थमेव तत्र नलिन्यां भ्रमति रागोऽयं मद्रोचर इति भ्रान्त्या पर्यटति, वस्तुतस्तु न तथा । अतो व्यर्थमस्य भ्रमणमिति भावः । अत्र वाक्यद्वयेऽपि बिम्बप्रति-बिम्बभावेन साम्यनिर्देशादृष्टान्तालंकारः; 'यत्र वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतयोच्यते । सामान्यधर्मो वाक्यज्ञैः स दृष्टान्तो निगद्यते ॥' इति लक्षणात् । अयं च रागयोर्द्वयोर्भेदेऽपि श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिनिर्व्यूढभ्रान्तिमदुर्जीवितया प्रस्तुतनलिनीषट्पदविशेषणसाम्यादप्रस्तुतकामिनीविटप्रतीतिगोचरसमासोक्तयाज्ञेन संकीर्यते । वृत्तमुपजातिः ॥ ४७ ॥

अथापातरमणीयमुखावलोकनेन न विमोहितव्यमित्याह—

यदेतत्पूर्णेन्दुद्युतिहरमुदाराकृति परं

मुखाब्जं तन्वङ्ग्याः किल वसति यत्राधरमधु ।

इदं तत्किं पाकद्रुमफलमिदानीमतिरसं

व्यतीतेऽस्मिन्काले विषमिव भविष्यत्यसुखदम् ॥ ४८ ॥

यदेतद्वर्णनीयं तन्वङ्ग्यास्तरुण्या मुखं अब्जमिव मुखाब्जं वक्रपद्मं कर्तुं पूर्णेन्दोः पूर्णचन्द्रस्य द्युतिहरं कान्तिचोरम्, तत्कल्पमित्यर्थः । अब्जस्य पूर्णेन्दुद्युतिहरत्वविरुद्धमिति ध्वनिः । तथा परं अत्यन्तं उदारा रम्या आकृतिराकारो यस्य तत्तथोक्तम् । किंच यत्र मुखाब्जे अधरं अधरौष्ठसंबन्धि मधु मकरन्दः अमृतं वा वसति अस्ति किल । किलेति वार्तायाम्, न तु कदाप्यनुभूतमित्यर्थः । प्रसिद्धाब्जे मकरन्दो वर्तते, मुखाब्जे तु वार्तामात्रमेव, न तु वस्तुतस्तदस्तीति भावः । तदिदं वक्रपद्ममिदानीमस्मिन्समये, प्रारम्भकाल इत्यर्थः । अतिरसं अतिशयितमाधुर्यगुणयुक्तम्, रुचिरतरमिति यावत् । किं किमपि, अनिर्वाच्यमित्यर्थः । पाकद्रुमस्य बालरसालादिवृक्षस्य फलम् । अतिरसत्वं बालवृक्षफलस्यैवेत्येतन्निर्देशः । 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः' इत्यमरः । यद्वा पाकद्रुमफलम् । पचेलिमं वृक्षविशेषफलमित्यर्थः । तथाभूतस्यैवात्यन्तरसवत्त्वादिति भावः । यद्वा किंपाकं ईषत्पक्वं द्रुमफलम् । तथाभूतस्यैवात्यन्तरुचिविशेषापदत्वादिति भावः । अथवा किंपाकाख्यो द्रुमो यस्य फलमापातमधुरं परिणामविषमं च तस्य किंपाकद्रुमस्य फलम्, तत्कल्पमित्यर्थः । किंपाकशब्दो निघण्टुन्तरेषु सु. त्रि. ८

मृग्यः । तस्य रसालादिवृक्षविशेषवाचकत्वे तु कविरेव प्रमाणम् । अस्मिन् प्रवर्तमाने काले व्यतीते अतिक्रान्ते सति विषमिव गरलमिव असुखदम् । खलावण्यदर्शनजनि-
तसंमोहेन विवेकभ्रंशे विहिताकरणात्प्रत्यवाये चाल्यन्तदुःखप्रदमित्यर्थः । भविष्यति ।
तथा च कालान्तरेऽवश्यं दुःखजनकत्वात्तादात्मिकसुखलोभेन तरुणीवदनपद्मं न
विश्वसनीयमिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४८ ॥

अथास्या अनर्थहेतुभूतनदीत्वनिरूपणेन परित्याज्यत्वमाह—

उन्मीलत्रिवलीतरंगनिलया प्रोत्तुङ्गपीनस्तन-
द्वन्द्वेनोद्गतचक्रवाकयुगला वक्राम्बुजोद्भासिनी ।

कान्ताकारधरा नदीयमभितः कूरात्र नापेक्ष्यते

संसारार्णवमज्जनं यदि तदा दूरेण संत्यज्यताम् ॥ ४९ ॥

तिस्रश्च ताः वल्यश्च त्रिवल्यः इति द्विगुसमासः । यथाह वामनः—‘त्रिवलीशब्दः
संज्ञा च’ इति सूत्रेण सप्तर्षय इतिवत् । ‘द्विसंख्ये संज्ञायाम्’ इति संज्ञायां द्विगुः ।
उन्मीलन्त्य उत्पद्यमानास्त्रिवल्यो वलित्रयमेव तरंगाः । यद्वा त्रित्वसंख्याविशिष्टा
वल्यः त्रिवल्यः । उत्तरपदलोपी समासः । ता एव तरंगा उर्मयस्तेषां निलया ।
प्रोत्तुङ्गौ अत्युन्नतौ पीनौ पीवरौ च यौ स्तनौ तयोः द्वन्द्वेन युगलेन हेतुना उद्गतं
उच्चलत् चक्रवाकयुगलं चक्रवाकाख्यपक्षिविशेषयुग्मं यस्याः सा । स्तनरूपचक्रवाकयुग-
लेत्यर्थः । वक्रमेवाम्बुजं तेनोद्भासते अभीक्ष्णमिति तदुद्भासिनी । ‘बहुलमाभीक्ष्ण्ये’
इति णिनिः । अभितः समन्तात् । कूरा कुटिलहृदया । नदीपक्षे कूरा वक्रगतिप्रवाहा ।
अथवा अभितः सर्वतः प्रवर्तमानाः कूरा नक्रादिकूरजन्तवो यस्यां सा । कान्ताकार-
धरा कान्तरूपधारिणी इयं परिदृश्यमाना नदी अत्र अस्मिन् लोके संसार एवार्णवः
तत्र मज्जनं नापेक्ष्यते नाभिलष्यते यदि तदा अनपेक्षापक्षे दूरेण संत्यज्यतां दूरतर
एव विसृज्यताम् । ‘दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च’ इति विकल्पात्तृतीया । अन्यथा
तत्समाश्रयणे अर्णवमज्जनमेव सिद्धं स्यादिति भावः । अत्र समस्तवस्तुवर्तिसावयवरू-
पकालंकारः । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४९ ॥

इतोऽपि न विश्वासार्हाः स्त्रिय इत्याह द्वाभ्याम्—

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।

हृद्रतं चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ॥ ५० ॥

जल्पन्तीति । अन्येन सार्ध एकेन पुरुषेण सह जल्पन्ति संलपन्ति । सविभ्रमाः
सविलासः सत्यः अन्यं पुरुषं पश्यन्ति । हृद्रतं हृदयस्थं अन्यं चिन्तयन्ति । अतो
योषितां स्त्रीणां प्रियः प्रियतमः, नियत इति शेषः । को नाम ? न कोऽपीत्यर्थः ।
यतः स्त्रीणां मनोवाक्यायकर्मस्वनैकान्तिकत्वम् स्वाभाविकम् । तदुक्तं महाभारते ‘स्त्रिय-
स्तुष्यन्ति जारेण’ इति । अतो न कथंचिदपि विश्वसनीया इति भावः ॥ अनु-
ष्टुप् ॥ ५० ॥

१ किंपाकशब्दश्च ‘विषमुष्टौ निरर्थके च’ इति शब्दरत्नकोशे वर्तते, तस्मात् रसालादिवृ-
क्षान्तःपातित्वं न संभवतीति मन्तव्यम्.

स्त्रियो बाह्यमधुराः अन्तर्विषाः, अत एव सर्वथा त्याज्या एव, न तु ग्राह्या
इत्यभिप्रायेणाह—

मधु तिष्ठति वाचि योषितां

हृदि हालाहलमेव केवलम् ।

अत एव निपीयतेऽधरो

हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते ॥ ५१ ॥

योषितां वाचि वचने मध्वमृतं तिष्ठति वर्तते । हृदि हृदये । ‘पद्म्-’ इत्यादिना
हृदयस्य हृदादेशः । केवलमेकं हालाहलं कालकूटमेव तिष्ठति । एवकारोऽन्यव्यवच्छे-
दकः । ‘केवलः कृत्स्न एकश्च केवलं चावधारण इति शाश्वतः । अत्रोत्प्रेक्षते—अतो
हेतोरेव अधरः अधरामृतमित्यर्थः । निपीयते आस्वाद्यते । ननु । निपूर्वात् पा पान
इत्यस्माद्धातोर्लट् । ननु पूर्वं वाचि तिष्ठत्यमृतमित्युक्तम् । इदानीमधरो निपीयत
इत्युच्यते । तदेतत्काककाष्ण्यात्सौधधावत्यमितिवदननुगुणं स्यादिति चेन्न । वाचो
वर्णात्मकत्वात्तेषां च प्रायश ओष्ठानामपि संभवात्तद्रतामृतमत्रोपचर्यत इति न दोषः ।
हृदयं तु मुष्टिभिरेव ताड्यते विघट्यते, दुष्टस्य दण्ड्यत्वादिति भावः । बाह्यान्त्र-
मेव मधुरं न तु हृदयमिति फलितार्थः । भावस्तु पूर्ववत् । अत्र ‘के गृह्णन्ति कचान्
ललाटनयने चुम्बन्ति दन्तच्छदं दन्तोष्ठेन निपीडयन्ति बहुशक्षुम्बन्ति गण्डस्थलीम् ।
कक्ष्यो कण्ठतडिलिखन्ति नखरैर्गृह्णन्ति गाढं स्तनौ मुष्ट्या वक्षसि ताडयन्ति ददते
ना...च पेटीं शनैः’ इति रतिरहस्योक्त्या कामुकानां स्वाभाव्यात् क्रियमाणयोरधर-
पानहृदयमुष्टिघातयोरमृतहालाहलावस्थानहेतुकत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा । सा च व्यञ्जका-
प्रयोगाद्रम्या । वैतालीयाख्यमर्धसमवृत्तमेतत् ॥ ‘षड्विधमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समा
स्युर्नो निरन्तराः । नमात्रपराश्रिताकलावैतालीयं त्येरता(?) यन्ते रलौ गुरुः’ इति
लक्षणात् ॥ ५१ ॥

अथ योषितः सर्पत्वरूपेण सखायं भीषयन्दूरादपसर्पणमुपदिशति—

अपसर सखे ! दूरादस्मात्कटाक्षविषानला-

त्प्रकृतिविषमाद्योषित्सर्पाद्विलासफणाभृतः ।

इतरफणिना दष्टः शक्यश्चिकित्सितुमौषधै-

श्चतुरवनिताभोगिग्रस्तं त्यजन्ति हि मन्त्रिणः ॥ ५२ ॥

हे सखे बन्धो ! कटाक्षा अपाङ्गवीक्षणान्येव विषानलो विषान्निज्वाला यस्य तस्मा-
त्प्रकृत्या विषमात् स्वभावत एव कुटिलात् । ‘प्रकृत्यादिभ्यस्तृतीया च’ इति तृतीया-
समासः । विलासा विभ्रमा एव फणाः स्फटास्ताः विभर्तीति तथोक्तात् । ‘स्फटायां
तु फणा द्वयोः’ इत्यमरः । अस्माद्योषित्सर्पात्कामिनीरूपव्यालात् दूरादपसर दूरं गच्छ ।
योषित्सर्पसमागमं मा कुर्वित्यर्थः । अन्यथा तत्समागमेन दर्शनप्रसङ्गे चिकित्साया
दुष्करत्वादिति भावः । ‘दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च’ इति चकारात्पञ्चमी । तदेव
प्रकटयति—इतरेति । इतरफणिना प्रसिद्धसर्पेण दष्टः पुमान् औषधैः, मूलिकाम-
णिमन्त्रादिभिरित्यर्थः । चिकित्सितुं विषावरोपणेनोजीवयितुं शक्यः । चतुरवनिता-

भोगिना निपुणतरुणीसर्पेण ग्रस्तं दष्टं समाक्रान्तं च पुरुषं तु मन्त्रिणः मान्त्रिका विषवैद्याः त्यजन्ति विसृजन्ति हि । तद्भासजनितोन्मादस्य दुरवरोपणत्वादिति भावः । अत्रापि समस्तवस्तुवर्तिसावयवरूपकालंकारः । तेन चोपमानात्प्रसिद्धसर्पादुपमेयस्य योषित्सर्पस्याधिक्यप्रतीतेर्व्यतिरेको व्यज्यत इत्यलंकारेणालंकारध्वनिः । हरिणी वृत्तम् ॥ लक्षणं तूक्तम् ॥ ५२ ॥

पुनः प्रकारान्तरेण भीषयति—

विस्तारितं मकरकेतनधीवरेण

स्त्रीसंज्ञितं वडिशमत्र भवाम्बुराशौ ।

येनाचिरात्तदधरामिषलोलमर्त्य-

मत्स्यान्विकृष्य विपचत्यनुरागवह्नौ ॥ ५३ ॥

मकरकेतनो मन्मथ एव धीवरः कैवर्तः तेन कर्त्रा । 'कैवर्ते दाशधीवरौ' इत्यमरः । अत्रास्मिन् भवाम्बुराशौ संसारसागरे । स्त्री संज्ञास्य संजाता स्त्रीसंज्ञितम्, योषिद्रूपमित्यर्थः । तारकादित्वादितच् । वडिशं मत्स्यवेधनम् । मत्स्यगलग्राहकसामिषवक्रायोग्यन्त्रमित्यर्थः । 'वडिशं मत्स्यवेधनम्' इत्यमरः । विस्तारितं प्रवर्तितं । येन स्त्रीवडिशेन तस्य स्त्रीवडिशस्य अधरमेवामिषं मांसखण्डं तत्र लोला सतृष्णा ये मर्त्याः मनुजाः त एव मत्स्या मीनास्तान् अचिराद्विकृष्य आकृष्य अनुराग एव वह्निः तत्र विपचति विशेषेण पक्वान्करोति, अत्यन्तं संतापयतीत्यर्थः । मन्मथधीवर एवेति शेषः । सोऽप्येतद्वारैव मनुजान्परिपीडयतीति भावः । अत्रापि पूर्ववद्रूपकालंकारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ५३ ॥

अथ मानसं भीषयति—

कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वतदुर्गमे ।

मा संचर मनःपान्थ ! तत्रास्ते स्मरतस्करः ॥ ५४ ॥

पन्थानं गच्छति नित्यमिति पान्थो नित्यपथिकः । 'पन्थो ण नित्यं' इति णप्रत्ययः, पन्थादेशश्च । मन एव पान्थस्तस्य संबुद्धिः हे मनःपान्थ ! कुचावेव पर्वतौ ताभ्यां दुर्गमे गन्तुमशक्ये कामिन्याः कायो देहः स एव कान्तारं अरण्यं तत्र मा संचर संचारं मा कुरु । न प्रवर्तस्वेत्यर्थः । कुतः ? । तत्र कान्तारे स्मर एव तस्करश्चोर आस्ते वर्तते । स च मानसर्वस्वमपहरिष्यतीति भावः । 'चौरैकागारिकस्तेन दस्युतस्करमोषकाः' इत्यमरः । 'तद्वहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुदृ तलोपश्च' इति सुडागमतलोपौ । अलंकारस्तु पूर्ववत् । अनुष्टुप् ॥ ५४ ॥

अथ त्रिभिः कस्यचिदनुभवमालक्ष्याह—

व्यादीर्घेण चलेन वक्रगतिना तेजस्विना भोगिना

नीलाब्जद्युतिनाहिना परमहं दष्टो न तच्चक्षुषा ।

दष्टे सन्ति चिकित्सका दिशि दिशि प्रायेण धर्मार्थिनो

मुग्धाक्षीक्षणवीक्षितस्य नहि मे वैद्यो न चाप्यौषधम् ॥ ५५ ॥

व्यादीर्घेण अत्यायतेन, अन्यत्र कर्णान्तविश्रान्तेन । चलेन चञ्चलप्रकृतिना ।
वक्रगतिना निसर्गकुटिलसंचारेण । समानमेतद्विशेषणद्वयम् । तेजस्विना बलवता,
अत्युज्ज्वलेन च । प्रशंसायामिनिः । भोगिना फणवता । 'भोगः सुखे ह्यादिभृतावहेश्व
फणकाययोः' इत्यमरः । अन्यत्र 'आभोगिना' इति च्छेदः । विशालेनेत्यर्थः । नीला-
वज्रस्य नीलोत्पलस्य द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तेन । एकत्र तद्वर्णेन, अन्यत्र तत्सदृशेनेत्यर्थः ।
अहिना सर्पेण परमत्यन्तं अहं दष्टः किंतु तच्चक्षुषा तस्याः कामिन्याः चक्षुषा उक्त-
विशेषेण चक्षुःसर्पेणेत्यर्थः । दष्टः ग्रस्तः अत एवात्र चिकित्सा न संपद्यत इत्याह । दष्टे
प्रसिद्धाहिना ग्रस्ते सति, पुरुष इति शेषः । धर्मार्थिनो विषावरोपणेन प्राणरक्षणरूप-
पुण्यामिलाषिणः चिकित्सका विषवैद्याः । दिशि दिशि प्रतिदिशम् । वीप्सायां द्विर्भावः ।
प्रायेण भूम्ना सन्ति, सर्वत्र सन्तीत्यर्थः । किंतु मुग्धायाः मुग्धाङ्गनाया यदक्षि,
यद्वा मुग्धाक्षि सुन्दरावलोकनम्, तेन सर्परूपेण क्षणं क्षणमात्रं वीक्षितस्य दृष्टस्य ।
'विक्षतस्य' इति पाठे दृष्टस्येत्यर्थः, ग्रस्तस्येत्यर्थः । मे मम तु वैद्यो न हि चिकित्सको
नास्ति हि । औषधं विषहरमेषजमपि च नास्तीत्यर्थः । अतो महामोहार्णवनिमज्जन-
मेव, न तु तत्पारगमनमिति भावः । अत्र प्रसिद्धाह्यपेक्षया चक्षुरुपाहेराधिक्यकथ-
नाद्व्यतिरेकालंकारः; 'उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' इति लक्षणात् ।
वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ५५ ॥

इह हि मधुरगीतं नृत्तमेतद्रसोऽयं

स्फुरति परिमलोऽसौ स्पर्श एष स्तनानाम् ।

इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणः

स्वहितकरणधूर्तैः पञ्चभिर्वञ्चितोऽस्मि ॥ ५६ ॥

इह हि, तरुणीष्वेत्यर्थः । हिरत्रावधारणार्थकः । 'हिर्हेतावधारणे' इत्यमरः ।
मधुरं संतापहरम्, श्रोत्रसुखावहमित्यर्थः । 'शीतलीक्रियते तापो येन तन्मधुरं स्मृ-
तम्' इति वचनात् । तद्गीतं गानं स्फुरति । एतन्नयनानन्दकरं नृत्तं नाट्यं स्फुरति ।
अयं रसनेन्द्रियस्वादातिशयप्रदो रसः अधरामृतं स्फुरति । असौ घ्राणतर्पणः परिमलः
पद्मिनीजातिनिमित्तगन्धविशेषः घनसारगन्धसारादिलेपनप्रयुक्तमोदविशेषो वा स्फुर-
ति । एष त्वगिन्द्रियसौख्यावहः स्तनानां स्पर्शः स्फुरति । 'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा
जातिः प्रायेण' इति वामनसूत्रे प्रायग्रहणाद्बहुवचनप्रयोगः । इत्येवंप्रकारेण हतो
विनष्टः परमार्थस्तत्त्वार्थो येषां तैः, विषयपरतन्त्रैरित्यर्थः । अत एव स्वहितकरणे
धूर्तैः कितवैः । आत्महिताचरणतत्परैरिव स्थितैरित्यर्थः । पञ्चभिरिन्द्रियैः श्रोत्रादिभिः
भ्राम्यमाणस्तत्तद्विषयेष्वासज्यमानः सन् । वञ्चितः प्रतारितोऽस्मि । न चैतत्कैतवं
प्रागेवाज्ञासिषमित्यर्थः । मालिनी वृत्तम् ॥ ५६ ॥

अथ अङ्गनाव्यामोहजनकमन्मथं दूषयति—

न गम्यो मन्त्राणां न च भवति भैषज्यविषयो

न चापि प्रध्वंसं व्रजति विविधैः शान्तिकशतैः ।

भ्रमावेशादङ्गे कमपि विदधद्भङ्गमसकृ-

त्स्मरापस्मारोऽयं भ्रमयति दृशं घूर्णयति च ॥ ५७ ॥

मन्त्राणां गम्यो मन्त्रसाध्योऽपि न भवति । भैषज्यविषयः औषधाद्यपनेयश्च न भवति । भैषजमेव भैषज्यं इति विग्रहः । स्वार्थे घ्यञ्प्रत्ययः । 'भैषजौषधभैषज्यानि' इत्यमरः । तथा विविधैर्नानाप्रकारैः शान्तिकशतैरनेकशान्तिकर्मभिः प्रध्वंसं विनाशं चापि न व्रजति न गच्छति । 'पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते । तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमार्चनादिभिः ॥' इति स्मरणात् । प्रसिद्धस्तु जपादिभिः शाम्यति न त्वयिमिति भावः । किंतु भ्रमावेशात् मोहोत्पादनात् अङ्गे शरीरे कमप्यनिर्वाच्यं भङ्गं जाज्यम्, यद्वा भ्रमावेशात् मतिभ्रंशापादनात् अङ्गे, करचरणाद्यवयवेष्वित्यर्थः । कमपि भङ्गं विश्लेषादिविकारं असकृत् बहुवारं विदधत् कुर्वन् । दधातेर्विपूर्वाच्छतृ-प्रत्ययः । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः । स्मरापस्मारः स्मरप्रयुक्ताङ्गनाव्यामोहरूपा-पस्माररोगः दृशं मदीयदृष्टिं भ्रमयति व्यत्यासयति, अतस्मिन्तज्ज्ञानं करोतीत्यर्थः । तथा घूर्णयति चक्रवद्भ्रमयति च । किमत्र करोमि, कथमयं चिकित्स्य इति भावः । यथाहुर्नैदानिकाः—'कुद्वैर्धातुभिराहते च मनसि प्राणी तमः संविशन्तन्तान्खादति फेनमुद्रमति दोः पादौ क्षिपन्मूढधीः । पश्यन्रूपमसत्क्षितौ निपतति प्रायः करोति क्रिया बीभत्स्याः स्वयमेव शाम्यति गते वेगे त्वपस्माररुक् ॥' अत एव व्यतिरेकालं-कारः । लक्षणं तूक्तम् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५७ ॥

अथ त्रिभिः पण्याङ्गनागर्हणं कुर्वन्निगमयति—

जाल्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलाङ्गाय च

ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च ।

यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया

पण्यस्त्रीषु विवेककल्पलतिकाशस्त्रीषु रज्येत कः ॥ ५८ ॥

जाल्यन्धाय जन्मप्रभृत्यवसन्नदृशे पुरुषाय च दुर्मुखाय च मुखराय, बहुगर्हभा-षणदूषितवदनायेत्यर्थः । 'दुर्मुखे मुखराबद्धमुखौ' इत्यमरः । यद्वा दुष्टं व्याध्यादिना जुगुप्सितं दुर्गन्धियुक्तं वा मुखं यस्य तस्मै । जराया विस्त्रंसया जीर्णानि शिथिलानि कृशानि विश्लथसंबन्धानि च अखिलाङ्गानि करचरणाद्यशेषावयवा यस्य तस्मै च । ग्रामीणाय ग्रामान्तरादागताय अज्ञातकुलगोत्राय पान्थाय चेत्यर्थः । 'ग्रामाद्यस्त्रिजौ' इति खञ् । दुष्कुलाय कुलहीनाय म्लेच्छादिदौष्कुलेयाय चेत्यर्थः । किं बहुना गलत्सं-समानं कुष्ठं कुष्ठरोगजनितपूयरक्तादि तेनाभिभूताय गर्हिताय च । लक्ष्मीलवश्रद्धया संपल्लेशप्राप्त्याशया मनोहरं अतिसुन्दरं निजवपुः स्वशरीरं यच्छन्तीषु अर्पयन्तीषु, चुम्बनाश्लेषणदन्तनखव्रणादिसंभोगार्थं तदधीनं कुर्वतीष्वित्यर्थः । ददातेः 'दाण् दाने' इत्यस्माद्धातोः शतरि 'उगितश्च' इति ङीप् । 'प्राग्नाम्ना—' इत्यादिना दाणो यच्छा-देशः । तथा विवेकः कर्तव्याकर्तव्यविचारः । स एव कल्पलतिका तस्याः शस्त्रीषु छुरिकासु, विवेकच्छेदकरीष्वित्यर्थः । विवेकस्याप्यखिलार्थसंघटकत्वात्कल्पलतिकारूप-णमवगन्तव्यम् । 'स्याच्छस्त्री चासिपुत्री च छुरिका चासिधेनुका' इत्यमरः । 'बह्वादि-भ्यश्च' इति ङीप् । पण्यस्त्रीषु वेश्याङ्गनासु कः पुमान्, विवेकरहितोऽपीत्यर्थः । रज्येत अनुरक्तो भवेत् ? न कोऽपीत्यर्थः । 'वारस्त्री गणिका वेश्या सुलावण्याङ्गनापि च' इति वैजयन्ती । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ५८ ॥

वेश्यासौ मदनज्वाला रूपेन्धनविवर्धिता ।

कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥ ५९ ॥

असौ वेश्या । रूपं सौन्दर्यमेवेन्धनानि तैः समिद्धिर्विवर्धिता प्रवर्धिता मदन-
ज्वाला मन्मथाग्निज्वाला 'इन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित्त्रियाम्' इत्यमरः । यत्र
मदनज्वालारूपवेश्यायां कामिभिः कामुकैः यौवनानि नूतनवयांसि । युवादित्वादण्प्र-
त्ययः । धनानि च हूयन्ते हव्यरूपेण तत्सात्क्रियन्ते, विलुप्यन्त इत्यर्थः । स्वर्गा-
दिफलकाङ्क्षिभिराहवनीयाग्निज्वालायां हवींषीवेति भावः । अत्र वेश्यायामारोप्यमाणस्य
ज्वालात्वस्य प्रकृतहवनोपयोगित्वात्परिणामालंकारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयो-
गित्वे परिणामः' इति लक्षणात् । स च रूपेन्धनेति रूपकेण संकीर्यते, रूपकत्वारोपण-
स्योपरज्जकमात्रमेवेति विवेकः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ५९ ॥

कश्चुम्बति कुलपुरुषो वेश्याधरपल्लवं मनोज्ञमपि ।

चारभटचोरचेटकविटनटनिष्ठीवनशरावम् ॥ ६० ॥

मनोज्ञं सुन्दरमपि वेश्यायाः अधरः पल्लवं इवेत्युपमितसमासः, न त्वधर एव पल्ल-
वमिति रूपकम्; रूपके तूत्तरपदप्राधान्येन तत्र चुम्बनायोगात् । कः कुलपुरुषः सत्कुल-
संभवः पुमान्, जातिनीतिकुलाचारधर्मज्ञ इत्यर्थः । चुम्बति, न कोऽपीत्यर्थः । कुत
एतदित्याशङ्क्य चुम्बने हेतुभूतं विशेषणमाह—चारा गूढपुरुषाः, भटा योधाः,
चोरास्तस्कराः, चेटकाः स्त्रीपुरुषसंधानकुशलाः दौत्यकर्मनिरताः, विटा जाराः;
नटा भूमिकाधराः, तेषां पुरुषापसदानां निष्ठीवनशरावं उच्छिष्टपात्रम्, परमाप-
वित्रमित्यर्थः । चुम्बनसमये तदुच्छिष्टस्य तत्र संक्रमणादिति भावः । अत्र यद्यपि
'रतिकाले मुखं स्त्रीणां शुद्धमाखेटके शुनाम्' इति स्मरणात् सुरतसमये पवित्रमेव
स्त्रीमुखम्, तथाप्युक्तरीत्या कश्मलसंपर्कात् हेयतया चुम्बनानर्हत्वाच्च चुम्बतीति
तात्पर्यम् । 'शरावो वर्धमानकः' इत्यमरः । अत्र रूपकोपमानुप्रासानां संसृष्टिः ।
वृत्तमार्याभेदः ॥ ६० ॥

इति शृङ्गारशतकव्याख्याने कामिनीगर्हणं नाम तृतीया विंशतिः ।

श्रीरामार्पणमस्तु ॥

अथ सुविरक्तदुर्विरक्तपद्धतिः ।

एवं तावत्कामिनीगर्हणं कृतम् । तत्र किं विरक्ताः सन्ति वा न वेत्याशङ्कायां सन्त्ये-
वेति मनसि निधाय तत्रापि सुविरक्तदुर्विरक्तभेदेन द्वैविध्यं प्रतिपादयिष्यन्नादौ सुवि-
रक्तपद्धतिं वर्णयितुमुपक्रमते—'धन्याः—' इत्यादिभिर्नवभिः—

धन्यास्त एव धवलायतलोचनानां

तारुण्यदर्पघनपीनपयोधराणाम् ।

क्षामोदरोपरि लसन्निवलीलतानां

दृष्ट्वाकृतिं विकृतिमेति मनो न येषाम् ॥ ६१ ॥

त एव पुरुषा धन्याः सुकृतशालिनः, सुविरक्ता इति यावत् । 'सुकृती पुण्यवान् धन्यः' इत्यमरः । ते क इत्याकाङ्क्षायामाह—धवले पुण्डरीकदलसदृशे आयते कर्णान्तविश्रान्ते च लोचने यासां तासां तारुण्यदर्पेण यौवनमदोद्रेकेण घनौ निबिडौ पीनौ पीवरौ पयोधरौ स्तनौ यासां तासां क्षामोदरस्य अतिकृशमध्यस्य उपर्युपरिष्ठात् लसन्त्यः प्रकाशमानाः याः त्रिवल्यः तिस्रश्च ता वल्यश्च त्रिवल्यः । 'दिवसंख्ये संज्ञायाम्' इति समासः । संख्यापूर्वत्वेऽपि सप्तर्षय इत्यादिवज्ज्ञेयमित्युक्तं प्राक् । तालता इव यासां तासाम् । एतेनैतासां पद्मिनीत्वं सूच्यते । तदुक्तं रतिरहस्ये—'त्रिवल्लिललितमध्या हंसवाणी सुवेषा' इति । क्षामेत्यत्र 'क्षायो मः' इति मत्वम् । तथा चेत्यंभूतरूपसंपन्नानां कामिनीनां आकृतिं आकारविशेषं दृष्ट्वा । 'इङ्गितं हृद्गतो भावो बहिराकारमाकृतिः' इति सज्जनः । येषां पुरुषाणां मनो विकृतिं विकारम्, तत्परतन्त्रत्वमिति यावत् । नैति न प्राप्नोति । अत एव धन्या इति संबन्धः । एवं निर्विकारचित्तत्वं शमसंपन्नानामेव न त्वन्येषामिति भावः । तदुक्तम्—'शमो वैराग्यान्निर्विकारचित्तत्वम्' इति । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ६१ ॥

अथ पूर्वोपभुक्तकामिसंबोधनव्याजे सुविरक्तां प्रकटयति—

बाले ! लीलामुकुलितममी मन्थरा दृष्टिपाताः

किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एष श्रमस्ते ।

संप्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते

क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः ॥ ६२ ॥

हे बाले मुग्धे ! लीलया विलासवैचित्र्या मुकुलितानि अर्धनिमीलनानि यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । मन्थरा अलसप्रायाः अमी दृष्टिपाताः विलोकनप्रसाराः किं किमर्थं क्षिप्यन्ते विकीर्यन्ते ? न विक्षेप्या इत्यर्थः । किंतु विरम विरम अभीक्ष्णं विरम, दृष्टिविक्षेपादिति शेषः । अभीक्ष्ण्ये द्विर्भावः । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । कुतः ? एषोऽयं ते श्रमः कटाक्षविक्षेपजनितायासो व्यर्थो निरर्थकः, अभिमतफलानिष्पत्तेरिति भावः । नन्वेतावत्पर्यन्तं मदायत्तचित्तेषु युष्मासु कथं फलासिद्धिरित्यत आहुः—संप्रति इदानीं वयं अन्ये परे । यदा त्वद्विलासलालसत्त्वेन संमोहितास्तदानीं तनाः, इदानीं न भवाम इत्यर्थः । कुतः ? । बाल्यं उपरतं नष्टम् । बाल्यशब्देन यौवनं लक्ष्यते । त्वत्परतन्त्र्यकारि यौवनमुपरतमित्यर्थः । यद्वा बाल्यं अविवेकित्वमुपरतम्, किंतु आस्था परिशीलनादरः वनान्ते अरण्यमध्ये, वर्तते इति शेषः, न तु त्वयि । रागं परित्यज्य वैराग्येण वनवासमपेक्षामह इत्यर्थः । तत्कुतः ? । मोहः अज्ञानं क्षीणो ध्वस्तः, त्वदासङ्गजननहेतुर्निर्मूलोऽभूदित्यर्थः । अतो जगज्जालमशेषप्रपञ्चं तृणमिव निःसारमालोकयामः । 'निःस्पृहस्य तृणं जगत्' इति वचनात्तथा पश्यामः । इदानीं ज्ञानोदयवशाच्च मनःसुखातिरिक्तं सर्वं तुच्छमनुसंदधाम इत्यर्थः । अतस्त्वया न प्रेक्षणीयमिति भावः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ६२ ॥

उक्तमेवार्थं भङ्गान्तरेणाह—

इयं बाला मां प्रत्यनवरतमिन्दीवरदल-

प्रभाचोरं चक्षुः क्षिपति किमभिप्रेतमनया ।

गतो मोहोऽस्माकं स्मरशबरबाणव्यतिकर-

ज्वरज्वाला शान्ता तदपि न वराकी विरमति ॥ ६३ ॥

इयं एषा बाला मुग्धा मां प्रति मामुद्दिश्य अनवरतमविच्छिन्नं यथा तथा ।
इन्दीवरदलस्य उत्पलपलाशस्य प्रभाचोरं कान्तिमोषकम्, तत्कल्पमित्यर्थः ।
चक्षुः क्षिपति प्रसारयति । अनया बालया किमभिप्रेतमपेक्षितं तन्न जाना-
मीत्यर्थः । ननु त्वदासङ्ग एवापेक्षितः, तत्कुतो न जानासीत्याकांक्षायामाह—
अस्माकं मोहो गत उपरतः, इदानीमिति शेषः । ननु पूर्वं मामित्येकवचनं प्रयुज्या-
स्माकमितीदानीं बहुवचनप्रयोगात्कथं सामानाधिकरण्यमुपपद्यत इति चेत्तथापि निवृ-
त्तिमार्गोत्सुकत्वप्रयुक्तात्मसंभावनया बहूकरणं न दोषायेति समाधेयम् । यद्वा
मामिति समुदायनिर्देशेन वा न दोषः । तथा स्मर एव शबरः किरातस्तस्य
बाणव्यतिकरेण शरसंपर्केण यो ज्वरः संतापस्तस्य ज्वाला शान्ता, विरतेत्यर्थः ।
तदपि तथापि वराकी तुच्छेयं बाला न विरमति । स्वानुरक्तिहेतुभूतमोहस्मरयोर्विरत-
त्वेऽपि स्वयं विरता न भवति, किंतु पूर्ववदिदानीमपि किञ्चित्कुचोद्यमेव कर्तुं व्यव-
स्यति, तदेतन्निरर्थकमित्यर्थः । पूर्वं प्राणप्रियतया गरीयस्यां बालायां वराकीशब्द-
प्रयोगेणास्यात्यन्तवैराग्यं सूच्यते । ‘जल्पभिक्षुकुट्टष्टुण्ड-’ इत्यादिना पाकप्रत्यये पित्वा-
न्धीष्प्रत्यये च वराकीति सिद्धम् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ६३ ॥

संप्रति साटोपपरिवारकंदर्पनिराकरणवचनमाह—

किं कन्दर्प ! शरं कदर्थयसि रे कोदण्डटङ्कारितं

रे रे कोकिल ! कोमलं कलरवं किं वा वृथा जल्पसि ।

मुग्धे ! स्निग्धविदग्धचारुमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं

चेतश्चुम्बितन्द्रचूडचरणध्यानान्मृतं वर्तते ॥ ६४ ॥

रे कन्दर्प हे मदन ! अत्र रे इति नीचसंबोधने । ‘नीचसंबोधने तु रे’ इत्यमरः । एव-
मुत्तरत्रापि कोदण्डटङ्कारितं कोदण्डटङ्कारवत्कृतम्, धनुर्गुण्टङ्कारपूर्वकमित्यर्थः । ‘तत्क-
रोति-’ इति णिचि णाविष्टवद्भावे ‘विन्मतोर्लुक्’ । शरं त्वदीयबाणं किं किमर्थम् ? । कुत्सि-
तोऽर्थः कदर्थः, ‘कोः कत्तत्पुरुषेऽचि’ इति कुशब्दस्य कदादेशः । कदर्थं करोषि कदर्थयसि,
व्यर्थयसीत्यर्थः । पूर्ववण्णिचि सिप् । तथा रे रे कोकिल हे कलकण्ठ ! अत्र ‘असूयासंमति-
कोपकुत्सनभर्त्सनेषु’ इत्यसूयार्थे कोपार्थे वा विवक्षिते द्विरुक्तिः । अत्र ‘स्वरितमात्रेडिते
—’ इत्यादिना प्राप्तस्य डुतः साहसमनिच्छता विभाषा वक्तव्य इति पाक्षिकः प्रतिषेधः ।
‘शास्त्रत्यागः साहसम्’ इति हरदत्तः । कोमलं रुचिरं कलरवं अव्यक्तमधुरस्वरम् ।
‘काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनौ तु मधुरास्फुटे । कलः’ इत्यमरः । किं किमर्थं वृथा व्यर्थं
जल्पसि कूजसि ? व्याहरसीति यावत् । न व्याहर्तव्यमित्यर्थः । प्रयोजनाभावादिति
भावः । तथा हे मुग्धे हे सुन्दरि ! स्निग्धाः सान्द्राः । ‘स्निग्धं तु मसृणे सान्द्रे’ इत्य-
मरः । विदग्धा विविधविलासविशेषविवरणनिपुणाः, चारवः इन्दीवरारविन्दादिवत्स्व-
भावरमणीयाः मधुराः सुधाधारावन्मनोहराश्च । इति विशेषणानामपि मिथोविशेष-
णविशेष्यभावविवक्षायाम् ‘विशेषणं विशेष्येण बहुलम्’ इति समासः । तैः । तथा लोलै-

निर्गर्गचञ्चलैः कटाक्षैरपाङ्गावलोकनैरलम् । यद्वा स्निग्धैः 'विसृज्य परमां काष्ठामा-
रुढे दर्शनादिभिः । येनान्तरङ्गं द्रवति स स्नेह इति कथ्यते ॥ 'इत्युक्तलक्षणस्नेहपरिभूतैः ।
तथा विदग्धैः । विरक्तस्यापि मन्मथविकारोद्दीपनचतुरैरित्यर्थः । 'यद्दर्शने विरक्तोऽपि
क्षुभ्यते तत्समन्मथम्' इति लक्षणात् । तथा चारुभिर्विषयमात्रविश्रान्तिविरहिणि
विश्वङ्गलवृत्तित्वमदमन्थरत्वादिगुणशीलत्वस्य विवक्षितत्वात्स्मिताकारैरित्यर्थः । तदुक्तं
भावप्रकाशे—'अपरिच्छिन्नविषयं मदमन्थरमीलितम् । स्फुरद्भूपक्षतायुक्तं तत्स्मेरमिति
कथ्यते ॥' इति । तथा मधुरैः संतापहरैः । 'शीतलीक्रियते तापो येन तन्मधुरं
स्मृतम्' इति लक्षणात् । तथा लोलैः सतृष्णैः । संभोगौत्सुक्यभावनातत्परैरित्यर्थः ।
तदुक्तम्—'कटाक्षैर्हासगर्भैस्तु संभोगौत्सुक्यभावना' इति कटाक्षैः 'यद्गतागतविश्रा-
न्तिवैचित्र्येण विवर्तनम् । तारकायाः कलाभिज्ञास्तं कटाक्षं प्रचक्षते ॥' इत्युक्तलक्ष-
णैरलम्, इत्थंभूताः कटाक्षा न प्रवर्तनीया इत्यर्थः । अत्र वारणार्थयोगात्पक्षे तृतीया ।
ननु कुत एवं निराक्रियत इति चेत्तत्राह—चेतः मदीयचित्तं कर्तुं चुम्बितमास्वाद्य-
मानं चन्द्रचूडस्य चन्द्रशेखरस्य चरणध्यानमेवामृतं येन तत्तथोक्तं सत् वर्तते
तिष्ठति । स्मरहरचरणध्यानावधानतात्पर्येण परमवैराग्योल्लसितचित्तं मामेते क्षुद्राः किं
करिष्यन्तीत्येको भावः । अमृतपानपरितृप्तस्य किमारनात्नेत्यपरो भावः । ब्रह्मानन्द-
भरितस्य किं वैषयिकक्षुद्रानन्देनेत्यपरतरो भावः । नाहमिदानीं पूर्ववद्युष्मत्किंकरः, किंतु
शंकरकिंकरः । अतोऽसाध्यं सिसाधयिषतां युष्माकं कोऽयमपस्मार इत्यपरतमो भावः ।
सर्वथा नास्माकं कामिन्यपेक्षास्तीति परमो भावः । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ६४ ॥

अथ पञ्चविषयविरक्तिप्रकारमाह—

विरहेऽपि संगमः खलु परस्परं संगतं मनो येषाम् ।

हृदयमपि विघट्टितं चेत्सङ्गो विरहं विशेषयति ॥ ६५ ॥

येषां स्त्रीपुरुषाणां मनः परस्परं अन्योन्यं संगतम्, अन्योन्यानुरागबद्धमित्यर्थः ।
तेषां विरहेऽपि वियोगावस्थायामपि संगमः खलु समागम एव खलु । 'हृदयसंगम एव
सुसंगमो न तनुसंगम एव सुसंगमः' इति वचनात् । अन्तरङ्गबलीयस्त्वन्यायाच्चेति
भावः । मनोनियमने तु उक्तविपरीतं भवतीत्याह—हृदयमपि मनोऽपि विघट्टितं सम्य-
क्शिक्षितं वैराग्यप्रवणीकृतं चेदित्यर्थः । सङ्गः समागमोऽपि विरहं वियोगमेव विशेषयति
विशिष्टं करोति, तमेवापेक्षाविषयं करोतीत्यर्थः । तदानीं तस्यैवापेक्षितत्वादिति भावः ।
अतः सर्वथा मनोनियमनमावश्यकम् । तेन चेन्द्रियप्रभृत्युपरमे विषयाणामेकान्ततः
पराहतिरिति कृत्वा पञ्चविषयविरक्तिर्नामियमेवेति निगूढाभिसंधिः । परस्परेत्यत्र
'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवतः' इति वक्तव्यात्परशब्दस्य द्विर्भावः । 'समासवच्च
बहुलं यथा न समासवत्प्रथमैकवचनं तथा पूर्वपदस्येति वक्तव्यं प्रथमैकवचनं द्वितीया-
द्येकवचनान्तत्वमपरपदस्येति । आर्यावृत्तभेदः ॥ ६५ ॥

अथ कस्यचित्प्रवासिनो विरक्तस्य विचाररूपेण वैराग्यं प्रकटयन्नाह—

किं गतेन यदि सा न जीवति

प्राणिति प्रियतमा तथापि किम् ।

इत्युदीक्ष्य नवमेघमालिकां

न प्रयाति पथिकः स्वमन्दिरम् ॥ ६६ ॥

सा मदीया प्रियतमा प्रेयसी यदि न जीवति विरहवेदनया प्राणान्न धारयति तदा गतेन गमनेन । भावे क्तः । किम् । न किञ्चिदपीत्यर्थः । यद्वा गतेन गृहमुपगतेन । मयेति शेषः । किम् । अथ प्राणिति केनचिद्विनोदोपायेन जीवति यदि तथापि प्राणनेऽपि गतेन किम्, उभयथापि गमनं व्यर्थमेवेत्यर्थः । इति विचार्येति शेषः । इति सैव गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः, 'प्रयोगे वा पौनरुक्त्यम्' इत्यालंकारिकाः । पन्थानं गच्छतीति पथिकः कश्चित्पान्थः । 'पथः षक्न्' इति कन्प्रत्ययः । नवमेघमालिकां नवीनकादम्बिनीम् । विरहिनिवहसंहारकारिणीम् इति भावः । उदीक्ष्य स्वमन्दिरं निजगृहं प्रति न प्रयाति । वैराग्यनिश्चलचित्तत्वादिति भावः । तदुक्तम्—'यद्वावितद्भवत्येव यदभावि न तद्भवेत् । इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित् ॥' इति । रथोद्धता वृत्तम् । "रान्नराविह रथोद्धता लगौ" इति लक्षणात् ॥ ६६ ॥

अथ विबुधानां अत्र वैराग्यमुपदिशति—

विरमत बुधा योषित्सङ्गात्सुखात्क्षणभङ्गुरा-

त्कुरुत करुणामैत्रीप्रज्ञावधूजनसंगमम् ।

न खलु नरके हाराक्रान्तं घनस्तनमण्डलं

शरणमथ वा श्रोणीबिम्बं रणन्मणिमेखलम् ॥ ६७ ॥

हे बुधाः विद्वांसः ! योषित्सङ्गाद्युवतिसमागमाद्यसुखं तस्मात् । कीदृग्विधात् ? । क्षणभङ्गुरात्क्षणिकात् । क्षणिकसुखप्रदयोषित्सङ्गादित्यर्थः । 'भञ्जभासमिदो घुरच्' इति घुरच्प्रत्ययः । 'जुगुप्साविराम-' इत्यादिना पञ्चमी । विरमत उपरता भवत । तुच्छसुखदं योषित्समागमं त्यजतेत्यर्थः । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । किंतु करुणा दुःखिष्वनुकम्पा, मैत्री पुण्यकृतसु मित्रता, प्रज्ञा बुद्धिविशेषः सुखिष्वनुमोदितेति यावत् । एतेन पापिषूपेक्षा च लक्ष्यते । एतासामेवान्तःकरणमलशोधकत्वाच्चित्तपरिकर्माणीति वदन्ति सांख्याः । तत्र एव वधूजनस्तस्य संगमं समागमं परिशीलनतात्पर्यं इति यावत् कुरुत । एतेनात्यूर्जितसुखे संभवति किं क्षणिकसुखावलम्बनेनेति भावः । विपक्षे बाधकमाह—नरके निरये हाराक्रान्तं मुक्ताहारोपशोभितं घनस्तनमण्डलं पटुतरकुचकलशभारो वा । अथेति वाक्यारम्भे । रणन्ती मणिमेखला मणिखचितरशना यस्य तत्तथोक्तम्, काञ्चीकलापरमणीयमित्यर्थः । श्रोणीबिम्बं नितम्बमण्डलं वा । शरणं रक्षकं न खलु न भवति हि । करुणादिसमागमस्तु नैवं भवति । अतः स एवावश्यं स्वीकर्तव्य इति भावः । हरिणी वृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ६७ ॥

एवं सांख्यमतरीत्या वैराग्यमुक्त्वा संप्रति योगमतानुसारेणाह—

यदा योगाभ्यासव्यसनकृशयोरात्ममनसो-

रविच्छिन्ना मैत्री स्फुरति कृतिनस्तस्य किमु तैः ।

प्रियाणामालापैरधरमधुभिर्वक्त्रविधुभिः

सनिश्वासामोदैः सकुचकलशाश्लेषसुरतैः ॥ ६८ ॥

यदा यस्मिन्समये । यस्येत्यध्याहारः, उत्तरत्र तच्छब्दसद्भावात् । तथा च यस्य संबन्धिनः, योगाभ्यासे अष्टाङ्गपरिशीलने यद्यसनमासक्तिस्तेन कृशयोः, तत्परतन्त्र-योरित्यर्थः । यस्य आत्ममनसोः प्रत्यगात्मान्तःकरणयोर्मैत्री मित्रत्वं । मैत्री व्याख्याता । स्फुरति प्रकाशते, योगाभ्यासवशेनाशेषबाह्यविषयान्परित्यज्य यदात्माराममेव मनो भवतीत्यर्थः । तदा तस्य कृतिनो धन्यस्य । 'इष्टादिभ्यश्च' इति इतिप्रत्ययः । तैः किमु ? न किमपीत्यर्थः । ते क इत्याशङ्कयामाह—प्रियाणां प्रियतमानां संबन्धि-भिरालापैः श्रोत्रसुखावहमृदुमधुरव्याहारैश्च, अधरमधुभिः रसनेन्द्रियप्रीतिजनकाधरा-मृतैश्च, तथा निश्वासासामोदेन सह सनिश्वासासामोदैः । पद्मिनीजातित्वाग्निश्वासानिमित्तक-घ्राणतर्पणगन्धसंबन्धवन्धुरैरित्यर्थः । वक्त्रविधुभिर्नयनानन्दकरमुखचन्द्रैश्च । अत्र चन्द्रस्यैकत्वेऽपि सुखबाहुल्यात् बहुलत्वसिद्धिः । तथा सकुचकलशाश्लेषाणि कुचकु-म्भालिङ्गनसहितानि यानि सुरतानि त्वगुपस्थेन्द्रियामन्दानन्दकरबाह्याभ्यन्तरसंभोग-विशेषास्तैश्च । एवमशेषेन्द्रियग्रामसंतर्पणैरपि तैः किमिति संबन्धः । आत्मानन्दानुभ-ववेलायां तेषामतितुच्छतया प्रतीयमानत्वादिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ६८ ॥

अथ वेदान्तसिद्धान्तरीत्या वैराग्यं वर्णयन्निगमयति—

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंचारजनितं

तदा दृष्टं नारीमयमिदमशेषं जगदिति ।

इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनजुषां

समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते ॥ ६९ ॥

यदा यस्मिन्काले स्मरः काम एव तिमिरं तिमिराख्यनेत्ररोगः, अन्धकारश्च गम्यते । 'तिमिरं नेत्ररोगे स्यादन्धकारेऽपि च स्मृतम्' इत्यभिधानात् । तस्य संचा-रेण व्याप्त्या जनितमुत्पादितमज्ञानमविवेक आसीत्, तदा तस्मिन्काले अशेषं सर्व-मिदं जगत् । नारीमयं योषिद्रूपमिति दृष्टमाकलितम्, अज्ञानवशात्तथाऽवबुद्धमित्यर्थः । इदानीमस्मिन्काले तु पटुतरोऽज्ञाननिरसनदक्षः, अन्यत्र नेत्ररोगनिराकरणसमर्थश्च यो विवेकः तत्त्वज्ञानमेवाञ्जनं नेत्रकल्याणाख्यसिद्धाञ्जनं तज्जुषां प्राप्तवतां अस्माकं संब-न्धिनी दृष्टिर्मतिः, इक् च । असमा समा संपद्यमाना समीभूता । अभूततद्भावे च्चिः । निजप्रकृतिमापन्ना सतीत्यर्थः । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम् । 'तद्धि-तार्थ-' इत्यादिना समासः । पात्राद्यन्तत्वाच्च स्त्रीत्वम् । ब्रह्म ब्रह्ममयं मनुते । ज्ञानोदयवशाद्ब्रह्मस्वरूपमवबुध्यते । यथाञ्जनेन नेत्ररोगनिवृत्तौ घटाद्यर्थतत्त्वज्ञानं जायते, तथा तत्त्वज्ञानेन कामान्धकारप्रयुक्ताज्ञानावरणापाये परवस्तुसाक्षात्कारो भवति । ततः सम्यग्दृष्ट्या सर्वमिदं ब्रह्माकारतया पश्यति, अयमेव वेदान्तसिद्धान्त इति भावः । अतो विवेकस्य परमश्रेयोहेतुत्वात्तदधिगमार्थमेव यत्नः कर्तव्य इति तात्पर्यम् । रूपकालंकारः । वृत्तं तु पूर्ववत् ॥ ६९ ॥

अथैतद्वैलक्षण्येन दुर्विरक्तपद्धतिमाह । तत्रादौ यदुक्तं कृतिनो विवेकस्फुरणमिति तदेतदपवदति—

तावदेव कृतिनामपि स्फुर-

त्येष निर्मलविवेकदीपकः ।

यावदेव न कुरङ्गचक्षुषां

ताड्यते चटुललोचनाञ्चलैः ॥ ७० ॥

कृतमेभिः कृतिनस्तेषां कुशलानामपि । 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्ययः । एष पूर्वोक्तो निर्मलो निष्कलङ्को विवेकस्तत्त्वावबोध एव दीपकः प्रदीपः । स्वार्थे कः । तावत् तावत्पर्यन्तमेव स्फुरति दीप्यते । कियत्पर्यन्तमित्याकाङ्क्षायामाह—कुरङ्गचक्षुषां हरिणलोचनानां चटुलानि चञ्चलानि लोचनाञ्चलानि कटाक्षवीक्षणानि तैः, कलाप्रायैरिति भावः । यावत् यावत्पर्यन्तमेव न ताड्यते न निहन्यते, नावलोक्यत इत्यर्थः । तावदेवेति संबन्धः । विवेककुशलोऽपि जनः कामिनीकटाक्षवीक्षितः को वा विवेकनिर्वहणदक्ष इति भावः । यद्यपि 'अञ्चलं त्वंशुकान्ते स्यात्' इत्यमरः, तथापि अन्तिमत्वसाम्यादौपचारिकोऽयं निर्देश इति मन्तव्यम् । रथोद्धता वृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ७० ॥

अथैतेषां दुर्विरक्तत्वाभिद्योतकानीदृशान्येव वचनान्याह—

वचसि भवति सङ्गत्यागमुद्दिश्य वार्ता

श्रुतिमुखरमुखानां केवलं पण्डितानाम् ।

जघनमरुणरत्नग्रन्थिकाञ्चीकलापं

कुवलयनयनानां को विहातुं समर्थः ॥ ७१ ॥

श्रुतिमुखराण्यश्रान्तश्रुतिपाठतत्पराणि मुखानि येषां तेषाम् । निरन्तरवेदाभ्यसनव्यसनरसनानां वेदवेदान्तपारगाणामपीत्यर्थः । पण्डितानां विवेकिनां वचसि केवलं वाङ्मात्र एव सङ्गत्यागं वधूसंसर्गत्यागमुद्दिश्य वार्ता गाढा भवति, न त्वन्तःकरण इति भावः । कुतः ? अरुणरत्नग्रन्थिः पद्मरागमणिखचितः काञ्च्येव कलापो भूषणं यस्य तत्तथोक्तम् । 'शोणरत्नं लोहितकं पद्मरागोऽथ मौक्तिकम्', 'कलापो भूषणे बर्हे' इत्युभयत्राप्यमरः । कुवलयनयनानामिन्दीवराक्षीणां जघनं कटिपुरोभागं विहातुं त्यक्तुं कः समर्थः ? न कोऽपीत्यर्थः । प्रायश ईदृशान्येव दुर्विरक्तानां वचनानीति भावः । मालिनी वृत्तम् ॥ ७१ ॥

स परप्रतारकोऽसौ निन्दति योऽलीकपण्डितो युवतीः ।

यस्मात्तपसोऽपि फलं स्वर्गः स्वर्गेऽपि चाप्सरसः ॥ ७२ ॥

सोऽसावलीकपण्डितोऽनृतभाषी पण्डितः । 'अलीकं त्वप्रियेऽनृते' इत्यमरः । परप्रतारको लोकवञ्चकः । कोऽसावित्यत आह—योऽलीकपण्डितो युवतीस्तरुणीः । 'यूनस्तिः' इति युवशब्दात्तिप्रत्ययः । निन्दति गर्हयति । स इति संबन्धः । ननु निःसङ्गत्वाद्युवतिनिन्दाकरणे कथं प्रतारकत्वमत आह—यस्मात्कारणात्तपसश्चान्द्रायणादेर्व्रतोपवासादिरूपस्य वा फलं स्वर्गः । तत्र स्वर्गेऽपि चाप्सरस उर्वशीप्रभृतयः । तत्रापि तत्संगम एवेत्यर्थः । अतः परप्रतारक इति भावः । 'स्त्रियां बहुव्चाप्सरसः स्वर्वेश्या उर्वशीमुखाः' इत्यमरः । 'स्वपरप्रतारकः' इति पाठे त्वयमर्थः—योऽलीकपण्डितः पण्डितमानी, रहस्यानभिज्ञ इत्यर्थः । युवतीर्निन्दति असौ स्वस्य परेषां च प्रतारकः । आत्मवञ्चकः परवञ्चकश्चेत्यर्थः । कुतः ? । यस्माद्विशेषसमानस्वपरफलवेदनबोधनयोः परिज्ञानाभावादुभयवञ्चक इति भावः । आर्याभेदः ॥ ७२ ॥

अथ मन्मथस्यात्यन्तदुर्जयत्वमाह—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति धीराः

केचित्प्रचण्डमृगराजधवेऽपि दक्षाः ।

किंतु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य

कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥ ७३ ॥

भुवि भूलोके मत्तेभानां मत्तमातङ्गानां कुम्भदलने कुम्भस्थलविदारणे, समर्था इति शेषः । धीराः शूराः सन्ति । तथा केचित्पुरुषाः प्रचण्डोऽत्यन्तकोपनो यो मृगराजः सिंहस्तस्य वधे हिंसायां दक्षाः समर्थाः सन्ति, राजघातिभ्योऽप्युत्तमाः शूराः संभवन्तीत्यर्थः । किंतु बलिनां बलाढ्यानां शूराणाम् । ज्ञानबलशालिनामिति च गम्यते । पुरतोऽग्रे ब्रवीमि निःशङ्कं करमुद्धृत्य सङ्घिण्डिमघोषमुद्धोषयामीत्यर्थः । किमुद्धोषयसीत्यत आह—प्रसह्य बलात्, भुजबलादुद्धिबलाच्चेत्यर्थः । कन्दर्पदर्पदलने मदनमदविदारणे समर्था मनुष्या विरलाः मृग्याः, प्रायशो न सन्तीत्यर्थः । शंभुं तद्भक्तांश्च विना मदनविजयिनो न सन्त्येवेति शिवभक्ताग्रेसरस्य कर्वैर्निगूढतराभिसंधिः । अत्र कन्दर्पदर्पेति संकृद्यञ्जनद्रयावृत्तेर्वृत्त्यनुप्रासाख्यः शब्दालंकारः । लक्षणं तूक्तम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ७३ ॥

अथ च पुनस्तद्वचनवैचित्र्यमाह—

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति च नरस्तावदेवेन्द्रियाणां

लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।

भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते

यावलीलावतीनां हृदि न धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥ ७४ ॥

नरः, विद्वानपीति भावः । सन्मार्गे श्रुतिस्मृतिबोधिताचारे तावत् तावत्पर्यन्तमेवास्ते वर्तते । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां च तावदेव प्रभवति समर्थो भवति, नियमन इति शेषः । लज्जां जुगुप्सितकर्माचरणाच्चेतःसंकोचनलक्षणां व्रीडां च तावदेव विधत्तेऽनुवर्तते । विनयं नम्रत्वं च तावदेव समालम्बते स्वीकुरुते । कियत्पर्यन्तमित्याशङ्कयामाह—भ्रूरेव चापं कार्मुकं तेनाकृष्टाश्च ते मुक्ताश्चेति विशेषणसमासः । एकत्र भ्रूभङ्गपूर्वकम्, अपरत्र चापनमनपूर्वकं च प्रयुक्ता इत्यर्थः । श्रवणपथगताः श्रोत्रमार्गगताः । एकत्र कर्णान्तविश्रान्तत्वात्, अन्यत्र तत्पर्यन्तमाकर्षणाच्चेति भावः । नीलानि पक्ष्माणि लोमानि, अन्यत्र गरुतश्च येषां ते तथोक्ताः । धृतिं मुष्णन्तीति धृतिमुषो धैर्यमेदिन एते प्रसिद्धा लीलावतीनां विलासिनीनां दृष्टय एव बाणा यावत् यावत्पर्यन्तं हृदि मानसे वक्षसि न पतन्ति न प्रविशन्ति तावदिति संबन्धः । तदनन्तरं सन्मार्गप्रवर्तनादिकं निर्वोढुं कः समर्थ इति भावः । उक्तं च प्रबोधचन्द्रोदये—‘तावद्विवेकविभवस्तावत्सन्मार्गवर्तेन पुंसाम् । निपतन्ति दृष्टिविशिखा यावन्नेन्दीवराक्षीणाम् ॥’ इति । अत्र द्वितीयार्धे समस्तवस्तुवर्तिसावयवरूपकालंकारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ७४ ॥

किं बहुना, ब्रह्माप्यङ्गनोद्योगप्रत्यूहाचरणे न प्रभवतीत्याह—

उन्मत्तप्रेमसंरम्भादारभन्ते यदङ्गनाः ।

तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः ॥ ७५ ॥

अङ्गनाः स्त्रिय उन्मत्तोऽत्युक्तो यः प्रेमा अनुरागस्तस्य संरम्भात्संभ्रमात् ।
‘संरम्भः संभ्रमे कोपे’ इति विश्वः । यत्कर्म आरभन्ते, विहितमविहितं वा कर्तुमुद्युक्त
इत्यर्थः । तत्र कर्मणि प्रत्यूहं विघ्नम् । ‘विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः’ इत्यमरः । आधातुं
कर्तुं ब्रह्मापि । किमुतान्य इति भावः । कातरः सभयः, असमर्थः खल्वित्यर्थः ।
अनिवार्यनिश्चयानामनावृत्तानामङ्गनानां को वा निवारयितेति भावः । अनुष्टुप् ॥ ७५ ॥

तावन्महत्त्वं पाण्डित्यं कुलीनत्वं विवेकिता ।

यावज्ज्वलति नाङ्गेषु हतः पञ्चेषुपावकः ॥ ७६ ॥

महत्त्वं महानुभावत्वम्, च पाण्डित्यं प्राज्ञत्वम्, कुलीनत्वं महाकुलप्रसूतत्वम् ।
‘कुलात्खः’ इति खप्रत्ययः । विवेकिता कर्तव्याकर्तव्यविचारचतुरत्वं च, तावत्,
तावत्पर्यन्तमेव भवतीति शेषः । यावत् हतो नीचः अश्लाघ्यतापादकत्वान्निकृष्टः ।
पञ्च अरविन्दादय इषवो वाणा यस्य सः पञ्चेषुर्मदनः स एव पावकोऽग्निः अङ्गेषु न
ज्वलति नाविर्भवति, न संतापयतीत्यर्थः । तावदिति संबन्धः । तदनन्तरं को वा
महत्त्वादिगुणविशिष्ट इति भावः । ‘अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका । नीलोत्पलं
च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः’ इत्यमरः । अत्र मदने अग्नित्वरूपणादेकदेशवर्ति
रूपकम् । अनुष्टुप् ॥ ७६ ॥

अथ सांसारिकस्य सद्गतिर्दुर्लभेति सहेतुकमाह—

शास्त्रज्ञोऽपि प्रगुणितनयोऽप्यात्तबोधोऽपि बाढं

संसारेऽस्मिन्भवति विरलो भाजनं सद्गतीनाम् ।

येनैतस्मिन्निरयनगरद्वारमुद्घाटयन्ती

वामाक्षीणां भवति कुटिला भ्रूलता कुञ्चिकेव ॥ ७७ ॥

शास्त्रज्ञः सकलशास्त्ररहस्याभिज्ञोऽपि । ‘आतोऽनुपसर्गे कः’ इति कप्रत्ययः ।
तत्रापि प्रगुणितः प्रकर्षेणावृत्तिविषयीकृतो नयो नीतिशास्त्रं येन स तथोक्तोऽपि, फल-
वदर्थविवोधनपर्यन्तं सम्यक्परिशीलितनीतिशास्त्रोऽपीत्यर्थः । गुणशब्दात् ‘तत्करोति-’
इति ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । णाविष्टवद्भावे विन्मतोर्लृक् । ‘गुणः स्याद्वृत्तिशब्दाख्ये
ज्येन्द्रिये मुख्यतन्तुषु’ इति वैजयन्ती । तथा बाढं दृढं आत्तबोध उत्पन्नज्ञानोऽपि पुमान्
अस्मिन्परिवर्तमाने संसारे सद्गतीनां भाजनं पात्रम्, योग्य इति यावत् । विरलो
मृग्यो भवति । स्वर्गादिसद्गतिगामी यः कश्चिदेव भवति, नतु बहुल इत्यर्थः । कुतः ? ।
येन कारणेन अस्मिन्संसारे वामाक्षीणां मनोहरनयनानाम् । ‘बहुव्रीहौ’ इत्यादिना
षचि षित्त्वात् ङीप् । कुटिला वक्रा भ्रूलतेव भ्रूलता भ्रूवल्ली कुञ्चिकेव विष्कम्भवि-
घ्ननसाधनवक्राग्रायोमयशलाकेव निरयनगरस्य यमपुरस्य द्वारम्, लक्षणया द्वार-
पिधानकवाटविष्कम्भमित्यर्थः । द्वारशब्देन कवाटस्य तेन च तद्विष्कम्भस्य लक्षितत्वात्

उद्धाटयन्ती विघट्टयन्ती, व्यामोहोत्पादनेन दुर्गतौ प्रवेशयन्तीत्यर्थः । भवति खलु ।
अतो विरल इति संबन्धः । स्त्रीसङ्गिनां कुतः सद्गतिरिति भावः । उपमालंकारः ।
मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ७७ ॥

अथ द्वाभ्यां मन्मथस्य चरित्रवैचित्र्यमाह—

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो

व्रणी पूयक्लिन्नः क्रिमिकुलशतैरावृततनुः ।

क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः

शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥ ७८ ॥

कृशः पिण्डालाभादस्थिचर्मावशिष्टदेहः । काणोऽन्धः । यद्वा एकाक्षः । खञ्जः
पादविकलः । अकार्यकरणेन लगुडप्रहाराद्भ्रमपाद इत्यर्थः । तथा श्रवणरहितः समूलं
छिन्नकर्णः । पुच्छेन विकलश्छिन्नलाङ्गूलः । 'येनाङ्गविकारः' इति समासः । व्रणी
सर्वाङ्गक्षतवान् । अतः पूयेन क्लिन्न आर्द्रः । क्रिमीणां व्रणोत्पन्नापादतुच्छजन्तूनां
कुलशतैः, अनेकक्रिमिपरम्पराभिरित्यर्थः । आवृता व्याप्ता तनुर्यस्य स तथोक्तः ।
क्षुधा बुभुक्षया क्षामः परिक्षीणः । 'क्षायो मः' इति मत्वम् । जीर्णो जरया शिथि-
लावयवः । पिठरककपालेन घटमुखवलयोऽर्पितगल आसज्जितकण्ठनालः । शुनको हि
घटमुखे स्वशिरो निक्षिप्यान्नं भक्षयति, ततस्तावतैव शिरसः परिपुष्टत्वेनाकष्टुम-
शक्यत्वाद्भुवि विघटनेनाधःकपालापाये तन्मुखकपालेनासज्जितकण्ठो भवतीति प्रसिद्धिः ।
अत एवभूत इत्यर्थः । यद्वा चौरेणान्नादिभक्षणे तद्दण्डनार्थं भ्राष्ट्रं मध्ये छिद्रं कृत्वा
गले आसज्जयन्ति, तस्मादित्थंभूत इत्यर्थः । एवं जुगुप्सितोऽपि श्वा शुनकः शुनीं
सारमेयीम् । नान्तत्वान् डीप् । अन्वेत्यनुसरति, निधुवनार्थमिति भावः । तथा हि-
हतं विनष्टमपि च मदनो हन्त्येव मनोविकारोत्पादनेन पीडयत्येव । ननु हतहनन-
मन्याय्यमिति विचारयतीत्यर्थः । शठोऽयं मदनः कं वा कथंभूतावस्थापन्नं न करोतीति
भावः । अत्रैवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदार्थः । 'पार्थो धनुर्धरो भवत्येव' इत्युदाहृत्य
क्रियागतैवकारस्य तथाभूतार्थकत्वानुशासनात् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ७८ ॥

स्त्रीमुद्रां कुसुमायुधस्य जयिनीं सर्वार्थसंपत्करीं

ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः ।

ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्रीकृता मुण्डिताः

केचित्पञ्चशिखीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥ ७९ ॥

सर्वार्थानां संपदं करोतीति सर्वार्थसंपत्करीम्, धर्मार्थकामरूप-पुरुषार्थसमृद्धिहेतु-
भूतामित्यर्थः । 'कृजो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति टप्रत्ययः । टित्वान्डीप् । कुसुमा-
युधस्य जगज्जैत्रस्य मन्मथस्य जयिनीम्, जयावहामित्यर्थः । 'जिहृक्षि-' इत्यादिना
इनिप्रत्ययः । स्त्रीमुद्रां स्त्रीरूपचिह्नं प्रविहाय त्यक्त्वा कुधियो दुर्बुद्धयः अत एव मूढाः
कर्तव्याकर्तव्यविचारशून्याः ये जनाः । मिथ्याफलान्वेषिणः अननुभूतचरत्वादसत्य-
प्रायमोक्षफलाकाङ्क्षिणः सन्तो यान्ति गच्छन्ति प्रव्रजन्तीत्यर्थः । ते मूढास्तेन

निजमुद्राहानजनितकोपेन कुसुमेषुणैव निर्दयतरं अत्यन्तं दयाहीनं यथा तथा निहत्य
नीचैः कृत्वा केचिन्नग्रीकृता दिगम्बरीकृताः । 'नग्नोऽवासा दिगम्बरः' इत्यमरः ।
अभूततद्भावे च्विः । 'अस्य च्वौ' इति दीर्घः । 'ऊर्यादिच्चिडाचश्च' इति गतिसंज्ञायां
'कुगतिप्रादयः' इति समासः । केचिन्मुण्डिताः परमहंसीकृताः । केचित्पञ्चशिखी-
कृताः ब्रह्मचारिणः कृताः, पूर्ववत्प्रक्रिया । केचिच्च जटिला जटाधारिणः कृताः ।
पिच्छादित्वात् मत्वर्थाय इलच् प्रत्ययः । अपरे केचित्कायात्मिकाः अवैदिकमतानु-
सारिणः कूटयोगिनश्च कृताः । न तु सौभाग्यसंपन्नकृता इत्यर्थः । अतः कुसुमेषु-
मुद्रारूपाः स्त्रियो न परिहर्तव्या इति भावः । यथा लोके राजानस्तीक्ष्णदण्डा
निजाज्ञोलङ्घनापराधिजनान् कांश्चित्सर्वस्वापहारेण बन्धहीनान्कुर्वन्ति, कांश्चित्सर्वतो
मुण्डितशिरस्कान्, कांश्चिदर्धमुण्डितमुण्डान्, कांश्चिजटाधारिणः, कांश्चित्कपालभिक्षु-
कांश्च कुर्वन्ति, तद्वदत्रापि ध्वनिः । अत्र वैराग्यकृतनग्नत्वादेः कुसुमेषुकृतत्वोत्प्रेक्षणा-
दुत्प्रेक्षालंकारः । सा च नूनमित्यादि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्या । शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ७९ ॥

किं बहुना महर्षयोऽपीन्द्रियनिग्रहसमर्था न जाता इत्युपसंहरति—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो घाताम्बुपर्णाशना-

स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।

शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा-

स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यः प्लवेत्सागरे ॥ ८० ॥

घाताम्बुपर्णान्येवाशनं येषां ते तथोक्ताः शरीरयात्राभात्रोपयोगिवायूदकपरिण-
त्तपर्णाहारा एव, न त्विन्द्रियपुष्टिकरमृष्टान्नभोजिन इत्यर्थः । विश्वामित्रपराशर-
प्रभृतयो विश्वस्य मित्रं विश्वामित्रो गाधिनन्दनः । 'मित्रे चर्षौ' इति दीर्घः । पराशरो
व्यासपिता तौ प्रभृती येषां ते तथोक्ताः । प्रभृतिशब्देन शाण्डिल्यादयोऽपि संगृह्यन्ते ।
ये महर्षयः सन्तीति शेषः । तेऽपि सुललितमतिसुन्दरम् । 'ललितं त्रिषु सुन्दरम्' इति
शब्दार्णवे । स्त्रीणां मेनका-रम्भा-सत्यवती-धान्यमालिन्यादयोषितां मुखपङ्कजं दृष्ट्वैवाव-
लोक्यैव मोहं गतास्तत्परतन्त्रा जाताः, न त्विन्द्रियनिग्रहसमर्था इत्यर्थः । किंतु ये
मानवाः साधारणमर्त्याः सघृतं आज्यघृतं तदपि पयसा क्षीरेण दध्ना च युतं मिश्रितं
शाल्यन्नं कलमाख्यव्रीह्यन्नम्, अत्यन्तवीर्यवृद्धिकरं मृष्टान्नमित्यर्थः । भुञ्जतेऽभ्यव-
हरन्ति । 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम् । तेषां मानवानां इन्द्रियनिग्रह इन्द्रियनियमः
संभवेद्यदि, तदा विन्ध्यः पर्वतः सागरे प्लवेदुन्मज्जेत्, न तु कदाचिदपि विन्ध्यः
सागरे प्लवति । ग्रावप्लवनस्याश्रुतचरत्वात् । तथा च विन्ध्यप्लवनस्य यथा असंभावितत्वं
तथा इन्द्रियनिग्रहस्यापीत्यर्थः । वाताद्यशनानां ऋषीणामेवैतादृशावस्थापन्नत्वम्,
किमुत मृष्टान्नभोजिनां मानवानामिति भावः । अत्रेन्द्रियाणां निग्रहसंबन्धेऽपि विन्ध्यप्ल-
वनदृष्टान्तेनासंबन्धोक्तेः संबन्धेऽसंबन्धरूपातिशयोक्तिः । शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ८० ॥

इति शृङ्गारशतकव्याख्याने सुविरक्तदुर्धिरक्तपद्धतिवर्णनं नाम चतुर्थीं विंशतिः ।

श्रीरामार्पणमस्तु ।

अथ ऋतुवर्णनम् ।

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रस्तुतशृङ्गारोपयोगितया ऋतुवर्णनं प्रारिप्सुस्तत्रादौ लोक-
वेद्योः प्राथम्येन व्यवहाराद्वसन्तं वर्णयति परिमलेत्यादि षड्भिः—

परिमलभृतो वाताः शाखा नवाङ्कुरकोटयो

मधुरविधुरोत्कण्ठाभाजः प्रियाः पिकपक्षिणाम् ।

विरलविरसस्वेदोद्वारा वधूवदनेन्दवः

प्रसरति मधौ धान्यां जातो न कस्य गुणोदयः ॥ ८१ ॥

वाता उपवनपवनाः परिमलं विभ्रतीति परिमलभृतः । विविधकुसुमसंमर्दजनित-
गन्धविशेषसंबन्धवन्धुराः जाता इति शेषः । 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे'
इत्यमरः । शाखाः रसालादितरुस्कन्धाः नवाङ्कुराणि नूतनकिसलयानि कोटिषु अग्रेषु
यासां तास्तथोक्ताः, पल्लविता जाता इत्यर्थः । पिकपक्षिणां पिकाख्यपक्षिविशेषाणां
प्रियाः, कोकिलाङ्गना इत्यर्थः । 'कोकिलः पिक इत्यपि' इत्यमरः । मधुरा सह-
काराङ्कुरकषायास्वादलाभादनुगुणा विधुरा काकृतोपद्रववशाद्विगुणा च । कष्टेति
यावत् । या उत्कण्ठा कूजितौत्सुक्यं तां भजतीति तथोक्ता जाताः । 'भजो ण्विः'
इति ण्विप्रत्ययः । 'विधुरः स्यात्कष्टविश्लिष्टयोरपि' इति विश्वः । वधूनां वदनेन्दवो
वक्त्रचन्द्रा विरलविरला ग्रीष्मातिरेकाभावान्मन्दप्रकाराः । 'प्रकारे गुणवचनस्य'
इति सादृश्यार्थे द्विर्भावः । स्वेदोद्वारः श्रमजलनिष्यन्दो येषां ते तथोक्ता जाताः ।
अत्रोद्वारशब्दस्य गौणवृत्तिसमाश्रयणान्न ग्राम्यकक्षामध्यपतितत्वमित्युक्तं प्राक् ।
तथा हि धान्यां भुवि मधौ वसन्ते प्रसरति व्याप्रियमाणे सति कस्य वस्तुनो
गुणोदयो गुणोत्कर्षो न जातः, सर्वस्यापि जायत एवेत्यर्थः । 'गल्यर्थाकर्मक-'
इत्यादिना वर्तमाने कर्तरि क्तप्रत्ययः । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति चकाराद्वर्तमानता ।
'अथ पुष्परसे मधु । दैत्ये वसन्ते चैत्रे च' इति विश्वप्रकाशः । हरिणी वृत्तम् ॥ ८१ ॥

मधुरयं मधुरैरपि कोकिला-

कलरवैर्मलयस्य च वायुभिः ।

विरहिणः प्रहिणस्ति शरीरिणो

विपदि हन्त सुधापि विषायते ॥ ८२ ॥

अयं पूर्वोक्तो मधुर्वसन्तः । सकलचराचरोल्लासकारीति भावः । मधुरैः श्राव्यैः
संतापहरैर्वा । 'शीतलीक्रियते तापो येन तन्मधुरं स्मृतम्' इति लक्षणात् । कोकि-
लानां पिकसुन्दरीणां कलरवैरव्यक्तमनोहरैः स्वरविशेषैः । 'काकली तु कले सूक्ष्मे
ध्वनौ तु मधुरास्फुटे । कलः' इत्यमरः । कोकिलेऽत्र जातिग्रहणेऽपि 'कोकिला जाता-
वपि' इति न ङीप् । तथा मलयस्य वायुभिः श्रीखण्डशैलानिलैश्च, अत्यन्तसुखा-
वहैरपीति भावः । विरहिणः शरीरिणः वियोगिजनान्प्रहिणस्ति विनाशयति । तथा
हि—विपदि आपत्काले सुधा अमृतमपि विषायते विषमिवाचरति, तद्वत्प्राणप्रयास-
कारीत्यर्थः । 'उपमानादाचारे' इति क्यच् । 'अकृतसार्वधातुकयोर्दोर्घः' इति दीर्घः ।
हन्तेति विषादे । 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः । सामान्येन

विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालंकारः । स च विषायते इत्यत्र उपमया अङ्गेन संकीर्यते । अनुप्रासः शाब्दः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ८२ ॥

विरहिणामेवात्र कृच्छ्रं, न त्वन्येषामित्याह—

आवासः किलकिञ्चित्तस्य दयिताः पार्श्वे विलासालसाः

कर्णे कोकिलकामिनीकलरवः स्मेरो लतामण्डपः ।

गोष्ठी सत्कविभिः समं कतिपयैर्मुग्धाः सितांशोः कराः

केषांचित्सुखयन्ति चात्र हृदयं चैत्रे विचित्राः स्रजः ॥ ८३ ॥

पार्श्वे परिसरे किलकिञ्चित्तस्य 'रोषाश्रुहर्षभीत्यादेः संकरः किलकिञ्चित्तम्' इत्युक्तलक्षणशृङ्गारचेष्टाविशेषस्यावासो निवासभूतः । अत्राधारमात्रविवक्षयैकवचनग्रहणमिति विवेकः । तथा विलासालसा लीलामन्थराः, कटाक्षभुजाक्षेपादिविविधविभ्रमाचरणतत्परा इत्यर्थः । एतेनैतासां स्मरमन्दीकृतव्रीडत्वात्प्रागल्भ्यं सूच्यते । दयिताः प्रियतमाश्च । कर्णे, कर्णयोरित्यर्थः । 'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेण' इति वामनसूत्रे प्रायग्रहणादेकवचनप्रयोगः । कोकिलकामिनीनां कलकण्ठाङ्गनानां कलरवोऽव्यक्तमधुरस्वरश्च, स्मेरः । ईषद्विकसितकुसुम इत्यर्थः । अत्र कुसुमधर्मः कुसुमिते उपचर्यते । 'ष्मिद् ईषद्वसने' इति धातोः 'नमिकम्पि—' इत्यादिना रप्रत्ययः । लतामण्डपो लतागृहं च । कतिपयैः कैश्चिदेव अन्यथा रसाभासात् सत्कविभिः सरसविचित्रचारुप्रबन्धप्रणयनचतुरतरकवीश्वरैः समं गोष्ठीप्रसङ्गश्च । मुग्धा मनोहराः सितांशोः कराश्चन्द्रकिरणाश्च । विचित्रा नानाविधाः स्रजः पुष्पमालिकाश्च । अत्रास्मिन् चैत्रे वसन्ते केषांचित्, अन्येषामेवेत्यर्थः । हृदयं सुखयन्ति रञ्जयन्ति, न तु सर्वेषामित्यर्थः । ईदृक्सौभाग्यसंपन्नानां विरलत्वादिति भावः । अत्र खलेकपोतन्यायादयितादिवहुकारणानां हृदयरञ्जनरूपैककार्यसाधनसमुद्योगकथनाद्वितीयः समुच्चयालंकारः । तदुक्तं विद्यानाथेन—'खलेकपोतन्यायेन बहूनां कार्यसाधने । करणानां समुद्योगः स द्वितीयः समुच्चयः ॥' इति । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ८३ ॥

पान्थस्त्रीविरहानलाहुतिकलामातन्वती मञ्जरी

माकन्देषु पिकाङ्गनाभिरधुना सोत्कण्ठमालोक्यते ।

अप्येते नवपाटलापरिमलप्राग्भारपाटच्चरा

वान्ति क्लान्तिवितानतानवकृतः श्रीखण्डशैलानिलाः ॥ ८४ ॥

अधुना इदानीम्, वसन्तसमय इत्यर्थः । पान्थस्त्रीणां प्रोषितभर्तृकाणां विरहानलस्य वियोगाग्नेः आहुतिकलामाहुतिकलनाम्, तत्साम्यमित्यर्थः । 'कला शिल्पे कालभेदे चन्द्रांशे कलना कला' इति वैजयन्ती । आतन्वती आदधाना, तद्वदुद्दीपिकेत्यर्थः । तनोतेः शतरि 'उगितश्च' इति ङीप् । माकन्देषु रसालविशेषेषु । विद्यमानेति शेषः । मञ्जरी पुष्पमञ्जरी । पिकाङ्गनाभिः कोकिलाभिः सोत्कण्ठमालोक्यते सानन्दमुद्दीक्ष्यते । इष्टत्वादिति भावः । तथा पाटला फलेरुहाख्यवृक्षविशेषः । 'पाटलिः पाटलामोघा काचस्थाली फलेरुहा' इत्यमरः । 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' इति 'लुपि युक्तवद्यक्तिवचने' भवतः । नवपाटलापरिमलप्राग्भारस्य नूतनपाटलीकुसुमगन्धसंपत्तेः

पाटचराः मलिम्लुचाः, तद्गन्धापहारिण इत्यर्थः । तथा क्लान्तिवितानस्य क्लान्ति-
समूहस्य तानवं कार्यं कुर्वन्तीति करोतेः क्तिप् । एते प्रसिद्धाः शैल्यमान्द्यसौ-
रभ्ययुक्ताः श्रीखण्डशैलानिला मलयमारुता अपि वान्ति प्रसरन्ति । 'वा गतिगन्ध-
नयोः' इति धातोर्लट् । एतेन विरहिणां दुरन्तदुःखजनकत्वसंयुक्तानां परमानन्दकत्वं
चास्योक्तमित्यवगन्तव्यम् । अत्र वियोगाग्निरित्यत्र रूपकम् । आहुतिकलामित्यत्रोपमया
सापेक्षितत्वात्संकीर्णं सच्छब्देनानुप्रासेन संकीर्यते । वृत्तं तु पूर्ववत् ॥ ८४ ॥

प्रथितः प्रणयवतीनां तावत्पदमातनोतु हृदि मानः ।

भवति न यावच्चन्दनतरुसुरभिर्मलयपवमानः ॥ ८५ ॥

प्रथितः प्रसिद्धः, दृढतर इति यावत् । मानः प्रियतमस्यान्यस्त्रीसङ्गित्वजनितेर्ष्या-
कृतकोपः । 'स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये । श्रुते वानुमिते दृष्टे'
इति दशरूपके । प्रणयवतीनां प्रियतमानां हृदि तावत् तावत्पर्यन्तं पदं स्थानं आतनोतु
करोतु । तिष्ठत्वित्यर्थः । संभावनायां लोट् । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्गिर्वस्तुषु'
इत्यमरः । कियत्पर्यन्तमित्यत आह—चन्दनतरुसुरभिः श्रीखण्डद्रुमपरिशीलनसुगन्धिः ।
'सुगन्धौ च मनोज्ञे च सुरभिर्वाच्यलिङ्गवत्' इति विश्वः । मलयपवमानो मलय-
मारुतः । यावत्पर्यन्तं न भवति न प्रसरति, तावदिति संबन्धः । सामान्यस्य विशेष-
पर्यवसानात्प्रसरणार्थत्वं भुवो द्रष्टव्यम् । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे'
इत्यमरः । अस्यात्यन्तोद्दीपकत्वान्मानिन्योऽतिदृढमपि निजमानं विहाय प्रियतम-
परतन्त्राः स्वयमेव भवन्तीत्यर्थः । आर्याभेदः ॥ ८५ ॥

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते ।

मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कण्ठा ॥ ८६ ॥

सहकारकुसुमानां रसालविशेषप्रसूनानाम् । 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽति-
सौरभः' इत्यमरः । ये केसरनिकराः किञ्जल्कपुञ्जास्तेषां ये भराः समृद्धयस्तेषामामोदेन
परिमलविशेषेण मूर्च्छिता व्याप्ता दिगन्ता यस्मिन्तस्मिन्मधुरेण माधुर्यगुणयुक्तेन मधुना
मकरन्देन विधुरा विह्वला, उन्मत्ता इति यावत् । मधुपा मृज्ञा यस्मिन् । इत्थम-
स्योक्तमुद्दीपकत्वमित्यर्थः । मधौ वसन्ते कस्य जनस्य । स्त्रियो वा पुरुषस्य वेत्यर्थः ।
उत्कण्ठा संभोगौत्सुक्यं न भवेन्नोत्पद्येत? अतः सर्वस्यापि उत्पद्यत एवेत्यर्थः । अतो
मानत्वागो युज्यत एवेति भावः । अनुप्रासः शब्दालंकारः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ८६ ॥

अथ त्रिमिर्ग्रीष्मं वर्णयति—

अच्छाच्छचन्दनरसार्द्रतरा मृगाक्ष्यो

धारागृहाणि कुसुमानि च कौमुदी च ।

मन्दो मरुत्सुमनसः शुचि हर्म्यपृष्ठं

ग्रीष्मे मदं च मदनं च विवर्धयन्ति ॥ ८७ ॥

अच्छाच्छोऽतिस्वच्छो यश्चन्दनरसः पाटीरद्रवः । 'गुणे रागे ब्रवे रसः' इत्यमरः ।
तेन आर्द्रतरा अत्यन्तार्द्राः, संतापशान्त्यर्थं सान्द्रचन्दनपङ्कचार्चिताङ्गा इत्यर्थः ।
मृगाक्ष्यस्तरुण्यश्च, धारागृहाणि जलयन्त्रवेश्मानि, कुसुमानि मल्लिकादीनि, कौमुदी

चन्द्रिका च । सुमनसो जाल्याः संबन्धी ग्रीष्मकालेऽतिविकाससंभवात्, तत्कुसुम-
परिशीलनजनितामोदभरित इत्यर्थः । 'सुमना मालती जातिः' इत्यमरः । मन्दो
मरुत् मन्थरगन्धवाहश्च, शुचि शुभ्रम् । सुधालेपनेनेति भावः । हर्म्यपृष्ठं सौधोपरि-
प्रदेशश्चेति ग्रीष्मे ऋतौ मदं हर्षव्यतिकरं मदनं च विवर्धयन्ति उद्दीपयन्ति । अत्रापि
द्वितीयः समुच्चयालंकार उन्नेयः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ८७ ॥

स्रजो हृद्यामोदा व्यजनपवनश्चन्द्रकिरणाः

परागः कासारो मलयजरजः शीधु विशदम् ।

शुचिः सौधोत्सङ्गः प्रतनु वसनं पङ्कजदृशो

निदाघर्तावेतद्विलसति लभन्ते सुकृतिनः ॥ ८८ ॥

हृद्यामोदा मनोहरगन्धाः स्रजः पुष्पमालिकाश्च, व्यजनपवनस्तालवृन्तसमीरणश्च ।
'व्यजनं तालवृन्तकम्' इत्यमरः । चन्द्रकिरणाश्च, परागः सुमनोरजश्च, कासारः
क्रीडासरश्च, मलयजरजः चन्दनक्षोदश्च, विशदं निर्मलं शेरते अनेनेति शीधु मयं
च । 'शीढो धुक्' इत्यौणादिको धुक्प्रत्ययः । शुचिः शुभ्रः, विहारयोग्य इत्यर्थः ।
सौधोत्सङ्गः प्रासादप्रदेशश्च, प्रतनु वसनं सूक्ष्माम्बरम्, पङ्कजदृशः पद्मपलाश-
लोचनाश्चैतत्सर्वं भोगसाधनम् । 'नपुंसकं—' इत्यादिना नपुंसकैकशेषः । निदाघर्ता
ग्रीष्मर्तौ । 'आद्गुणः' इति रपरो गुणः । विलसति विजृम्भमाणे सति सुकृतिनः
पुण्यशालिनः लभन्ते प्राप्नुवन्ति । कथमसुकृतिनामीहभोगसाधनलाभ इति भावः ।
शिखरिणी वृत्तम् ॥ ८८ ॥

सुधाशुभ्रं धाम स्फुरदमलरश्मिः शशधरः

प्रियावक्राम्भोजं मलयजरजश्चातिसुरभि ।

स्रजो हृद्यामोदास्तदिदमखिलं रागिणि जने

करोत्यन्तः क्षोभं न तु विषयसंसर्गविमुखे ॥ ८९ ॥

सुधया लेपनद्रव्येण शुभ्रम् । यद्वा सुधा अमृतं तद्वच्छुभ्रम् । 'सुधा स्याल्लेपन-
द्रव्येऽमृते च' इति विश्वः । अतिसुरभि अत्यन्तसुगन्धि । रागिणि विषयासक्ते ।
विषयसंसर्गविमुखे विरक्ते । विरक्तस्य तेषामकिञ्चित्करत्वादिति भावः । तिगदित-
व्याख्यानमन्यत् । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ८९ ॥

अथ वर्षासमयवर्णनमारभते—

तरुणी वेषोद्दीपितकामा

विकसज्जातीपुष्पसुगन्धिः ।

उन्नतपीनपयोधरभारा

प्रावृद्ध तनुते कस्य न हर्षम् ॥ ९० ॥

उद्दीपित उत्पादितः कामो मन्मथः सुरताभिलाषो वा यया सा तथोक्ता । विकसन्ति
विकस्वराणि यानि जातीपुष्पाणि तैः शोभनो गन्धो यस्याः सा तथोक्ता । एकत्र
जातीकुसुमविकाससंभवात्; अन्यत्र तत्कुसुमालंकृतत्वाच्चेति भावः । 'गन्धस्येदुत्पत्ति-

सुसुरभिभ्यः' इति गन्धशब्दस्य इकारान्तादेशः । यद्यपि 'गन्धशब्दस्येत्वे तदेकान्त-
ग्रहणम्' इत्युक्तम्, तथापि कवीनां निरङ्कुशत्वात्पर्यनुयोगः । उन्नत उत्तुङ्गः पीनः
पीवरश्च पयोधरभारोऽम्भोधरवृन्दं च, अन्यत्र स्तनभारश्च यस्याः सा तथोक्ता ।
'स्तनाम्भोदौ पयोधरौ' इति वैजयन्ती । अत एव तरुण्या वेष इव वेषो यस्याः सा,
कामिनीव मोहनकारिणीत्यर्थः । प्रावृद्ध वर्षाः कस्य पुंसो हर्षं संभोगौत्सुक्यं न तनुते ?
सर्वस्यापि तनुत एवेत्यर्थः । श्लेषानुप्राणितेयमुपमा ॥ ९० ॥

वियदुचितपमेधं भूमयः कन्दलिन्यो

नवकुटजकदम्बामोदिनो गन्धवाहाः ।

शिखिकुलकलकेकारावरम्या वनान्ताः

सुखिनमसुखिनं वा सर्वमुत्कण्ठयन्ति ॥ ९१ ॥

उपचिताः परिचिता मेघा यस्मिंस्तत्तथोक्तम्, घनाघनसंचारवदित्यर्थः । वियत्
आकाशं च । कन्दलानि अङ्कुराणि आसां सन्तीति कन्दलिन्यो भूमयो भूप्रदेशाश्च ।
नवो नूतनः कुटजानां गिरिमल्लिकानां कदम्बानां नीपकुसुमानां च आमोदो गन्धवि-
शेष एषामस्तीति तथोक्ता गन्धवाहा उद्यानपवनाश्च । 'कुटजो गिरिमल्लिका' इत्य-
मरः । के मूर्ध्नि कायन्ति ध्वनयन्ति केका मयूरवाण्यः । 'केका वाणी मयूरस्य'
इत्यमरः । शिखिकुलानां मयूरनिकराणां ये कलकेकारावा अव्यक्तमधुरकेकास्वरास्तै
रम्या मनोहरा वनान्ताश्च केलीवनमध्यप्रदेशाश्च । सुखिनं दुःखिनं वा सर्वं अशेषं
जनं उत्कण्ठयन्ति, संभोगौत्सुक्यवन्तं कुर्वन्तीत्यर्थः । उद्दीपकत्वादिति भावः ।
उत्कण्ठाशब्दात् 'तत्करोति-' इति ण्यन्ताल्लङ् । मालिनी वृत्तम् ॥ ९१ ॥

उपरि घनं घनपटलं तिर्यगिरयोऽपि नर्तितमयूराः ।

क्षितिरपि कन्दलधवला दृष्टिं पथिकः क पातयति ॥ ९२ ॥

उपरि उपरिष्ठाद्धनं सान्द्रं घनपटलं मेघवृन्दम् । वर्तत इति शेषः । 'घनाः
कठिनसंघातमेघकाठिन्यमुद्गराः' इति वैजयन्ती । तिर्यग्, दिक्षु इत्यर्थः । मह्यमति-
शयेन रमन्तीति मयूराः । पृषोदरादित्वात्साधुः । नर्तिता नृत्यन्तः । स्वार्थे णिचि
'गत्यर्थकर्मक-' इत्यादिना वर्तमाने कर्तरि क्तः । 'मतिबुद्धि-' इति वर्तमानता ।
यद्वा—नर्तिता मेघवृन्देन नादिताः । मेघोदये तेषां उल्लासवशेन नाट्यसंभवात्
तथाभूता मयूरा येषु ते तथोक्ता गिरयोऽपि, वर्तन्त इति शेषः । क्षितिरपि भूमिरपि
कन्दलैर्नानाविधाङ्कुरैर्धवला स्वच्छा । अतः पन्थानं गच्छतीति पथिकः पान्थः । 'पथः
एकन्' इति कन्प्रत्ययः । दृष्टिं क कुत्र पातयति प्रसारयति ? न कुत्राप्यित्यर्थः । सर्वत्रा-
प्युद्दीपनसंभवादिति भावः । महत्कष्टमत्र विरहिणामिति परमार्थः । आर्याभेदः ॥ ९२ ॥

इतो विद्युद्वल्लीविलसितमितः केतकितरोः

स्फुरन्गन्धः प्रोद्यज्जलदनिनदस्फूर्जितमितः ।

इतः केकीक्रीडाकलकलरवः पक्षमलदृशां

कथं यास्यन्त्येते विरहदित्रसाः संभृतरसाः ॥ ९३ ॥

इतोऽस्मिन्प्रदेशे विद्युद्वल्लीनां तडिल्लतानां विलसितं स्फुरणम् । भवतीति शेषः ।
इतः प्रदेशे केतकितरोः केतक्याख्यवृक्षस्य, तत्कुसुमस्येत्यर्थः । 'द्व्यापोः संज्ञाच्छन्द-

सोर्बहुलम्' इति ह्रस्वः । कालिदास इतिवत् । स्फुरन्व्यामुवानो गन्धश्च । वर्तत इति शेषः । इतः प्रोद्यत्प्रवृद्धं जलदनिनदस्य मेघगर्जितस्य स्फूर्जितं स्फुरणं च, भवतीति शेषः । इतश्च केकिनां शिखावलानां क्रीडासु केलिषु यः कलकलरवः कोलाहलध्वनिः । 'शिखावलः शिखी केकी', 'कोलाहलः कलकलः' इति चामरः । यद्वा कलकलरवः अत्यन्ताव्यक्तमधुरप्रकारस्वरश्च, समुज्जृम्भत इति शेषः । पक्ष्माण्यासां सन्तीति पक्षमलाः । सिध्मादित्वाल्लक्षप्रत्ययः । तथाभूता दृशो यासां तासां पारिल्लवलोचनानां एते प्रसिद्धाः संभृतरसाः संपूर्णशृङ्गाराः, उद्दीपका इत्यर्थः । विरहदिवसा वियुक्तवासराः कथं यास्यन्ति अतिक्रमिष्यन्ति ? न कथंचिदपीत्यर्थः । दुरन्तत्वाद्दिनमेकं युगं भविष्यतीति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ९३ ॥

असूचीसंचारे तमसि नभसि प्रौढजलद-

ध्वनिप्राज्ञमन्ये पतति पृषतानां च निचये ।

इदं सौदामन्याः कनककमनीयं विलसितं

मुदं च म्लानिं च ग्रथयति पथि स्वैरसुदृशाम् ॥ ९४ ॥

तमसि अन्धकारे न विद्यते सूचीसंचारो यस्मिंस्तस्मिन्सूच्यग्रमात्रस्याप्यनवकाश-
प्रदे, गाढतमे सतीति यावत् । तथा नभसि अन्तरिक्षे च प्रौढः प्रगल्भः, गम्भीर
इति यावत् । यो जलदध्वनिर्मेघगर्जितं तेन प्राज्ञं वाचालमात्मानं मन्यत इति प्राज्ञ-
मन्ये, बहुतरमेघनिर्हादवति सतीत्यर्थः । 'आत्ममाने खश्च' इति खशि मुमागमः ।
तथा पृषतानां बिन्दूनां च निचये संदोहे पतति सति । 'पृषन्ति बिन्दुपृषतौ' इत्य-
मरः । कनककमनीयं कनकनिकषणरेखासुन्दरमिदं प्रवर्तमानं सौदामन्या विद्युतः ।
'तडित्सौदामनी विद्युत' इत्यमरः । विलसितं स्फुरणं कर्तुं स्वैरसुदृशां अभिसा-
रिकाणां पथि प्रियगृहमार्गे मुदं मार्गप्रदर्शकत्वात्संतोषं म्लानिं आत्मप्रकाशकहेतुत्वात्
म्लानिं च । 'म्लै म्लै हर्षक्षये' इत्यस्माद्धातोः 'हृजृरेभ्यो निः' इत्यौणादिको निप्र-
त्ययः । ग्रथयति प्रकटयति, करोतीत्यर्थः । 'कान्ताभिसरणोद्युक्ता स्मरार्ता साभिसा-
रिका' इति लक्षणात् । कान्तमुद्दिश्य निगूढमभिसरणशीलानां स्त्रीणामुपयोगानुपयो-
गाभ्यां हर्षाहर्षे हेतुत्वादिति भावः । 'कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साभिसारिका'
इत्यमरः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ९४ ॥

आसारेण न हर्म्यतः प्रियतमैर्यातुं बहिः शक्यते

शीतोत्कम्पनिमित्तमायतदृशा गाढं समालिङ्ग्यते ।

जाताः शीकरशीतलाश्च मरुतो रत्यन्तखेदच्छिदो

धन्यानां बत दुर्दिनं सुदिनतां याति प्रियासंगमे ॥ ९५ ॥

प्रियतमैर्वल्लभैरासारेण धारासंपातेन हेतुना । 'धारासंपात आसारः' इत्य-
मरः । हर्म्यतः प्रासादात् । 'धामतः' इति पाठे गृहात् । उभयत्रापि पञ्चम्यास्त-
सिद्ध । 'अपपरि-' इत्यादिना समासविधानज्ञापकात् बहिर्योगे पञ्चमी । बहि-
र्यातुं न शक्यते न समर्थ्यते । 'शक्नु शक्तौ' । भावे लट् । 'शकधृष-' इत्यादिना
तुमुन्प्रत्ययः । तथा आयतदृशा दीर्घदृशा तरुण्या शीतेन शृङ्खलाम्पो गात्रवेपथुस्त-

शिमितम्, तन्निवारणार्थमित्यर्थः । गाढं अतिहृदं समालिङ्ग्यते परिरभ्यते । पूर्ववल्लद । तथा शीकरैरम्बुकणैः शीतलाः शिशिराः । 'शीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः' इत्यमरः । रत्यन्ते सुरतावसाने यः खेदः श्रमस्तं छिन्दन्तीति तथोक्ताः । सुरतसंरम्भजनितश्रमापहारिण इत्यर्थः । 'श्रमः खेदोऽथ रत्यादेर्जातः खेदातिभूमिकृत्' इति लक्षणात् । मरुतश्च जाताः प्रसृताः । अतः धन्यानां पुण्यशालिनां प्रियासंगमे प्रियासंभोगे सति दुर्दिनं दुष्टदिनमपि मेघच्छन्नदिनं च । 'मेघच्छन्नेऽहि दुर्दिनम्' इत्यमरः । सुदिनतां सुदिवसत्वं याति । अन्येषां तु तदेव भवतीत्यर्थः । वतेति विस्मये । 'वतखेदानुकम्पामन्त्रणसंतोषविस्मये' इत्यभिधानात् । अत्र दुर्दिनमपि सुदिनतां यातीति स्फुरतो विरोधस्योक्तसमाधानाद्विरोधाभासोऽलंकारः । 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते' इति लक्षणात् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ९५ ॥

अथैकेन शरदं वर्णयति—

अर्धं सुप्त्वा निशायाः सरभससुरतायाससन्नश्चथाङ्गः

प्रोद्भूतासह्यतृष्णो मधुमदनिरतो हर्म्यपृष्ठे विविक्ते ।

संभोगक्लान्तकान्ताशिथिलभुजलतावर्जितं कर्करीतो

ज्योत्स्नाभिन्नाच्छधारं न पिवति सलिलं शारदं मन्दपुण्यः ९६

निशायाः रात्रेः अर्धम् । यामद्वयमित्यर्थः । 'पुंस्यर्थोऽर्धं समेऽशके' इत्यमरः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । सुप्त्वा शयित्वा । निद्रया यामद्वयं गमयित्वेत्यर्थः । ततः । मध्ये इति शेषः । सरभसं सोद्वेगं यत्सुरतं अभ्यन्तरसंभोगस्तेन य आयासः श्रमस्तेन सन्नानि परिभिन्नानि अत एव श्लथानि शिथिलानि अङ्गानि अवयवा यस्य स तथोक्तः । 'मध्यं नक्तमुदाहृतं शरदि च प्रत्युषकाले हिमम्' इति भोजवचनादर्धरात्रकृतसुरतपरिश्रान्त इत्यर्थः । एतेनैतस्य नायकस्य कामतन्त्रकुशलत्वम्, नायिकायाः शङ्खिनीत्वं च सूच्यते । तृतीययामस्य तत्सुरतयोग्यकालत्वात् । तदुक्तं रतिरहस्ये—'रमयति च तृतीये शङ्खिनीमार्द्रभावां रमयति रमणीयां पद्मिनीं तुर्ययामे' इति । अन्यत्राप्युक्तम्—'कुसुमितवनमध्ये कूचिमारस्तृतीये तिमिरनिबिडयामे शङ्खिनीं संलभेत' इति । अत एव प्रोद्भूता प्रकर्षणोत्पन्ना अत एवासह्या स्वतः शमयितुमशक्या तृष्णा पिपासा यस्य स तथोक्तः । तथा मधुना संभोगप्राक्कालीनमद्यपानेन यो मदो मोहस्तेन निरतः । परवश इत्यर्थः । 'मदिरादिकृतो मोहो हर्षव्यतिकरो मदः' इति लक्षणात् । विविक्ते विजने । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः । अन्यथा विस्मम्भविरहानुभवादिति भावः । हर्म्यपृष्ठे प्रासादोपरिप्रदेशे कर्करीतः गलन्तिकाख्यसच्छिद्रकुण्डिकायाः । पञ्चम्यास्तसिः । 'कर्कर्यालुर्गलन्तिका' इत्यमरः । संभोगक्लान्तायाः, सुरतायासपरिश्रान्तायाः, कान्तायाः स्वप्रियतमायाः शिथिलया निःसहायया भुजलतया आवर्जितं धाराकारेण तदत्तमिति स्वादातिशयोक्तिः । शारदं शरत्कालसंबन्धि सलिलम्, हंसोदकमित्यर्थः । ज्योत्स्नया चन्द्रिकया अभिज्ञा मिलिता अत एव अच्छा धारा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा या मन्दपुण्यो भाग्यहीनो न पिवति, भाग्यसंपन्नस्तु पिवतीत्यर्थः । हंसोदकलक्षणमुक्तं द्रव्यरत्नमालायाम्—'वह्निस्तप्तमहिमांशुरदिमभिः शीतमम्बु शशिरदिमभिर्निशि

एवमेव तदहर्निशं स्थितं तच्च हंसजलनामकं स्मृतम् ॥' इति । एतत्पानेन गुण-
संपत्तिरपि तत्रैवोक्ता—'प्रसादकं त्रिदोषघ्नं हृद्यं लघु च शीतलम् । वृष्यं मनोहरं
स्वादु विषघ्नं कान्तिकृत्परम् ॥' इति । शरद्येतत्पाने नियमश्चाप्युक्तोऽन्यत्र—'कर्पूरा-
गरुजं सिताद्यभिरसैर्हंसोदकं वासितं पाथश्चातिमनोहरं शिशिरतो मुग्धाङ्गनालिङ्गनम्' ।
स्वधरा वृत्तम् ॥ ९६ ॥

अथ द्वाभ्यां हेमन्तं वर्णयति—

हेमन्ते दधिदुग्धसर्पिरशना मञ्जिष्ठवासोभृतः

काश्मीरद्रवसान्द्रदिग्धवपुषश्छिन्ना विचित्रै रतैः ।

वृत्तोरुस्तनकामिनीजनकृताश्लेषा गृहाभ्यन्तरे

ताम्बूलीदलपूगपूरितमुखा धन्याः सुखं शेरते ॥ ९७ ॥

हेमन्ते ऋतौ दधि प्रसिद्धम्, दुग्धसर्पिणी क्षीरघृते, तान्यशनं येषां ते तथोक्ताः ।
तनु दुग्धाज्यादीनां शैल्यावसादकत्वेन सेवनं भवतु । दधिसेवनस्य तदतिरेककरत्वा-
त्तत्सेवनं कथं युक्तमिति चेन्न । तस्याप्यायुष्कामस्य हेमन्ते सेवनोपयोगात् । तदुक्तं
चारुचर्यायामृतचर्याप्रस्तावे सर्वज्ञभोजराजेन—'त्रिषु च दधि निषेव्यं ग्रीष्मकाले
वसन्ते शरदि च परिवर्जं वाञ्छता दीर्घमायुः । यदि खलु परिवाञ्छा सेव्यतां सर्वकालं
सह गुडमधुपात्रे शर्करामुद्रयूपैः ॥' इति । मञ्जिष्ठया रजकद्रव्येण रक्तानि माञ्जिष्ठानि
वासांसि सुरक्तवसनानि विभ्रतीति तथोक्ताः । 'तेन रक्तं रागात्' इत्यण्प्रत्ययः ।
यद्यपि 'निर्वातं भवनं सुरक्तवसनं बहेः परं सेवनम्' इति वसन्तसमययोग्यत्वेन
सुरक्तवसनधारणं अभिहितम् । तथापि मतान्तरे एवमुक्तमिति न विरोधः । काश्मीर-
द्रवेण कुङ्कुमपङ्केन सान्द्रं यथा तथा दिग्धानि रूपितानि वपूषि येषां ते तथोक्ताः ।
विचित्रैर्बाह्याभ्यन्तरनिरूपणेन नानाविधै रतैश्छिन्नाः श्रान्ताः । वृत्तौ वर्तुलौ ऊरु
पीनौ च स्तनौ यासां ताः तथोक्ताः याः कामिन्यस्ता एव जनः तेन कृताश्लेषाः
विहितपरिरम्भाः । तदुक्तम्—'कस्तूर्यागरुकुङ्कुमैरतिकृतं पानं तटाकस्थितं शीतं नैव
विदीर्यते प्रियतमैरालिङ्गनं कम्बलम्' इति । तथा ताम्बूलीदलैर्नागवल्लीदलैः पूगैः
क्रमकैश्च पूरितानि मुखानि वक्रान्तरालानि येषां ते तथोक्ताः ताम्बूलचर्वणरताः,
तत्परा इत्यर्थः । 'घोण्टा तु पूगः क्रमुकः' इत्यमरः । इत्थंभूता धन्याः सुकृतिनः
गृहाभ्यन्तरे मन्दिरान्तराले सुखं यथा तथा शेरते स्वपन्ति । 'शीङ्गे रुद्र' इति
रुद्रागमः । ताम्बूलस्य मानसोल्लासादिवहुगुणहेतुत्वात्तच्चर्वणोक्तिः । तदुक्तं चारु-
चर्यायाम्—'मनसो हर्षणं श्रेष्ठं रतिदं मदकारणम् । मुखरोगहरं हृद्यं दीपनं
वस्तिशोधनम् । मुखाशुद्धिक्रमहरं ताम्बूलं श्रीकरं परम् ॥' इति । तत्कालानु-
गुणोपचारत्वेन च वीर्यवृद्धिकरत्वेन च प्रथमं दधिक्षीराज्यप्राज्यमृष्टाञ्च भुक्त्वा-
नन्तरं कुङ्कुमकस्तूर्यादिमिश्रितचन्दनलेपनपूर्वकं विविधसुरतसंरम्भसंभोगपरिश्रान्ता-
कान्तासमालिङ्गितगात्राश्च सन्तस्ताम्बूलचर्वणरताः सुकृतशालिनः सुखेन निवातगृहाः
भ्यन्तरे स्वपन्तीति समुदायार्थः । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ९७ ॥

प्रोद्यत्प्रौढप्रियङ्गुद्युतिभृति विकसत्कुन्दमाद्यद्विरेफे

काले प्रालेयवातप्रचलविलसितोदारमन्दारधाम्नि ।

येषां नो कण्ठलग्ना क्षणमपि तुहिनक्षोददक्षा मृगाक्षी

तेषामायामयामा यमसदनसमा यामिनी याति यूनाम् ॥ ९८ ॥

प्रोद्यन्त उदित्वराः प्रौढाः प्रवृद्धाश्च याः प्रियङ्गवः फलिन्यस्ताभिर्द्युतिमुपचयजनितशोभां विभर्तीति तथोक्ते । 'प्रियङ्गुः फलिनी फली' इत्यमरः । द्वौ रेफौ वर्णविशेषौ यस्य स द्विरेफो भ्रमरशब्दः । उपचारात्तदर्थोऽपि द्विरेफ उच्यते । यथाह कैयटः— 'शब्दधर्मेणाप्यर्थस्य व्यपदेशो दृश्यते । यथा भ्रमरशब्दस्य' । द्विरेफो भ्रमरः । विकसद्भिः कुन्दैः माध्यकुसुमैः माद्यन्तो द्विरेफा यस्मिन् तस्मिन् । 'माध्यं कुन्दम्' इत्यमरः । 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' इति लक् । यद्यपि कुन्दविकसनं शिशिरर्तुलक्षणम्, तथापि तत्प्रत्यासत्त्योक्तमिति न विरोधः । प्रलयादागतं प्रालेयं हिमम् । 'तत आगतः' इत्यण् । 'केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः' इति यशब्दस्य इयादेशः । प्रालेयवातैस्तुषारवायुभिः प्रचलं चञ्चलं अत एव विलसितं प्रकाशमानमुदारं रम्यं च मन्दाराणां संतानकतरुणां धाम स्थानं यस्य तस्मिन् । यद्वा मन्दाराणां पारिभद्रतरुणां धामेति उभयत्राप्युपचयहेतुत्वादिति भावः । 'पारिभद्रो निम्बतरुमन्दारः पारिजातकः' इत्यमरः । एवंभूते काले हेमन्तसमये येषां यूनां तरुणानां तुहिनक्षोदे शीतनिवारणे दक्षा । कुचकुम्भयोरौष्ण्यसंभवेन तदालिङ्गनान्निवारणसमर्थेत्यर्थः । मृगाक्षी तरुणी क्षणं अल्पकालमपि । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । कण्ठलग्ना कण्ठावसक्ता, कण्ठालिङ्गनतत्परेति यावत् । नो, न भवतीत्यर्थः । तेषां यूनामायामा अत्यन्तदीर्घा यामाः प्रहरा यस्याः सा । विरहवेदनावशात्तथाप्रतीयमानयामेत्यर्थः । यामिनी रजनी । यमसदनसमा यमलोककल्पा, दुरन्तदुःखावहेत्यर्थः । याति गच्छति । तदानीमङ्गनाल्लवालङ्गनमन्तरेण दुरन्तविरहवेहनामहानद्यास्तरितुमशक्यत्वादिति भावः । 'द्वौ यामप्रहरौ समौ', 'रजनी यामिनी तमी' इति चामरः । अनुप्रासोपमयोः शब्दार्थालंकारयोः संसृष्टिः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ९८ ॥

अथ द्वाभ्यां शिशिरर्तु वर्णयन्निगमयति—

चुम्बन्तो गण्डभिर्त्तीरलकवति मुखे सीत्कृतान्यादधाना

वक्षःसूक्तश्रुकेषु स्तनभरपुलकोद्भेदमापादयन्तः ।

ऊरुनाकम्पयन्तः पृथुजघनतटात्संसयन्तौऽशुकानि

व्यक्तं कान्ताजनानां विटचरितभृतः शैशिरा वान्ति वाताः ॥ ९९ ॥

कान्ताजनानां गण्डा भित्तय इव ता गण्डभिर्त्तीः कपोलस्थलीः चुम्बन्तः । 'स्तननयनकपोलांश्चुम्बनस्थानमाहुः' इति रतिरहस्योक्तेरिति भावः । अत एव अलकवति विश्लेषणवशाच्चूर्णकुन्तलालंकृते मुखे । 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' इत्यमरः । सीत्कृतानि सीत्कारः । सीदित्यनुकरणशब्दः । आदधानाः कुर्वाणाः, उत्पादयन्त इत्यर्थः । वक्षःसु उरःस्थलीषु उत्कश्रुकेषु उद्गन्धिर्कूर्पासकेषु सत्स्वपि स्तनभरेषु पुलकोद्भेदं रोमाञ्च-

प्रादुर्भावं आपादयन्त इति सार्विकोक्तिः । ऊरुन् सक्थीनि आकम्पयन्तः प्रचालयन्तः । पृथु विशालं यजघनतटं जघनप्रदेशस्तस्मादंशुकानि, परिधानांशुकग्रन्थिनीत्यर्थः । संसयन्तो विश्लथयन्तः । अत एव व्यक्तं स्फुटं विटानां पाल्लविकानामिव चरितानि कृत्यानि बिभ्रतीति तथोक्ताः शिशिरस्यैते शैशिराः शिशिरर्तुसंबन्धिनः । 'तस्येदम्' इत्यण् । वाता वान्ति संचरन्ति । विटसाधारणविशेषणविशिष्टत्वाद्वातानां तच्चरितभरणं युक्तमिति भावः । तदुक्तं रतिरहस्ये—'अलकचुबुकगण्डं नासिकाग्रं च चुम्बन् पुनरुप-
हितसीत्कं तालु जिह्वां च भूयः । भरितलिखितनाभीमूलवक्षोरुहोरु श्लथयति धृतधैर्यः
श्लथयित्वाथ नीवीम् ॥' इति । अत्र विटचरितभृत इत्युपमालंकारः । स च व्यक्त-
मित्यनेनाभिव्यञ्जितोत्प्रेक्षयाङ्गेन संकीर्यत इति संक्षेपः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ९९ ॥

केशानाकुलयन् दृशो मुकुलयन् वासो बलादाक्षिपन्

आतन्वन् पुलकोद्गमं प्रकटयन्नावेगकम्पं शनैः ।

वारवारमुदारसीत्कृतकृतो दन्तच्छदान्पीडयन्

प्रायः शैशिर एष संप्रति मरुत्कान्तासु कान्तायते ॥ १०० ॥

केशाञ्शिरोरुहानाकुलयन्व्याकुलीकुर्वन् । एकत्र विश्लेषणात्, अन्यत्र केलिसंरम्भाच्चेति भावः । दृशो मुकुलयन्निमीलयन् । एकत्र पुरुषस्पर्शवशात्, अपरत्र सुखपार-
वश्याच्चेति । वासो जघनांशुकं बलात् प्रसह्य आक्षिपन् आकर्षन् । एकत्र वेगवशात्, अपरत्र संभोगेच्छया चेति भावः । पुलकोद्गमं रोमाञ्चं आतन्वन् उत्पादयन् । एकत्र शीतलस्पर्शात्, अन्यत्र शृङ्गारोद्बोधकत्वाच्चेति भावः । आवेगेनोद्वेगेन यः कम्पो गात्रवेपथुस्तं शनैः प्रकटयन् मन्दं अभिव्यञ्जयन् इति विशेषणद्वयेन सार्विकोक्तिः । उदाराणि मनोज्ञानि सीत्कृतानि कुर्वन्तीति तथोक्तान् । छाद्यन्ते एभिरिति छदाः । 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति घप्रत्ययः । 'छादेर्घेऽब्युपसर्गस्य' इति ह्रस्वः । दन्तानां छदास्तानधरोष्ठान् वारंवारं पुनः पुनः पीडयन् । एकत्र शैल्यातिशयेन, अन्यत्र दन्त-
क्षतेन च व्यथयन्नित्यर्थः । एषोऽयं शैशिरो मरुत् शिशिरमरुतः । संप्रति इदानीं शिशिरतौ प्रायः भूम्ना कान्तासु कामिनीषु विषये कान्तायते । 'कथाभिः कमनीयाभिः काम्यैर्भोगैश्च सर्वदा । उपचारैश्च रमयेद्यः स कान्त इतीरितः ॥' इत्युक्तलक्षणः कान्त इवाचरति । उक्तविशेषणैः कान्तसादृश्यलाभात्स इव वर्तत इत्यर्थः । 'उपमाना-
दाचारे' इति क्यङ् । 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' । अत एवोपमा । सा च प्रायःशब्दाभि-
व्यञ्जितोत्प्रेक्षया संकीर्यते । तदुक्तमाचार्यदण्डिना—'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नून-
मित्येवमादिभिः । उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥' इति । शार्दूल-
विक्रीडितं वृत्तम् ॥ १०० ॥

इति शृङ्गारशतकव्याख्याने ऋतुवर्णनं नाम पञ्चमी विंशतिः ।

इति सुभाषितत्रिशत्यां शृङ्गारशतकं संपूर्णम् ।

३. वैराग्यशतकम् ।

अथ तृष्णादूषणम् ।

चूडोत्तंसितचन्द्रचारुकलिकाचञ्चच्छिखाभास्वरो
लीलादग्धविलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन् ।

अन्तःस्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राग्भारमुच्चाटयं-

श्वेतःसद्गनि योगिनां विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः ॥ १ ॥

चूडोत्तंसितस्य शिरोभूषणीकृतस्य चन्द्रस्य चारुकलिकया मनोहरकोरकयेव चञ्चच्छि-
खया प्रकाशमानाग्रेण भास्वरः प्रकाशमानः । विलोलश्चञ्चलः लीलया विलासेन काम
एव शलभः स दग्धो येन । श्रेयसां शुभानां दशासु अवस्थासु अग्रे पुरः स्फुरन्
प्रकाशमानः । अन्तः अन्तर्मनसि स्फूर्जतः विजृम्भमाणस्य अपारस्य अनन्तस्य
मोहतिमिरस्य प्राग्भारं गुरुं प्राक्प्रदेशं उच्चाटयन् निरस्यन् । ज्ञानप्रदीपः ज्ञानप्रकाशकः
हरः भक्तानां ज्ञानाज्ञानकृतमानसिकवाचिककायिकपापहारी भगवान् साम्बशिवः
योगिनां सनकादीनां चेतःसद्गनि मनस्येव गृहे विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते । प्रथमतः
चूडोत्तंसितेति वाक्ये चन्द्रपदग्रहणाद्भक्तानां तापहारीत्यर्थो लभ्यते । लीलादग्धेति वाक्ये
कामशलभपदग्रहणान्महाशत्रुसंहारीति लभ्यते । अन्तःस्फूर्जदिति वाक्ये मोहतिमिर-
पदग्रहणात् यथा उदितः सूर्यः सर्वतिमिराणि नाशयति, तथा अयमपि अज्ञाननाशं
करोतीति । चेतःसद्गनीति वाक्ये ज्ञानदीपपदग्रहणात्कामक्रोधादिपङ्कजहितनिर्मलचि-
त्तानां निःसङ्गानां योगिनां चेतसि यथा वर्तते तथा भक्तानां सर्वाज्ञाननाशनं कुर्वन्
ज्ञानप्रदीपो हरो विजयत इत्यभिप्रायः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

अथ रागस्य तृष्णामूलकत्वात् तद्गर्हणं विना न वैराग्यसिद्धिरित्यभिप्रेत्य तत्सि-
द्ध्यर्थमादौ तावत्तत्परिपन्थिभूतां तृष्णां दूषयति 'भ्रान्तं-' इत्यादिनवभिः श्लोकैः ।
तत्र प्रथमं स्वकर्मकष्टनिवेदनपूर्वकं तृष्णां संबोध्य त्रिभिर्दूषयति—

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित्फलं

त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला ।

भुक्तं मानविवर्जितं परगृहेष्वाशङ्क्या काकव-

नृष्णे ! जृम्भसि पापकर्मपिशुने नाद्यापि संतुष्यसि ॥ २ ॥

अनेकैः बहुभिः दुर्गैः पार्वतवार्क्षजलदुर्गादिभिः विषमं विकटम्. दुःसंचार-
मित्यर्थः । देशं भ्रान्तं संचरितम् । तथापि किञ्चिदल्पमपि फलं धनं न प्राप्तं न लब्धम् ।
बहुफलापेक्षयैव दुर्गमेषु देशे संचारः कृतः, फलं त्वीषदपि न प्राप्तमित्यर्थः । अत्र
देशशब्दस्य नपुंसकत्वं निघण्ट्वन्तरेषु श्रूयम् । यद्वा देशमुद्दिश्य भ्रान्तम् । भावे
क्तः । अथवा 'नीवृज्जनपदौ देशविषयौ' इत्यभिधानात् पुंलिङ्गस्यापि देशशब्दस्य
नपुंसकत्वसंबन्ध(?)मनुवर्तते इति भाष्यकारप्रयोगादिष्यते । तथा उचितं अनुरूपं
जातिकुलयोः जातिः ब्राह्मणत्वादिः, कुलं सद्गंशः, तयोः अभिमानम् । इति सापेक्ष-

त्वेऽपि गमकत्वात्समासः । त्यक्त्वापि विसृज्य निष्फला फलशून्या सेवा परिचर्या कृता, धनाढ्यानामिति शेषः । उभयत्रापि कष्टमेवावशिष्टम्, न त्वन्यत्किञ्चिदपीत्यर्थः । 'लाभनिष्पत्तियोगेषु बले शल्ये फले धनम्' इति वैजयन्ती । तथा मानविवर्जितं अभिमानशून्यं यथा तथा । बहुमानविहीनमिति वा । आशङ्कया आकाङ्क्षया, लोलुपत्वेनेति यावत् । परगृहेषु काकेन बलिभुजा तुल्यं काकवत् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः । भुक्तम् । अभिमानत्यागेऽपि न बहुमानपूर्वकम्, किंतु सावमानमेव दत्तं परान्नपिण्ड अभ्यवहृतमित्यर्थः । तथापि पापकर्मणां पापात्मनां पिशुने सूचके येषां तृष्णा, अत एव पापिष्ठा इति भावः । यद्वा पापकर्मणां दुष्कर्मणां पिशुने प्रवर्तके इत्यर्थः । एतद्व्यतिरेकेण दुष्कर्मप्रवर्तकान्तराभावादिति भावः । हे तृष्णे विषयस्पृहे! जृम्भसि प्रवृद्धा भवसि । किं त्वद्यापि, ईदृक्कष्टकर्मप्रवर्तनदशायामपीति भावः । न संतुष्यसि संतुष्टा न भवसि । विरतिं न प्राप्नोषीत्यर्थः । इतः परमपि किञ्चिद्दुष्टकर्म कारयितुं अपेक्षास्तीवेति प्रतिभातीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २ ॥

उत्खातं निधिःशङ्कया क्षितितलं धमाता गिरेर्धातवो

निस्तीर्णः सरितांपतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः ।

मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः

प्राप्तः काण्वराटकःऽपि न मया तृष्णे ! सकामा भव ॥ ३ ॥

निधिःशङ्कया निक्षेपोऽत्र तिष्ठतीति भ्रान्त्या क्षितितलं किञ्चिदिष्टकादिनिश्चितभूतलं उत्खातं अवदारितम्, तत्र न किञ्चिल्लब्धमित्यर्थः । तथा गिरेर्धातवः मनःशिलायाः धमाताः, सुवर्णभावं प्राप्स्यतीति धिया अग्नौ मृषायां समूलिकाविशेषं निक्षिप्य यावत्प्राणलवोत्करैः संतापिता इत्यर्थः । तदपि न किञ्चिज्जातमिति भावः । 'ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः' इत्यस्माद्धातोः कर्मणि क्तः । 'धातुर्मेनःशिलाद्यद्रेः' इत्यमरः । अत्राप्युक्तम्—'सुवर्णरूप्यताम्राश्महरितालमनःशिलाः । गैरिकाञ्जनकाश्मीरलोहसीसाश्च हिङ्गुलाः ॥ गन्धकाभ्रकमित्याद्या धातवो गिरिसंभवाः' इति । अत्र सुवर्णरूप्यव्यतिरेकेणैव योज्यम् । अन्यथा प्रकृतासंगतेरिति । तथा सरितांपतिः समुद्रः निस्तीर्णः । द्वीपान्तरेषु वाणिज्येन बहुधनं संपादयिष्यामीति सांयान्निकभावेन विलङ्घित इत्यर्थः । नृपतयो राजानश्च यत्नेन छन्दानुवर्तनरूपयत्नेन संतोषिताः । तथा मन्त्राराधनतत्परेण मन्त्रजपतात्पर्यवता मनसा हेतुना श्मशाने प्रेतभूमौ निशा रात्रयो नीताः । भूतप्रेतपिशाचादिभ्यो भयमविगणय्य निध्यादिप्रदर्शकदेवताभिमुखीकरणसाधनमन्त्रजपतात्पर्येण निशासु श्मशाने स्थितमित्यर्थः । तथापि मया काण्वराटकः अन्धकपर्दो न प्राप्तः, धनं तु दूरापास्तमिति भावः । 'कपर्दश्च वराटकः' इति हलायुधः । अतः तृष्णे ! सकामा सफलमनोरथा भव । त्वत्प्रतिज्ञातार्थनिष्पत्तेः सिद्धसंकल्पा भवेत्यर्थः । इत्थमनर्थहेतुभूतया तृष्णया वृथाव्यापारजनितश्रम एवावशिष्टो न वाञ्छितलाभ इत्यतस्तदुन्मूलने यत्नः कर्तव्य इति भावः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ३ ॥

खलालापाः सोढाः कथमपि तदाराधनपरै-

निगृह्यान्तर्बाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा ।

कृतो वित्तस्तम्भप्रतिहतधियामञ्जलिरपि

त्वमाशे ! मोघाशे ! किमपरमतो नर्तयसि माम् ॥ ४ ॥

खलानां दुर्जनानां आलापाः दुर्भाषितानि तदाराधनपरैः तत्सेवात्परैः । अस्माभिरिति शेषः । कथमपि अतिकृच्छ्रेण सोढाः क्षान्ताः । अन्यथाभावे कार्यभङ्गो भवेदिति भावः । तथा अन्तः अभ्यन्तर एव बाष्पं तदालापश्रवणजनिताश्रु निगृह्य नियम्य शून्येन निरुत्सुकेन मनसा उपलक्षितैः, निर्भिन्नान्तःकरणैरित्यर्थः । हसितम्, हासोऽपि कृत इति शेषः । कर्तरि क्तः । दुरालापैराक्षिप्ता अपि ते संतोषवन्त एव, ननु निर्विण्णाः अतो विश्वसनीय इति बुद्ध्युत्पादनार्थं निर्विषयमित्याहासोऽपि विरचित इत्यर्थः । तथा वित्तेन धनेन यः स्तम्भो जडीभावः तेन प्रतिहता मूढा । विवेकशून्येति यावत् । धीर्येषां तेषाम् । धनदुर्मदान्धानामित्यर्थः । 'स्तम्भौ स्थूणाजडीभावौ' इत्यमरः । अञ्जलिरपि कृतः प्रह्वीभावोऽपि विहितः । तथापि न किञ्चिद्बन्धमिति भावः । अतः मोघाशे व्यर्थमनोरथे आशे तृष्णे । 'आशा तृष्णादिशोः प्रोक्ता' इति विश्वः । त्वं मामतोऽस्मात् खलालापसहनादिकृत्यात् अपरं इतरत् किं कार्यं नर्तयसि नाटयसि ? मया किं कार्यं कारयसीति यावत् । न किमपीत्यर्थः । नाटयितव्यार्थस्य वैयर्थ्यादिति भावः । ननु पूर्वश्लोके मयेत्येकवचनं प्रयुक्तम् । अत्र तु तदाराधनपरैरिति बहुवचनत्वम् । कथमेतत्समञ्जसमिति चेत्, -सत्यम्; तृष्णोपहतानां बहुत्वात्तत्प्रयुक्ततत्तत्कर्मकर्तृभेदेन क्वचिदेकवचनं क्वचिद्बहुवचनं च विवक्षितमित्यवधेयम् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४ ॥

अथ तृष्णादुर्विलसितेनैव महदनुचितमप्याचरितमित्याह—

अमीषां प्राणानां तुलितविसिनीपत्रपयसां

कृते किं नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम् ।

यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिःसंज्ञमनसां

कृतं मानव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि ॥ ५ ॥

किञ्च तुलितानि समीकृतानि विसिनीपत्रपयांसि येषां तेषां नलिनीदलगतजललव-तरलानाम्, अतिभङ्गुराणामित्यर्थः । अमीषां अविश्वसनीयानां प्राणानां कृते, एतत्प्राणत्राणार्थमित्यर्थः । 'अर्थेकृतेशब्दौ द्वौ तादर्थ्येऽव्ययसंज्ञितौ' इति वचनात् । विगलितः भ्रष्टः विवेकः कर्तव्याकर्तव्यविचारो येषां तैरस्माभिः दुष्कर्म न व्यवसितं नोद्युक्तम्, सर्वमपि व्यवसितमेवेत्यर्थः । कुतः ? । यत् यस्मात्कारणात् द्रविणमदेन धनमदेन निःसंज्ञानि स्तब्धानि मनांसि येषां तेषां विमर्शशून्यान्तःकरणानां आढ्यानां धनिकानाम् । 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी' इत्यमरः । अग्रे पुरस्तात् मानव्रीडैः निर्लजैः अस्माभिः निजगुणकथापातकं स्वकीयविद्याविनयादिगुणप्रशंसारूपपापमपि कृतम्, तच्च निषिद्धम् । 'आत्मप्रशंसां परगर्हणमिव वर्जयेत्' इत्यापस्तम्बस्मरणात् । 'आत्मप्रशंसा मरणं परनिन्दा तथैव च' इति वचनादात्मगुणप्रशंसैवात्मोपघातः । तस्य च निरय-

प्रापकत्वेन पातकत्वं च । निजगुणप्रख्यापनेन धनं संपाद्य तेन प्राणान् संतर्पयिष्याम
इत्याशयेनेदृशानुचितमाचरितम्, तथापि न तल्लब्धमित्यपिशब्दार्थः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अथ यद्यप्युचितमेवाचरितम्, तथापि तस्यायथातथ्यान्न फलोपधायकम-
भूदित्याह—

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः

सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा न तप्तं तपः ।

ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शंभोः पदं

तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः ॥ ६ ॥

सख्येवमपि परिभवहेतौ मनसोऽनुद्वेगः क्षमा तथा न क्षान्तं न सोढम्, अव-
मानादिकमिति शेषः । किंत्वशक्ततथैवेति भावः । तथा गृहे उचितं युक्तं यत्सुखं
सिष्टाश्चभोजनकलत्रसंभोगादिजनितानन्दादि तच्च संतोषतः किमनेन तुच्छेनेति परि-
तोषाच्च त्यक्तम्, किंत्वसंभावितब्रह्मचर्येणैवेति भावः । तथा दुःसहाः सोढुमशक्या ये
शीतवाततपनैः क्लेशाः दुःखानि ते सोढाः क्षान्ताः, देहयात्रार्थं देशान्तरसंचारे
तेषामनुभूतत्वादिति भावः । तपश्चान्द्रायणादिकं तु न तप्तं न चरितम् । तथा निय-
मितप्राणैः अन्तःप्रत्याहृतप्राणैः अस्माभिः अहश्च निशा च अहर्निशं अहोरात्रम् ।
'अचतुर-' इत्यादिना निपातनात्साधुः । वित्तं ध्यातं चिन्तितम् । शंभोः पदं न ध्यातम् ।
अतो मुनिभिर्यद्यत्कर्म कृतं अवमानसहनादिकमाचरितं तत्तदेव कर्म अस्माभिश्च कृतम्,
किंतु तैस्तैः तत्तत्कर्मनियतैः फलैर्वञ्चिताः वर्जिताः, तेषामयथाचरणेन वैगुण्यात्फल-
भाजो न जाता इत्यर्थः । क्षान्त्यादिनैव यद्यपमानादिकं क्षान्तं स्यात्तर्हि फललाभो
भवेदेव, नतु तदाचरितम् । अयं चानर्थस्तृष्णादुर्विलसितमूल एवेति फलितार्थः ।
शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

अथ त्रिभिर्जरादूषणद्वारा तृष्णां निन्दति—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-

स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।

कालो न यातो वयमेव याता-

स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥ ७ ॥

भोगा इति । भुज्यन्त इति भोगाः स्वचन्दनादिविषया न भुक्ताः नानुभूताः,
किंतु वयमेव भुक्ताः तत्प्राप्त्यर्थं दुरन्तचिन्तया ग्रस्ताः । तथा तपः व्रतोपवासादिपुण्यं
न तप्तं नाचरितम्, किंतु वयमेव तप्ता आध्यात्मिकादितापत्रयेण संतापिताः । तथा
कालो न यातः न गतः तस्याखण्डदण्डायमानत्वेन यानासंभवादिति भावः । किंतु
वयमेव याताः । जीवितावधिकालमुल्लङ्घ्यावसानं प्राप्ता इत्यर्थः । अथवा कालो न यातः
सदाचारसज्जनसहवासादिना न गतः । तथा चेच्छ्रेयो भवेदेवेति भावः । किंतु वयमेव
याताः, देहगेहादियोगक्षेममानुसंधानलम्पटत्वेन कालमतिक्रम्य गता इत्यर्थः । तथा
तृष्णा न जीर्णा न शिथिला, तच्छैथिल्यहेतोरनुपस्थितत्वादिति भावः । किंतु वयमेव

जीर्णाः, तृष्णासहकृतजरया शिथिलाङ्गा जाता इत्यर्थः । अतः इतः परं वा क्षिप्रं खट्वाङ्गेनैव तृष्णोन्मूलनहेतुः संपादनीय इति भावः । इन्द्रोपेन्द्रवज्रालक्षणश्रवणादु-
पजातिवृत्तम् ॥ ७ ॥

वलीभिर्मुखमाक्रान्तं पलितेनाङ्कितं शिरः ।

गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥ ८ ॥

वलीभिर्जराविश्वचर्मरेखाभिः मुखं वक्त्रं आक्रान्तम्, वैरूप्यं प्रापितमित्यर्थः ।
पलितेन जरसा शौक्ल्येन शिरो मस्तकं अङ्कितं चिह्नितम्, शिरःकेशादयो धवला जाता
इत्यर्थः । तथा गात्राणि करचरणाद्यवयवाः । अवयवविवाचिनो गात्रशब्दस्यावयवार्थकत्वं
लक्षणया वेदितव्यम् । अवयवावयविनोरभेदविवक्षया वा । न च गात्रबाहुल्यविवक्षायां
यथाश्रुतमेव समञ्जसम्; मुखं शिर इत्येकवचनप्रयोगविरोधात् । ननु तत्रापि
जालेकवचनग्रहणे न कोऽपि विरोध इति चेत्किमनेन वक्त्रबन्धप्रयासेनेत्यलमिति प्रसङ्गेन ।
शिथिलायन्ते शिथिलानीवाचरन्ति । जराजर्जरभावविशिष्टसंघिबन्धतया कार्यकरण-
समर्था न जायन्त इत्यर्थः । किंतु एका तृष्णा तरुणायते तरुणैवाचरति । बलिष्ठा
जातेत्यर्थः । जरया सर्वमप्येवं विशकलितं न तृष्णेति महदेतदार्थ्यमिति भावः ।
उभयत्रापि 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति क्यङ् । 'अकृतसार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति दीर्घः ।
श्लोकाख्यमेतदानुष्टुभं वृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ८ ॥

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानोऽपि गलितः

समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।

शनैर्यष्ट्युत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने

अहो मूढः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥ ९ ॥

भोगेच्छा विषयानुस्पृहा निवृत्ता निगता । अत्र जरादूषणामिनिवेशपारवश्येनेत्य-
मुक्तम् । तेन 'तृष्णैका तरुणायते' इत्यविरोधः । पुरुष इति यो बहुमानः सम्मानः
सोऽपि गलितः अपगतः, तत्प्रयोजकपौरुषाद्यपायादिति भावः । यद्वा पुरुषाणां
बहुमानः तत्कर्तृकसन्मानः सोऽपि गलितः । पूर्ववत्पुरुषादिना न बहु मन्यत
इत्यर्थः । इदानीं तादृशगौरवालाभादिति भावः । अथ परेतवान्धवशोचना-
पदेशेन स्वस्यापसदतां सूचयन्नाह—जीवितसमाः प्राणतुल्याः सुहृदो बन्धवश्च
समानाः सबहुमानाः सन्तः सपदि सद्य एव, जरावस्थायाः प्रागेवेत्यर्थः । स्वर्याताः
स्वर्गं गताः निजसुकृतपाकेन पुण्यलोकं गता इत्यर्थः । जरादुर्दशापत्त्या बहुमान-
रहितोऽहं न यातो हीनजीवन इति भावः । यद्वा समानाः सबयसः जीवितसमा
बन्धवश्च सपदि सद्य एव । दुरवस्थापत्तेः पूर्वमेवेति भावः । स्वर्याताः लोकान्तरगताः,
न त्वहमित्यर्थः । 'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशलयाः' इत्यमरः । ननु कंचित्कालं
स्थीयताम्, किमनेनामङ्गलाशंसनेनेत्यत आह—शनैः मन्दं यष्ट्युत्थानं यष्ट्यवष्टम्भने-
नोत्थानम् । प्राप्तमिति शेषः । पादपाटवविघट्टनात्स्वयमुत्थाने संचारे वा शक्ति-
र्नास्तीत्यर्थः । नत्वेतावन्मात्रमेव, किंतु नयने चक्षुषी च । प्रगृह्यत्वादस्य अहो इत्यनेन
संध्यभावः । घनं निबिडं यत्तिमिरं पाटलाख्यनेत्ररोगविशेषो वैद्यशास्त्रप्रसिद्धः । 'तिमिरं

ध्वान्ते नेत्रामयेऽपि च' इति विश्वप्रकाशः । तेन रुद्धे निरुद्धशुद्धप्रसारे, अर्थग्रहणा-
समर्थे जाते इत्यर्थः । अन्धकपङ्कजीवनाद्वरं मरणमेवेति भावः । एतत्सर्वमनर्थजातं
जराकृतमेवेति हृदयम् । तदपि तथापि मूढः ज्ञानहीनः कायो देहः मरणेन योऽपायो
विश्लेषः, नाश इति यावत् । तस्मात् चकितः भीतः । भवतीति शेषः । अत्र देहिधर्मः
तदुपाधौ देहे उपचर्यते । अहो ईदृक्प्रदशायामपि जीविताशैव बलीयसी, न विज्ञानो-
दय इत्याश्चर्यमित्यर्थः । एतदपि तृष्णाविलसितमेवेति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ९ ॥

नन्वेतादृशतृष्णामुल्लङ्घ्य स्वात्मसुखानुभवतत्पराः केचन महान्तः सन्ति किमित्या-
शङ्क्य सन्त्येवेति निगमयन् तस्याः पृथग्जनदुस्तरत्वद्योतनार्थं महानदीत्वं रूपयति—

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला

रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी ।

मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी

तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥ १० ॥

आशेति । मृष्टान्नपानभोजनविचित्राम्बरभूषणधारणषोडशवार्षिककामिनीसंभोगादि-
गोचरमानसव्यापारा मनोरथास्त एव जलानि यस्याः सा तथोक्ता । अप्राप्येष्व-
प्यर्थेषु प्राप्त्यमिलाषविशेषाः तृष्णाः ताभिरेव तरंगैः कल्लोलैः आकुला संकुला ।
अभिमतवस्तुषु स्नेहो रागः । उपलक्षणमेतद्वेषादीनाम् । तथा च रागद्वेषादय एव
ग्राहा नकादयः यस्यां सन्तीति तथोक्ता । तत्तत्पदार्थलाभालाभगोचरा वितर्काः त
एव विहगाः कारणद्वेषादिपक्षिणो यस्यां सा तथोक्ता । 'मनसो निर्विकारत्वं धैर्यं सत्स्वपि
हेतुषु' इत्युक्तलक्षणं धैर्यं तदेव द्रुमः तं ध्वंसयति उन्मूलयतीति तथोक्ता । अज्ञानं
मोहमेव तद्वृत्तयो दम्भदर्पादयो लक्ष्यन्ते । तथा च मोहा अज्ञानवृत्तय एवावर्ता
जलभ्रमाः तैः सुदुस्तरा सुष्ठु तरितुमशक्या अतिगहना । एकत्र दुर्बिभाव्यस्वाभाव्यात्,
अन्यत्र दुरवगाहत्वाच्च इत्थमिति निर्णेतुं न शक्यत इत्यर्थः । इष्टाधिगमजनितध्यानं
चिन्ता । बहुविधत्वेऽपि चिन्तानां तटद्वयरूपणोपयोगार्थं द्वित्वं वक्ष्यते । तथा प्रोत्तुङ्गे
अत्युन्नते चिन्ते एव तटे यस्याः सा तथोक्ता । आशा नाम नैकविधात्यायता तृष्णा ।
'दशावस्था नैकविधात्याशा तृष्णापि चायता' इत्यमरः । नामेति प्रसिद्धौ । आशेति
प्रसिद्धेत्यर्थः । या नदी, वर्तत इति शेषः । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् तस्या आशानद्याः
पारं गताः । ज्ञानलवेनेति भावः । अत एव विशुद्धमनसो निर्मलान्तःकरणा योगीश्वरा
महायोगिनः नन्दन्ति । ब्रह्मानन्दमनुभवन्तीत्यर्थः । अतः सर्वदा तृष्णातरणो-
पायोऽन्वेषणीयः श्रेयस्कामेनेति भावः । अत्र प्रवाहरूपेणाविच्छिन्नत्वसाम्यदशायां
नदीत्वम्, प्रतिकृतिस्वरूपनिरूप्यत्वसर्वतोमुखसंभ्रमत्वादिसादृश्यान्मनोरथेषु जलत्वम्,
मज्जनोन्मज्जनपारम्पर्येण विरामाभावसाधर्म्यात्तृष्णासु तरङ्गत्वम्, दुष्टस्वाभाव्येन
ग्रहिण्युत्पत्त्याद्रागादिषु ग्राहत्वम्, नानाविधगतिमत्त्वसादृश्याद्वितर्केषु विहगत्वम्,
स्थिरतरत्वस्वाभाव्याद्धैर्यं द्रुमत्वम्, निरन्तरं दुरन्तभ्रामकत्वसाधर्म्यान्मोहेषु आवर्त-
त्वम्, अगाधभावद्योतकत्वसारूप्याच्चिन्तासु तटत्वं च रूपितमित्यवगन्तव्यम् । अत एव
समस्तवस्तुवर्तिसावयवरूपकालंकारः । वृत्तमुक्तम् ॥ १० ॥

इति वैराग्यशतकव्याख्याने तृष्णादूषणं नाम प्रथमं दशकम् ।

अथ विषयपरित्यागविडम्बना ।

यदुक्तं योगिनस्तृष्णानदीं तीर्त्वा नन्दन्ति, तत्र विषयपरित्यागमन्तरा तदसंभवादथ विषयपरित्यागविडम्बनोच्यते—अथेति । अथ तृष्णादूषणानन्तरं विषयाणां रूपादीनाम् । 'रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी' इत्यमरः । यद्वा स्रक्चन्दनवनितादिभोग्यवस्तूनां परित्यागः संन्यासः, तस्य विडम्बना अनुकरणम्, अमिनय इति यावत् । उद्यत इति शेषः । तत्प्रकारमेवाह दशभिः—

न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं

विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ।

महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया

महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ॥ ११ ॥

संसारे अनादिभवपरम्परायां उत्पन्नं उदितम् । फलोद्देशेनानुष्ठितमिति यावत् । चरितं पुण्याचरणम् । 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' इति कर्तरि क्तः । कुशलं क्षेमकरं नानुपश्यामि, नानुसंदधामीत्यर्थः । कुत एतद्वैपरीत्यमित्याशङ्क्य तत्राह—विपाक इति । पुण्यानां पुराकृतसुकृतानां विपाकः संपद्रूपपरिपाकः विमृशतः तत्फलं परामृशतः मे मम भयं जनयति उत्पादयति । तत्पर्यालोचने संपदां पुण्यव्ययलभ्यत्वेन विपद्रूपत्वाद्भयजनकमित्यर्थः । अत एवोक्तं कविकुलसार्वभौमेन श्रीहर्षेण—'पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः संपदो विपद एव विमृष्टाः' इति । अथवा पुण्यानां ज्योतिष्टोमादिसत्कर्मणां विपाकः स्वर्गादिरूपफलपरिणामः विमृशतः पूर्वोत्तरं पर्यालोचयतो मे भयं जनयति । 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इति भगवद्वचनात् । यावन्नियतकालं स्वर्गसुखमनुभूय पुण्यक्षये सति पुनर्मर्त्यलोकप्रवेशे महाविषादगर्भनिरयवासजन्मपरम्परादुःखप्रभवत्वाद्भयंकरत्वमित्यर्थः । अतः कुशलं न पश्यामीत्यर्थः । एवं तत्फलभूतानां भोगानामप्यनर्थहेतुत्वमेवेत्याह—महद्भिः भूयिष्ठैः पुण्यौघैः पुण्यसंचयैर्हेतुभिः चिरपरिगृहीताः चिरकालमारभ्य संगृहीता विषयाश्च भोगा अपि विषयिणां विषयासक्तानां व्यसनं विपत्तिम्, दुःखमिति यावत् । दातुमिव दातुमेव । इवशब्दोऽत्रावधारणार्थकः । नतूपेक्षामिव्यञ्जकः । अन्यथार्थान्तरन्यासादिति वेदितव्यम् । महान्तः प्रवृद्धा जायन्ते भवन्ति, व्यसनप्रदानप्रवणैव एतद्बुद्धिः नान्यदानप्रवणेत्यर्थः । एवमैहिकामुष्मिकभोगानामनिष्ठानुबन्धित्वात्तत्त्याग एव श्रेयानिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ११ ॥

अथ सर्वथा विषयाः परित्याज्या इति वक्तुं तेषां व्यवस्थितिमाह—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया

वियोगे को मेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।

व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः

स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥ १२ ॥

विषया भोगाः चिरतरं बहुकालं उषित्वापि स्थित्वापि । 'वसतिश्चुधोरिदं' इति इडागमः 'वचिखपि—' इत्यादिना संप्रसारणम् । अवश्यं नियतम्, सिद्धमिति यावत् ।

यातारो गन्तारः आगमापायित्वेनास्थिरत्वात् परिचयानादरेण पुरुषं त्यक्त्वा यातार एव । न तु परिचयवशाद्यावज्जीवं स्थातार इत्यर्थः । तदुक्तं भगवता—‘मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः । आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ! ॥’ इति । यातेर्लुप् । अतः वियोगे विषयविरहे को भेदः को वा विशेषः ? । न कोऽपीत्यर्थः । स्वकर्तृकल्याणे वा पुरुषकर्तृकल्याणे वा तस्य जायमानत्वादिति भावः । तथाहि—यत् यस्मात्कारणात् जनो विषयासक्तः पुमान् अमून् विषयान् स्वयं न त्यजति गुणान् गृहीत्वा न विसृजति । स्वयमेव त्यजति चेत्तर्हि तेन कृतार्थो भवतीति भावः । एतेन विषयकर्तृकल्याणे तु न कृतार्थत्वमिति सूच्यते । ननु कुत एतद्वैषम्यमित्याशङ्क्य तत्र व्यवस्थामाह—स्वातन्त्र्यात्, कर्तृत्वात्, स्वाच्छन्द्यादिति यावत् । ‘स्वतन्त्रः कर्ता’ इत्यनुशासनात् । व्रजन्तः पुरुषं विसृजन्तः सन्तः । विषया इति शेषः । मनसः अतुलपरितापाय दुरन्तसंतापाय । भवन्तीति शेषः । अत्यन्तदुःखकारिणो भवन्तीत्यर्थः । स्वयं स्वेन कर्त्रा पुरुषेण त्यक्ताः तुच्छवभावनाया विसृष्टाश्चेत् तर्हि एते विषयाः अनन्तं अपरिच्छिन्नं शमसुखं तृष्णोपशान्तिसुखम्, परमानन्दमिति यावत् । विदधति कुर्वन्ति हिरवधारणे । तदुक्तम्—‘यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् । तृष्णा-शमसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥’ इत्यतोऽनर्थापादकविषयकर्तृकल्याणात्पूर्वमेव स्वयं तत्त्यागतत्परेण भवितव्यं श्रेयस्कामेनेति भावः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ १२ ॥

ननु कीदृशविधाः पुरुषा विषयत्यागसमर्था इत्याकाङ्क्षायां ज्ञानिन एव समर्था न तु मादृशा इत्याह—

ब्रह्मज्ञानविवेकनिर्मलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं

यन्मुञ्चन्त्युपभोगभाञ्जयपि धनान्येकान्ततो निःस्पृहाः ।

संप्राप्तान् पुरा न संप्रति न च प्राप्तौ दृढप्रत्यया-

न्वाञ्छामात्रपरिग्रहानपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम् ॥ १३ ॥

ब्रह्मज्ञानेन यो विवेकः तत्त्वविचारः तेन निर्मला निष्कलङ्का । असंभावनादिरहितेति यावत् । सा धीः येषां ते । ज्ञानवन्त इत्यर्थः । दुष्करं कर्तुमशक्यं कुर्वन्ति अहो इत्याश्चर्यं । किं तदुष्करमित्याह—यद्यस्मात् उपभोगं भजन्तीत्युपभोगभाञ्जि । स्ववचन्दनादिभोगसाधनत्वेनानुभूयमानान्यपीत्यर्थः । धनानि वित्तानि निःस्पृहा निरीहाः सन्तः एकान्ततः नितान्तम्, निरवशेषमिति यावत् । मुञ्चन्ति विसृजन्ति, इदमेवातिदुष्करमत्यन्ताश्चर्यं चेत्यर्थः । वयं अस्मद्विधा अज्ञानिनस्तु पुरा पुरातनकाले न संप्राप्तान् नाधिगतान् संप्रति इदानीं वर्तमानकालेऽपि प्राप्तौ वा भविष्यत्काल-लामेऽपि वा न दृढप्रत्ययान् न दृढविश्वासान्, अविश्वसनीयानिति यावत् । काल-त्रयेऽप्यसंभाव्यमानत्वादित्यर्थः । ‘प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु’ इत्यमरः । किंतु वाञ्छामात्रपरिग्रहान् मनोरथमात्रसंगृहीतान्, मनोव्यापारमात्रगोचरीकृतान-पीत्यर्थः । अनुभूयमानास्तु किमुतेति भावः । विषयानिति शेषः । त्यक्तुं परं अत्यन्तं न शक्ताः असमर्थाः । अतस्त एव धन्या इति भावः । ‘शकधृष—’ इत्यादिना तुमुन् । विषयपरित्यागे ब्रह्मज्ञानमेव मुख्यसाधनम्, अतस्तत्संपादनेन तत्परित्यागोऽवश्यं कर्तव्य इति फलितार्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १३ ॥

उक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता-

मानन्दाश्रुकणान्पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः ।

अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-

क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते ॥ १४ ॥

गिरिकन्दरेषु गिरिगह्वरेषु । 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः । वसतां विविक्ततया वर्तमानानाम् । 'विविक्तसेवी लघ्वाशी' इति वचनादिति भावः । तथा परं ज्योतिः परं ब्रह्म ध्यायतां धन्यानां पुण्यशालिनाम् । 'सुकृती पुण्यवान्धन्यः' इत्यमरः । आनन्देन ये अश्रुकणाः बाष्पविन्दवः तान् निःशङ्कं तेषां तपःप्रशान्तत्वान्निर्भयं यथा तथा । अङ्के शेरत इत्यङ्केशया उत्सङ्गवर्तिनः । 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः । शकुनाः पक्षिणः पिबन्ति, किंतु मनोरथेन वाञ्छामात्रेण उपरचिताः याः प्रासादेषु हर्म्येषु वापीतटेषु अल्पसरस्तीरेषु क्रीडाकाननेषु उद्यानेषु च केलयो विहाराः तासु कौतुकजुषां औत्सुक्यभाजां अस्माकं आयुः परं आयुरेव क्षीयते नश्यति । दुर्लभविषयचिन्तातत्परैः वृथा कालो यापितः, न तु तद्ब्रह्मज्ञानं संपादितम्, अतो वयमपि तथा न धन्या इति भावः ॥ १४ ॥

अथ कस्यचिद्विषयाभिभूतस्य निर्वेदनवचनमस्मिनीयाह—

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं

शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ।

वस्त्रं विशीर्णशतखण्डमयी च कन्था

हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति ॥ १५ ॥

भिक्षा, भैक्षमित्यर्थः । अशनं आहारः । तदपि भिक्षान्नाशनमपि नीरसं मधुरा-
म्लादिरसहीनम् । तदप्येकवारम्, न तु द्वित्रिवारमित्यर्थः । शय्या शयनीयं च भूः ।
साऽप्यास्तरणादिरहितेति भावः । परिजनः सेवकजनः निजदेहमात्रं स्वस्य स्वयमेव
परिजनः, नतु कश्चिदन्योऽस्तीत्यर्थः । वस्त्रं आच्छादनं च विशीर्णां शतखण्डमयी
विशेषेण जीर्णा एकचीवरशकलनिर्मिता कन्था । तथापि ईदृक्कष्टदशायामपि विषयाः
भोगवाञ्छाः न परित्यजन्ति न विसृजन्ति, मामिति शेषः । हा हेति विषादविस्मयाति-
शयाभिनिवेदनार्था द्विरुक्तिः । पापिष्ठा इमे विषया हतमेव घ्नन्तीति भावः । अत्र
विषयपरित्यागकारणसामग्र्यां सत्यां कार्यानुदयाद्विशेषोक्तिरलंकारः;—'तत्सामग्र्याम-
नुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते' इति लक्षणात् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १५ ॥

अथ विषयाणां कामिनीप्राधान्यात्तदूषणाभावे तत्परित्यागो न सुकर इति मनसि
निधाय तां दूषयति—

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ

मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ।

स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरशिरःस्पर्धि जघनं

मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥ १६ ॥

स्तनौ कुचौ मांसग्रन्थी मांसपिण्डौ, तथापि कनककलशाविति अनर्घ्यहीरमय-
कुम्भाविति उपमितौ । उपमाविषयीकृतकनककलशकल्पत्वेनोपवर्णितावित्यर्थः । मुखं
वक्त्रं तु श्लेष्मागारं कफलालादन्तमलादिस्थानम्, तदपि शशाङ्केन सुधारसमयेन
चन्द्रेण तुलितं समीकृतम्, तत्तुल्यत्वेनोपवर्णितमित्यर्थः । अत्र तुलितशब्दस्य सादृश्य-
वाचित्वात्तद्योगेऽपि न 'तुल्याधैरतुलोपमाभ्याम्-' इति तृतीयाप्रतिषेधः । अत्र सूत्रे
सदृशवाचिन एव ग्रहणादिति । जघनं कटिपुरोभागस्तु । 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे
तु जघनं पुरः' इत्यमरः । स्रवता मदनसदनदाढ्याभावाद्भवता सूत्रेण क्लृप्तं आर्द्रम्,
अपवित्रमित्यर्थः । तदपि करिवरशिरःस्पर्धि मदजलपरिष्कृतिश्लाघ्यगजेन्द्रकुम्भस्थल-
सदृशमित्युपवर्णितमिति भावः । अतः मुहुः पौनःपुन्येन निन्द्यं ग्रन्थ्याद्याकारेण
जुगुप्स्यं रूपं स्तनाद्यवयवस्वरूपम्, कामिन्या इति शेषः । कविजनविशेषैः तत्तद्विशेष-
कल्पनाजालचतुरकवीश्वरैः गुरु कृतं कनककलशादिसादृश्यवर्णनेन श्रेष्ठीकृतम् । कविजन-
वाङ्मात्रसारमेवैतद्रूपम्, न तु स्वतःसिद्धसारवदिति भावः । अत्र मांसग्रन्थित्वेन
स्तनयोः मर्दनानर्हत्वम्, श्लेष्मागारत्वेन मुखस्य चुम्बनाद्ययोग्यत्वम्, स्रवन्मूत्रक्लिञ्ज-
त्वेन जघनस्य हेयतया संभोगापात्रत्वं च सूचितम् । एतत्कृत एव कामिनीनां संभोगा-
स्पदत्वेनाभिमतम् । इदमेवेत्थं जुगुप्सितत्वेन दूषितं चेत्तर्हि किमन्यत्कामिन्यां भोग-
योग्यमस्तीति श्लोकतात्पर्यम् । तदुक्तम्—'हासोऽस्थिसंदर्शनमक्षियुग्ममत्युज्ज्वलं तत्क-
लुपं वसायाः । स्तनौ च पीनौ पिशितास्रपिण्डौ स्थानान्तरे किं नरको न योषित् ॥'
इति । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १६ ॥

अथैकः परमेश्वर एवैकान्ततोऽनुरक्तो विरक्तश्च । अन्यस्तु तथाननुरक्तत्वादविरक्त-
त्वाच्च परिक्लिष्ट एवेत्याह—

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्धहारी हरो

नीरागेषु जनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात्परः ।

दुर्वारस्सरबाणपन्नगविषव्याविद्धमुग्धो जनः

शेषः कामविडम्बितान्न विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः ॥ १७ ॥

प्रियतमायाः पार्वत्या देहस्य शरीरस्य अर्धं अर्धभागम् । 'अर्धं नपुंसकम्' इति
समासः । तद्वरतीति तथोक्तः । महाकामुकतया क्षणमात्रमपि विश्लेषस्यासहिष्णु-
त्वाज्जिज्ज्वलामार्धपरिक्लृप्तप्रियतम इत्यर्थः । 'वामार्धधारी' इति पाठः । एक एव हरो
रागिषु अनुरक्तेषु, कामुकेष्वित्यर्थः । राजते अप्रतिनिधित्वेन प्रकाशते । तादृशका-
मुकान्तरस्यानुपलभ्यमानत्वादिति भावः । तथा नीरागेषु विरक्तेषु अपि विमुक्तः
त्यक्तः ललनासङ्गो योषिदासक्तिर्येन स तथोक्तो जनः वैराग्यपुरुषो यस्माद्धरात् परोऽन्यो
नास्ति । तपश्चरणसमये मदनदहनादिना तादृग्वैराग्यप्रकटनात्तथाविधविरक्तो न
कश्चिदस्तीत्यर्थः । किन्तु दुर्वाराः निवारयितुमशक्याः स्सरबाणा एव पन्नगाः सर्पाः
तेषां विषेण गरलेन तत्सदृशेन व्यामोहेन च व्याविद्धः व्याक्षिप्तः अत एव मुग्धो मूढो
निश्चेष्टश्च शेषः अवशिष्टो जनः कामेन मन्मथेन हेतुना विडम्बितान् अनुकृतान्,
स्वीकृतानिति यावत् । विषयान् स्त्रीसंभोगादीन् भोक्तुं अनुभवितुं वा मोक्तुं त्यक्तुं वा

न क्षमः । तादृगनुरागविरागोत्कर्षाभावात्तथाविधभोगत्यागयोरसमर्थ इत्यर्थः । कर्तुम-
कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः परमेश्वर एक एवानुरक्तेषु विरक्तेषु च परां काष्ठां प्राप्तः ।
तदन्यः सर्वोऽप्युभयग्रष्ट एवेति भावः । स्मरबाणपन्नगेल्यत्र रूपकालंकारः । वृत्तं
शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १७ ॥

अथ विषयदोषपरिज्ञानेऽप्यत्यागे कारणमाह—

अजानन् दाहात्म्यं पततु शलभस्तीव्रदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्वडिशयुतमश्नातु पिशितम् ।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह ! गहनो मोहमहिमा ॥ १८ ॥

शलभः पतङ्गः दह्यतेऽनेनेति दाहः, तस्य आत्मनः स्वभावस्य भावः दाहात्म्यम्,
भस्मीकरणस्वाभाव्यमित्यर्थः । 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इति
विश्वः । अजानन् अनवबुध्यन् तीव्रदहने जाज्वल्यमानाग्नौ पततु प्रविशतु, तत्र
भस्मीभवत्वित्यर्थः । संभावनायां लोट् । तथा स प्रसिद्धो मीनो मत्स्योऽपि अज्ञानात्
आत्मविनाशकारणमेतदित्यविवेकात् वडिशयुतं मत्स्यवेधनसंदानितम्, अयोमयवक्र-
कण्टकाग्रस्यूतमित्यर्थः । पिशितं मांसं अश्नातु भक्षयतु आमिषलोभात् कण्टकलगनेन
गलनिरोधात् सोऽपि म्रियतामित्यर्थः । नात्रानयोरपराधः । नाज्ञानमपराध्यति ।
'पतङ्गमातङ्गकुरङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च' इति च न्यायादिति भावः । 'वडिशं
मत्स्यवेधनम्', 'पिशितं तरसं मांसम्' इति चामरः । किंत्विहास्मिन् लोके विजान-
न्तोऽपि विनिपातहेतव इति विवेकवन्तोऽप्येते वयं विपज्जालैः आपत्परम्पराभिः
जटिलान्ग्रथितान्, उपद्रवहेतून्पीत्यर्थः । पचादित्वान्मत्वर्थीयः अचप्रत्ययः । कामान्
विषयान् न मुञ्चामः न त्यजामः । विषयस्वरूपपरिज्ञानेऽप्यमुञ्चतामस्माकं एवापराध
इति भावः । 'शे मुचादीनाम्' इति जुमागमः । विचार्यमाणे नास्माकमप्यपराधः
प्रबलतरकारणसद्भावादित्याह—मोहस्य अज्ञानस्य महिमा माहात्म्यं गहनो दुर्विज्ञेयः ।
अघटितघटनापटुतराविद्याविलासमहिम्ना लोको जनः अविहितमपि करोति, अतो
नास्माकमपराध इति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १८ ॥

अज्ञानमहिम्नैव सुखाभावेष्वाप्यन्नपानादिविषये सुखबुद्धिं करोतीत्याह—

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं शीतमधुरं
क्षुधार्तः शाल्यन्नं कवलयति मांसादिकलितम् ।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिङ्गति वधूं
प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥ १९ ॥

तृषा तृष्णया आस्ये वक्त्रे शुष्यति शोषं प्राप्नोति सति । शीतं च तन्मधुरं चेति
विशेषणयोरपि मिथो विशेषणविशेष्यभावाविवक्षायाम् 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'
इति समासः । शैल्यगुणयुक्तं संतापहरं चेत्यर्थः । 'शीतलीक्रियते तापो येन तन्मधुरं
स्मृतम्' इति लक्षणात् । यद्वा मधुरं शर्करापानकवन्माधुर्यसंयुक्तं सलिलं उदकं पिबति ।

तथा क्षुधार्तः बुभुक्षापीडितः सन् मांसादिना, मांसघृतपयोदध्यादिव्यञ्जनद्रव्येणेत्यर्थः । कलितं रुचिरम्, स्वादूकृतमित्यर्थः । शाल्यञ्च कवलयति भुङ्क्ते । तथा कामाग्नौ मदनदहने प्रदीप्ते प्रज्वलिते सति, मन्मथोद्रेके सतीत्यर्थः । सुदृढतरं अतिगाढं वधूं स्त्रियं आलिङ्गति आश्लिष्यति । अतः व्याधेः क्षुत्तृष्णादिरूपामयस्य प्रतीकारम् । तदुपशान्तिकरान्नपानालिङ्गनरूपौषधसेवनरूपप्रतिक्रियामित्यर्थः । सुखं भोग इति जनः विपर्यस्यति विपर्यस्तबुद्धिं प्राप्नोति, न तु तत्त्वं जानातीत्यर्थः । अतस्मिंस्तद्ब्रह्मो विपर्यासः—यथा शुक्तौ रजतमिति । अयं च अज्ञानदुर्विलास एवेति भावः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ १९ ॥

एवं तावदज्ञो जनः संसारविषयासक्त्या बद्धो भवति, ज्ञानी तु सर्वसङ्गं परित्यज्य कृतकृत्यो भवतीति निगमयति—

तुङ्गं वेश्म सुतः सतामभिमताः संख्यातिगाः संपदः

कल्याणी दयिता वयश्च नवमित्यज्ञानमूढो जनः ।

मत्वा विश्वमनश्चरं निविशते संसारकारागृहे

संदृश्य क्षणभङ्गुरं तदखिलं धन्यस्तु संन्यस्यति ॥ २० ॥

वेश्म प्रासादादि तुङ्गं उन्नतम् । सुताः पुत्राः सतां साधूनां विदुषां अभिमताः इष्टाः, संप्राप्तविद्याविनयादिगुणा इत्यर्थः । ‘मतिबुद्धि-’ इत्यादिना वर्तमानार्थे क्तः । अत एव ‘क्तस्य च वर्तमाने’ इति षष्ठीविधानात् षष्ठी न समस्यते इति वक्तव्यमिति समासनिषेधः । संपदः धनधान्यादिद्रव्यसमृद्धयः संख्यातिगा असंख्येयाः, अपरिमिता इत्यर्थः । दयिता प्रियतमा कल्याणी आनुकूल्यादिगुणसंपन्ना । तदुक्तम्—‘अनुकूलां विमलाङ्गीं कुलजां कुशलां सुशीलसंपन्नान् । पञ्चलकारां भार्यां पुरुषः पुण्योदयालभते ॥’ वयश्च नवम्, नूतनं यौवनमित्यर्थः । ‘वयः पक्षिणि बाल्यादौ’ इत्यमरः । इत्येवमज्ञानेन मोहेन मूढो विवेकशून्यो जनः विश्वं गृहापत्यवित्तदारादिप्रपञ्चं अनश्चरं शाश्वतं मत्वा आलोच्य संसार एव कारागृहं बन्दिगृहं तत्र निविशते प्रविशति, तदासक्तो भवतीत्यर्थः । न तु तस्यानर्थमूलत्वं जानातीति भावः । ‘नेर्विशः’ इत्यात्मनेपदम् । अतिसंकटतया परमनिर्बन्धहेतुत्वात्संसारस्य कारागृहत्वरूपणम् । ‘कारा स्याद्वन्धनालयः’ इत्यमरः । धन्यस्तु ज्ञानी । तुशब्दः पूर्वस्माद्वैलक्षण्यं द्योतयति । तदेवाह—तदखिलं वेश्माद्यशेषप्रपञ्चं क्षणभङ्गुरमशाश्वतं संदृश्य सम्यगवलोक्य । संपूर्वादृशेः क्त्वा ल्यबादेशः । संन्यस्यति न तत्रासक्तो भवति, किंतु विरक्तो भवतीति भावः । अतः ज्ञानेन सर्वानर्थमूलमज्ञानं निरस्य कृतकृत्येन भवितव्यमिति तात्पर्यम् । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ २० ॥

इति वैराग्यशतकव्याख्याने विषयपरित्यागविडम्बना नाम द्वितीयं दशकम् ।

अथ याज्ञादैर्न्यदूषणम् ।

अथ याज्ञादैर्न्यदूषणमारभते—अत्रायमभिप्रायः—विषयाणां याज्ञादैर्न्यप्रयोजनत्वाद्विषयपरित्यागविडम्बनानन्तर्येणैतत्प्रयोज्य याज्ञाजनितदैर्न्यमपि दूषणीयमेवेति । अतस्तत्प्रसङ्गानन्तरमेतदूषयितुमारभते दीनेत्यादिश्लोकदशकेन—

दीना दीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा
कोशद्भिः क्षुधितैर्निरन्नविधुरा दृश्या न चेद्देहिनी ।

याच्ञाभङ्गभयेन गद्गदगलबुद्ध्यद्विलीनाक्षरं

को देहीति वदेत् स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी पुमान् ॥ २१ ॥

दीना दरिद्रः अत एव दीनानि शोभाहीनानि मुखानि येषां तैः । कुतः ? । कोशद्भिः रुदद्भिः । तत्कुतः ? । क्षुधितैः संजातक्षुधैः, बुभुक्षितैरित्यर्थः । क्षुधाशब्दोऽप्यावन्तः तस्मात् । 'तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्' इतीतच्प्रत्ययः । तारकादिराकृतिगणः । क्षुदिति दकारान्तपक्षे तु क्षुधं प्राप्तैः क्षुधितैः क्षुधातुरैः । कर्तरि क्तः । 'वसतिक्षुधोरिद्' इतीडागमः । शिशुकैः अत्यन्तबालकैः । अल्पाथे कप्रत्ययः । सदा सर्वदैव आकृष्टं अन्नपानादियाच्ञापूर्वकमाक्षिप्तं जीर्णाम्बरं विशीर्णवस्त्रं यस्याः सा तथा । निरन्ना अन्नपानरहिता अत एव विधुरा विह्वला । निरन्ना च सा विधुरा चेति विशेषणसमासः । अन्नाभावात्कृष्टजीवनेत्यर्थः । 'विधुरः प्रत्यवेते स्यात्कृष्टविलिष्टयोरपि' इति विश्वः । गेहिनी गृहिणी दृश्या दृष्टिगोचरा न चेत् न स्याद्यदि तर्हि मनस्वी सुमेधाः धैर्यशाली । प्रशंसायां विनिः । कः पुमान् याच्ञाभङ्गाद्यद्भयं तेन गद्गदो दीनस्वरः । अनुकरणशब्दोऽयम् । यो गलः कण्ठः तत्र बुद्ध्यन्ति शक्लीभवन्ति अत एव विलीनानि अनुच्चारितप्रायाणि अक्षराणि वर्णा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा स्वस्य दग्धः क्षुष्टो यो जठरः उदरं तस्यार्थे, तत्पूरणार्थमित्यर्थः । 'अर्थे कृते च शब्दौ द्वौ तादर्थ्येऽव्ययसंज्ञितौ' इत्यमरः । दग्धशब्दोऽत्र निर्वेदाभिद्योतकः । यथोक्तं सुरेश्वरवार्तिके—'अस्य दग्धोदरस्यार्थे किं न कुर्वन्त्यसांप्रतम्' इति । देहीति वदेत् ब्रूयात् ? न कोऽपीत्यर्थः । तस्याः दृश्यत्वादीदृगवस्थापन्नो भवति, अतोऽनर्थमूलत्वात्तत्परित्यागोऽवश्यं कर्तव्य इति भावः । शार्दूलविक्रीडितम् ॥ २१ ॥

इदानीं दैन्यार्थमूलं जठरं निन्दति—

अभिमतमहामानग्रन्थिप्रभेदपटीयसी

गुरुतरगुणग्रामाम्भोजस्फुटोज्ज्वलचन्द्रिका ।

विपुलविलसलज्जावल्लीवितानकुठारिका

जठरपिठरी दुष्पूरेयं करोति विडम्बनम् ॥ २२ ॥

अभिमतः कीर्तिप्रतिष्ठावहत्वादिष्टः यो महामानग्रन्थिः गरिष्ठाभिमानग्रन्थिः तस्य प्रभेदे विश्लेषणे पटीयसी समर्थतरा । पटुशब्दादीयसुनि 'उगितश्च' इति ङीप् । गुरुतरा अतिशयेन वर्तमाना ये गुणग्रामा गाम्भीर्यधैर्यादिगुणगणाः त एवाम्भोजानि तेषां स्फुटं यथा तथा उज्ज्वलचन्द्रिका पूर्णिमाकौमुदी, तत्संकोचहेतुभूतेत्यर्थः । विस्तृतं यथा तथा विलसत्प्रकाशमानं यल्लज्जावल्लीवितानं व्रीडालताविततितः तस्य कुठारिका परशुः, तदुच्छेदनसाधनभूतेत्यर्थः । दुष्पूरा पूरयितुमशक्या । प्रत्यहमन्नपानादिपूरितापि पर्याप्त्यभावादिति भावः । 'ईषद्दुः-' इत्यादिना खलप्रत्ययः । इयं जठरं उदरमेव पिठरी कुण्डी । 'पिठरः स्थाल्युखा कुण्डम्' इत्यमरः । गौरादित्वात् ङीप् । तथा च कृष्णामृतस्तवे—'जठरपिठरीपूर्तये नर्तितासि' इति । विडम्बनं

याज्जाकरणं करोति । याज्जादैन्यमस्माभिरभिनाटयतीति भावः । एतद्व्यतिरेकेण दैन्य-
कारिणी न काप्यस्तीति भावः । 'वल्लीकठोरकुठारिका' इति पाठे निश्चिततरपरशुरित्यर्थः ।
रूपकालंकारः । हरिणी वृत्तम् ; 'भवति हरिणी न्सौ भ्रौ स्लौ गो रसाम्बुधिविष्टपैः ।
इति लक्षणात् ॥ २२ ॥

अथ मानिनस्तावद्वन्धुयाज्जायाः परमन्यत्र भिक्षाशनतात्पर्येण प्राणधारणमित्याह—

पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालिं कपालिं

ह्यादाय न्यायगर्भद्विजहुतहुतभुग्धूमधूम्रोपकण्ठे ।

द्वारं द्वारं प्रविष्टो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो

मानी प्राणैः सनाथो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः ॥ २३ ॥

न्यायगर्भं मीमांसाशास्त्रोक्तप्रकारगर्भितं यथा तथा । यद्वा नीयन्ते शाप्यन्ते
बुभुक्षितार्था एभिरिति न्याया वेदशास्त्रपुराणादयः ते गर्भे कुक्षौ येषां ते न्याय-
गर्भाः, अधीताखिलविद्या इत्यर्थः । 'कुक्षिभूणार्भका गर्भाः' इत्यमरः । तथाभूता
द्विजा ब्राह्मणाः तैः हुताः आज्यादिहविर्भिः सुतर्पिता ये हुतभुजोऽमयः तेषां धूमेन
धूम्राणि कृष्णलोहितवर्णानि उपकण्ठानि अन्तिकप्रदेशाः यस्य तस्मिन् । 'धूम्रधूमलौ
कृष्णलोहिते', 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इति चामरः । अत एव
पुण्ये पवित्रे महति विपुले च । विशेषणद्वयेन निःसंकोचसंचारार्हत्वं सूच्यते । ग्रामे
अग्रहारे वने अरण्ये वा, तत्रापि वानप्रस्थादीनां विद्यमानत्वादिति भावः । सितपटेन
श्वेतवस्त्रेण छन्ना परेषां दृष्टिगोचरत्वाभावार्थमाच्छादिता । तथा विशिष्टाचारात् ।
पालिः अश्विः यस्यास्ताम् । 'पालिष्यश्वयङ्कपङ्क्तिषु' इति वैजयन्ती । कपालिं भिक्षा-
हरणोचितशरावं आदाय गृहीत्वा क्षुधार्तः क्षुत्पीडितः मानी अभिमानवान्, पुरुष
इति शेषः । उदरमेव दरी गिरिगह्वरं तस्याः पूरणाय, पूर्वार्थमित्यर्थः । तादर्थ्ये
चतुर्थी, अथवा उदरं पूरयितुमित्यर्थः । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी । द्वारं
द्वारं प्रतिद्वारम्, गृहमेधिनामिति शेषः । 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्सायां द्विरुक्तिः ।
प्रविष्टः, भिक्षार्थमित्यर्थः । प्राणैः सनाथः सहितश्चेत् । भिक्षाशनेन प्राणधारण-
तत्परः स्याच्चेदित्यर्थः । वरं मनाक्प्रियम् । 'दैवादृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिये'
इत्यमरः । दिने दिने अनुदिनम्, प्रत्यहमित्यर्थः । यथार्थेऽव्ययीभावः । तुल्यकुल्येषु
समानकुल्येषु समानकुलोद्भवेषु । तन्मध्य इत्यर्थः । दीनः पुनः दैन्यवांश्चेत् । न
वरम् । बन्धुमध्ये याज्जादैन्यनीचजीवनाद्वरं भिक्षाशनेन प्राणधारणम् । 'न बन्धुमध्ये
धनहीनजीवनम्' इति वचनादिति भावः । अत्र यद्यपि 'त्यजन्त्यसून् शर्म च मानिनो
वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम्' इति वचनान्मानिनः सर्वदाऽयाचितत्वमेव
मुख्यव्रतम्, तथापि यदि क्षुधातुरत्वेन याज्जाप्रवृत्तिः स्यात्तदा कुत्रचिदपरिज्ञातदेशे
श्रोत्रियगृहेषु कपालभिक्षान्नभक्षणेनोदरपूरणं कर्तव्यम्, नतु बन्धुजनयाज्जाप्राण-
संकटेऽपि तस्य परमनैच्यावहत्वादिति गूढाभिसंधिः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ २३ ॥

अथ विशिष्टगल्यन्तराभाववितर्कद्वारा दूषयति—

गङ्गातरङ्गकणशीकरशीतलानि

विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।

स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि

यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः ! ॥ २३ ॥

गङ्गातरङ्गाणां भागीरथीकल्लोलानां ये कणा बिन्दवः तेषां शीकरैः प्रालेयप्रायलेशैः । अथवा कणाः स्थूलबिन्दवः, शीकराः सूक्ष्माः, तैः शीतलानि शिशिराणि । 'घनशीकर-' इति वा पाठः । तथा सान्द्रा इत्यर्थः । विद्याधरैः देवयोनिविशेषैः अध्युषितानि अधिष्ठितानि । 'गल्यर्थार्कर्मक-' इत्यादिना वसेः कर्मणि क्तः । 'वचिस्वपि-' इत्यादिना संप्रसारणम् । अत एव चारुणि मनोहराणि शिलातलानि येषु तानि तथोक्तानि । विशेषणद्वयेनैतेन परमपवित्रत्वं च सूच्यते । हिमवतः हिमाद्रेः संबन्धीनि स्थानानि प्रान्तप्रदेशाः प्रलयं गतानि किं नष्टानि किम् । किंशब्दोऽत्र वितर्के । 'कुत्साप्रश्न-वितर्केषु क्षेपे किंशब्द इष्यते' इति शाश्वतः । ननु कुत एवं विद्यमानेष्ववस्थानेषु विनाशो वितर्क्यत इत्याशङ्क्य तत्र कारणमाह—यद्यस्मात्कारणात् मनुष्याः जनाः सावमानेषु याज्ञया तिरस्काराचरणपूर्वकं दत्तेषु परपिण्डेषु पराजेषु रताः आसक्ताः । तादृक्परपिण्डाशनेन प्राणत्राणतत्परा जाता इत्यर्थः । यदि स्थानानि न नश्येरन् तर्हि जना ईदृक्प्रयाज्जातत्परा न भवेरन् । तेषां नष्टत्वादेवेद्गदुरवस्थापन्ना इति कृत्वा एवं वितर्क्यत इति वाक्यार्थः । यद्वा गत्यन्तराभावं प्रश्नद्वारा दूषयति—गङ्गेति । किंशब्दोऽत्र प्रश्ने । नन्वेवं कुतः पृच्छयत इत्यत आह—यस्मात्कारणात् हे मनुष्याः । सावमानपरपिण्डरता यूयम्, जाता इति शेषः । अतः प्रश्नस्यावकाश इति भावः । अन्यत्समानम् । एतेन दुर्भगयाज्जापिशान्चिकामूर्धन्यशानि पातयित्वा गिरिपरिसरेषु सुखेन वर्तितव्यमिति सूचितम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २४ ॥

इदानीं पुनर्जीवनोपायान्तराभावं वितर्कद्वारा दूषयति—

किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः

प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः ।

वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमपगतप्रश्रयाणां खलानां

दुःखाप्तस्वल्पवित्तस्मयपवनवशानर्तितभ्रूलतानि ॥ २५ ॥

कन्दरेभ्यो गुहाभ्यः सकाशात् कन्दाः कन्दमूलादिपदार्थाः, क्षुब्धिवारणक्षमा इति भावः । प्रलयं विनाशम् ? विराममिति यावत् । उपगताः प्राप्ताः किम् । 'जुगुप्साविराम-' इत्यादिना पञ्चमी । एवमुत्तरत्रापि । किंशब्दो वितर्के । तथा गिरिभ्यः सकाशात् निर्झरा वा प्रवाहाश्च वा । उपशमकरा इति भावः । प्रलयमुपगताः किमिति संबन्धः । 'प्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थे च समुच्चये' इति चामरः । तथा तरुभ्यो वृक्षेभ्यः सकाशात् सरसानि माधुर्यरसयुक्तानि फलानि विभ्रतीति तथोक्ता वल्कलिन्यः वल्कलवत्यः । एतेन विशेषणद्वयेन सुभोज्य-वस्तुसमृद्धत्वाच्छादनयोग्यते सूचिते इत्यवगन्तव्यम् । शाखाश्च प्रध्वस्ता वा विनष्टाः किम् । अव्ययानामनेकार्थत्वात् । ननु विद्यमानकन्दमूलादिष्वविद्यमानत्वं कुतो वितर्क्यत इति तत्राह—यत् यस्मात् प्रसभं अत्यन्तं अपगतप्रश्रयाणां विनयशून्यानां खलानां दुरीशानां दुःखाप्तं अतिक्लेशेन प्राप्तं तदपि स्वल्पं यद्विन्नं धनं तेन यः स्मयो गर्वः स एव पवनः स्मयः पवन इव तद्वशादानर्तिताः चालिताः भ्रुव एव लताः

भ्रुवो लता इव च येषां तानि, सविकाराणीत्यर्थः । स्मयपवनेत्यत्र भ्रूलता इत्यत्र च उपमारूपकयोः साधकबाधकप्रमाणाभावात्संदेहसंकरः । मुखानि वीक्ष्यन्ते दृश्यन्ते, याचकजनैरिति शेषः । कन्दमूलादीनां विनष्टत्वादिव जनैर्दुरीश्वरपरिचर्यातत्परैर्भूयते जीवनोपायार्थमतस्तदभाववितर्कस्यावकाश इति भावः । यद्वा जीवनोपायान्तराभाव-प्रश्नद्वारा निन्दति—किं कन्दा इति । किं-वाशब्दौ प्रश्ने । अत एव प्रश्नः क्रियत इत्यत आह—यस्मात्कारणादुर्विनीतदुरीश्वरमुखान्यवलोक्यन्ते युष्माभिस्तस्मादभाव-प्रश्नो युज्यत इति भावः । शेषं समानम् । अत्रायमभिसंधिः—परमनैच्यावहं शास्त्रनिषिद्धं च दुर्विनीतसेवनोपजीवनं परित्यक्तव्यम् । स्वधरा ॥ २५ ॥

अथ खलानां मुखानि दृश्यन्त इत्यनेन सूचितनिन्दां प्रकटयितुं चिरकालदुरीश-सेवापरिच्छिन्नस्य कस्यचिन्निर्वेदवचनमभिनीयाह—

पुण्यैर्मूलफलैस्तथा प्रणयिनीं वृत्तिं कुरुष्व अधुना

भूशय्यां नवपल्लवैरकृपणैरुत्तिष्ठ यावो वनम् ।

क्षुद्राणामविवेकगूढमनसां यत्रेश्वराणां सदा

वित्तव्याधिविकारविह्वलगिरां नामापि न श्रूयते ॥ २६ ॥

अधुना इदानीं पुण्यैः पवित्रैः मूलफलैः मूलैः कन्दमूलैः फलैः कद-लीरसालपनसादिफलैश्च । अपवित्ररक्तमूलककलिङ्गफलादिभक्षणनिषेधस्मरणात्पुण्यै-रित्युक्तम् । तथा अनिर्वाच्यतया । 'प्रिय ! प्रणयिनीम्' इति पाठे हे प्रिय सखे ! इत्यर्थः । प्रणयिनीं परमसुखावहतया प्रियतमाम् । विशिष्टकन्दमूलाद्यदनस्यानशन-प्रायत्वात्तस्यापि तपोनाशनात् परमिति तपःपर्यवसानत्वात्तस्य च तपसा कल्मषं हन्तीति सकलकर्मनिवर्तनद्वारा परसुखावहत्वादिति भावः । वृत्तिं जीविकाम् । 'वृत्ति-वर्तनजीवने' इत्यमरः । कुरुष्व विधेहि । तथा अकृपणैः अम्लानैः नवपल्लवैः भुवि शय्यां च कुरुष्व । अत उत्तिष्ठ उत्थितो भव, विलम्बं मा कुर्वित्यर्थः । वनं प्रति यावः गच्छावः । यास्याव इत्यर्थः । किमनेन नीचसेवनेनेति शेषः । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानप्रत्ययः । 'यामो वनम्' इति न साधीयान्पाठः । गमने अभ्युच्चयफलमाह—यत्र वने क्षुद्राणां दीनानाम् । कुतः ? । अविवेकेन अज्ञानेन मूढानि कर्तव्याकर्तव्य-विचारशून्यानि मनांसि येषां तेषां तथा सदा सर्वदा वित्तमेव व्याधिः सन्निपातादि-रोगः तेन यो विकारः विपरीतभावः तेन विह्वला विकला, अविस्पष्टा इति यावत् । तथाभूता गिरो येषां तेषामीश्वराणां राज्ञां नामापि नामधेयमपि न श्रूयते नाकर्ण्यते, किमुत दर्शनसेवनादिकथेति भावः । तस्मादैहिकामुष्मिकफललेशसंबन्धशून्यं नीचसेवनं परित्यज्य सकलश्रेयःसंपादकं वनं व्रज । वनवास एवावश्यं कर्तव्य इति तात्पर्यम् । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ २६ ॥

अथ च पुनः सत्यामपि निरवधिकनिरातङ्कजीवसाधनसामग्र्यां कृपणा स्वकार्पण्य-मत्यजन्तः परयाज्जादैन्येन क्लिश्यन्ति, किं कर्तव्यमित्याह—

फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां

पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम् ।

मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी

सहन्ते संतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः ॥ २७ ॥

प्रतिवनं वने वने, नत्वेकत्रैव क्लृप्तमित्यर्थः । 'अव्ययं विभक्ति-' इत्यादिना यथार्थेऽव्ययीभावः । न विद्यते खेदो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा अखेदं अक्लेशं स्वेच्छया स्वेच्छन्देन लभ्यं प्राप्यम्, न तु परप्रेष्यमिति भावः । क्षित्यां रोहन्तीति क्षितिरुहः । किप् । तेषां कदलीरसालपनसादितरूपां फलमस्तीति शेषः । उदरपूरणपर्याप्तमिति भावः । तथा स्थाने स्थाने प्रतिस्थानम् । वीप्सायां द्विरुक्तिः । शिशिरमधुरम् । व्याख्यातमेतत् 'पिबति सलिलं शीतमधुरम्' इत्यत्र । पुण्यसरितां गङ्गागोदावर्यादिपुण्यनदीनां पयः तीर्थम्, अस्तीति शेषः । स्नानपानाभ्यां बाह्याभ्यन्तरपङ्कप्रक्षालनद्वारा तृष्णोपशान्तिकरमिति भावः । एतेनोभयेषामपि शास्त्रसिद्धं परोपकारकत्वं सूचितम् । तदुक्तम्—'परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः परोपकाराय वहन्ति नद्यः' इति । तथा मृदुः अकठिनः, कोमल इति यावत् । स्पर्शो यस्याः सा । हंसतूलिकातल्पकल्पेत्यर्थः । कुतः ? । सुललितानि अतिकोमलानि यानि लतापल्लवानि तन्मयी तत्प्रचुरा, तैर्निर्मितेत्यर्थः । अथवा तन्मयी तद्विकारा । 'विकारार्थं मयदुततो ङीप् । शय्या चास्तीति शेषः । सुखस्वापोचितेति भावः । तदपि तथापि धनिन' धनाढ्यानां द्वारि प्रतीहारप्रदेशे । 'त्रीं द्वार्द्वारं प्रतीहारः' इत्यमरः । कृपणा धनलिप्सापरतन्त्राः संतापं तदनुवर्तनाद्यायासपरितापं सहन्ते मृष्यन्ति, श्रेयोर्थिनां किं तत्रास्माकं कर्तव्यमित्यर्थः । अतः फललाभसंबन्धशून्यां प्रत्युत बलवदनिष्ठानुबन्धिनीं दुरन्तसंतापकारिणीं परमकार्पण्यकर्णेजपामिहामुत्र च कीर्तिप्रतिष्ठाभञ्जनीं याज्ञादैर्न्यां परमनीचत्वादूषणीं पापिष्ठामिमां दुरीश्वरद्वारा बहुवितर्दिकादुराकारडाकिनीं विवेकोच्चाटनमन्त्रेणोत्सार्यानेकश्रेयःसंपादिकां वनवासजीविकां श्रियमेव समाश्रयेद्विद्वानिति तात्पर्यम् । तदुक्तं श्रीभागवते—'चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति मिक्षां नो वाङ्मिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन् । शुद्धा गुहाः किमु न सन्ति महानुभावा यस्माद्भजन्ति यतयो धनदुर्मदान्धान् ।' इति । शिखरिणी वृत्तम् ॥ २७ ॥

इदानीं दुरीश्वरसेवनयाज्ञादैर्न्यतत्परविषयाक्षिप्तचित्तनिन्दावशेन स्वस्य सिद्धवद्भाविश्रेयोदशां सूचयन्नाह—

ये वर्तन्ते धनपतिपुरः प्रार्थनादुःखभाजो

ये चाल्पत्वं दधति विषयाक्षेपपर्याप्तबुद्धेः ।

तेषामन्तःस्फुरितहसितं वासराणि स्मरेयं

ध्यानच्छेदे शिखरिकुहरग्रावशय्यानिषण्णः ॥ २८ ॥

धनपतेः धनाढ्यस्य पुरः अग्रे प्रार्थनादुःखं याज्ञादैर्न्यं भजन्तीति तथोक्ताः सन्तः । 'भजो ष्विः' । ये पुरुषा वर्तन्ते । तथा ये च पुरुषाः विषयाक्षेपे भोगसंग्रहे पर्याप्तास्तावन्मात्र एव पर्यवसिताः, न तु तत्त्वविचार इत्यर्थः । तादृशी या बुद्धिः तस्याः । 'पर्यस्त-' इति पाठे विषयाक्षेपेण भोगासक्त्या पर्यस्ता विपरीता । यद्वा विषयाक्षेपेण विषयकृतोपप्लवेन पर्यस्ता विक्षिप्ता या बुद्धिः तस्या हेतोः अल्पत्वं नीचत्वं दधति तेषां पुरुषाणां वासराणि दिवसान्, तदनुभूतदुर्दिनानीत्यर्थः । 'वा

तु क्लीबे दिवसवासरौ' इत्यमरः । अभिमतदेवतायां चित्तस्थिरीकरणं ध्यानं तस्य
च्छेदे अवसाने, ब्रह्मध्यानव्युत्थानसमय इत्यर्थः । शिखरिकुहरे गिरिगह्वरे यो ग्रावा
पाषाणः स एव शय्या तस्यां निषण्णः, विश्रमार्थं शयितः सन्नित्यर्थः । अन्तः
अन्तःकरण एव स्फुरितं समुत्पन्नं हसितं हासो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा तदानीं
तेषामपहास्यत्वात्तदनुभावत्वेनोत्पन्नहासगर्भितमित्यर्थः । स्मरेयम् । 'सदृशा दृष्टि-
चिन्तायाः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' इति वचनात् कुतश्चिच्चिन्तावशादृष्टिवशाद्वा समु-
द्बुद्धसंस्कारस्तदीयदुर्दिनानि स्मृतिविषयाणि कुर्यामित्यर्थः । 'वासरानां स्मरेयम्' इति
पाठः । तथा, 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति कर्मणि षष्ठी । अधीगर्थानां च शेषाधि-
कारात् । अशेषत्वविवक्षायां तु द्वितीयैव स्मर्यते । संभावनायामुत्तमपुरुषैकवचनम् ।
यथाहं याज्जादुःखामिसंतप्तविषयाक्षितचित्तजनदुर्दशादर्शनात्संजातनिर्वेदः केनचिद्वा-
ग्योदयेन परमेश्वरानुगृहीतः तद्ध्यानव्युत्थाने तदीयदुर्दिनस्मरणतत्परोभवेयं तथा
विवेकिभिः श्रेयोर्थिभिः भवितव्यम् । न तु तद्वदुर्दशाभाभिरिति गूढोपदेशस्तात्पर्यायं
विषयीकृत इत्यवधेयम् । मन्दाकान्ता वृत्तम् ॥ २८ ॥

अथ तृष्णाया यावताप्युपसंहाराभावात्किं याज्जादैन्येनेत्याह—

ये संतोषनिरन्तरप्रमुदितास्तेषां न भिन्ना मुदो

ये त्वन्ये धनलुब्धसंकुलधियस्तेषां न तृष्णा हता ।

इत्थं कस्य कृते कृतः स विधिना कीदृक्पदं संपदां

स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरुर्न मे रोचते ॥ २९ ॥

ये पुमांसः दैवाल्लब्धेन वस्तुना जनितो मनोविलासः संतोषः तेन निरन्तरं
सततं प्रमुदिताः परितुष्टाः, तृप्ता इति यावत् । तेषां मुद आनन्दा न भिन्नाः,
किंतु प्रवृद्धा एवेत्यर्थः । तथा अन्ये इतरे ये पुमांसः धने लुब्धा गार्ध्यवती
अत एव संकुला धीः येषां ते तथोक्ताः तेषां तृष्णा वस्तुस्पृहा न हता. न विरते-
त्यर्थः । धनलोभस्येयत्ताभावादित्यर्थः । इत्थम्, एवं व्यवस्थिते सतीति शेषः । स
प्रसिद्धः संपदां रत्नादिसमृद्धीनां तादृगित्यमिति वक्तुमशक्यं पदं स्थानम्, अनिर्वाच्य-
धनसंपदास्पदमित्यर्थः । तथा स्वात्मन्येव स्वस्मिन्नेव समाप्तः पर्यवसितः । नतु
परोपकारपर्याप्त इत्यर्थः । तादृशो हेममहिमा काञ्चनसंपत्तिर्यस्य तथोक्तो मेरुः विधिना
ब्रह्मणा कस्य कृते कस्य पुंसः प्रयोजनार्थं कृतो निर्मितः ? नित्यसंतोषसंपन्नानामन-
पेक्षितत्वादर्थलुब्धानामपर्याप्तत्वाच्चानुपयोगादिति भावः । अतो निरर्थकत्वादेव मह्यं
न रोचते रुचिगोचरो न भवति, न संमत इत्यर्थः । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति
चतुर्थी । तस्मात्स मेरुतुल्यधनलाभेऽपि तृष्णाधनपिशाच्याः संतोषाभावात्तत्प्रयुक्त-
याज्जादैन्यविभ्रान्तिं तत्त्वविचारेण निरस्य संतुष्टान्तःकरणैर्भवितव्यमायुष्मद्विरिति
तात्पर्यम् । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ २९ ॥

तर्हि कथं जीवनमित्याशङ्क्य तदुपायं सपरिकरं निवेदयन्निगमयति—

भिक्षाहारमदैन्यमप्रतिसुखं भीतिच्छिदं सर्वतो

दुर्मात्सर्यमदाभिमानमथनं दुःखौघविध्वंसनम् ।

सर्वत्रान्वहमप्रयत्नसुलभं साधुप्रियं पावनं

शंभोः सत्रमवार्थमक्षयनिधिं शंसन्ति योगीश्वराः ॥ ३० ॥

योगीश्वराः परमार्थतत्त्वज्ञा महायोगिनः भिक्षाहारं भैक्षाशनं (कर्म) न विद्यते याज्जादैन्यं यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । देहीत्युच्चारणानन्तरमेव सद्गृहस्थैर्वहुमानपूर्वकं दीयमानत्वादिति भावः । यद्वा व्यावहारिकदैन्यसंभवेऽपि पारमार्थिकदैन्याभावादिति भावः । न विद्यते प्रतिमुखं यस्य तत्तथोक्तं स्वयमेव निरतिशयसुखम्, न तु स्वस्य प्रतिभटभूतं सुखान्तरमस्तीत्यर्थः । सर्वतः सर्वत्रापि भीतिच्छिदं भयविनाशकम् । भिक्षाशनतत्परस्याकुतोभयत्वादिति भावः । दुष्टानां दुःखभावानां मात्सर्यमदाभिमानानां असाहिष्णुत्वदर्पाहंकाराणां मथनं निरासकं दुःखौघविध्वंसनं सांसारिकाशेषबाधानिवर्तकम् । यद्वा दुःखौघस्य एकविंशतिमहादुःखसमुदायस्य विध्वंसनं विच्छेदकम् । एकविंशतिमहादुःखध्वंसरूपमोक्षनिदानमित्यर्थः । 'आत्यन्तिकदुःखध्वंसो मोक्षः' इति वैशेषिकास्तार्किकाश्च । अत्र यत्किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति विस्तरभयाच्चोच्यते । सर्वत्र सर्वेष्वपि देशेष्वित्यर्थः । तत्रापि अन्वहं प्रतिदिनं तत्रापि चाप्रयत्नं यत्नं विनैव सुलभम्, सुखलभ्यमित्यर्थः । साधूनां अनहंकारिणां प्रियं इष्टं पावनं पवित्रं शंभोः शिवस्य सत्रम्, तृप्तिसाधनमित्यर्थः । 'रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं सेवते' इत्यनेनैवोक्तत्वात् । यद्वा शंभोः सत्रम् । शंभुभक्तिनिरताश्चसत्रमित्यर्थः । खण्डमण्डलादिपतिसत्रं तु नश्वरम् । इदं तु सकलभुवनाधीश्वरप्रवर्तितत्वाच्छाश्वतमिति भावः । अत एवावार्यं न केनापि निवारयितुं शक्यम् । अक्षयनिधिं अविनाशिनिधानं च । नित्योपयोगेऽप्यक्षयमिति भावः । शंसन्ति कथयन्ति, अनुभवसिद्धत्वादित्यं वर्णयन्तीत्यर्थः । अतोऽनर्थपरम्पराजनितदैन्यं याज्जादैन्यं विहायोत्तरीया समस्तसद्गुणविचित्रं शंभुसत्रं समाश्रयणीयमिति भावः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ३० ॥

इति वैराग्यशतकव्याख्याने याज्जादैन्यदूषणं नाम तृतीयं दशकम् ॥

अथ भोगास्थैर्यवर्णनम् ।

अथ भोगानामस्थैर्याकथने याज्जादैन्यमदूषितप्रायमेवेति मनसि निधाय तदूषणानन्तरं भोगास्थैर्यमाह—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाङ्ग्यं

माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।

शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताङ्ग्यं

सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥ ३१ ॥

भोगे स्रक्चन्दनवनितासंभोगसुखानुभवे । 'भोगः सुखे ह्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः । रोगात् वातपित्ताद्यामयाङ्ग्यम्, अस्तीति शेषः । तस्य तदन्तरायत्वादिति भावः । कुले सद्गंशे च्युतेः आचारभ्रंशात् भयम् । तस्यास्तदप्रतिष्ठावहत्वादिति भावः । अथवा च्युतेः संतानविच्छेदात् भयम् । तस्याः संप्रदायोपहतिहेतुत्वादिति भावः । वित्ते द्रव्यसमृद्धौ नृपालात् राज्ञो भयम् । तस्य तदपहर्तृत्वादिति भावः । माने अभिमाने दैन्यात् कार्पण्यात् भयम्, तस्य तद्भङ्गहेतुत्वादिति भावः । बले सामर्थ्ये रिपोः शत्रोः भयम्, तस्य तदमनशीलत्वादिति भावः । रूपे

सौन्दर्ये जराया वार्धकावस्थाया भयम्, तस्यास्तद्विलोपित्वादिति भावः । शास्त्रे वेदान्तादिशास्त्रकलापे वादिभ्यः शुष्कतर्ककलहकण्टकेभ्यो भयम् । तेषां तदपरोक्षकत्वादिति भावः । गुणे विद्याविनयादिगुणगणे खलात् दुर्जनात् भयम् । तस्य तद्दूषकत्वादिति भावः । काये देहे कृतान्तात् यमात् भयम् । तदन्तकरत्वादिति भावः । 'कायो देहः क्लीबपुंसोः', 'कृतान्तौ यमसिद्धान्तौ' इत्यमरः । सर्वत्र 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्युपादानत्वात् पञ्चमी । अतः भुवि नृणां संबन्धि सर्वं वस्तु भोगाद्य-शेषार्थजातं भयान्वितं उक्तरीत्या भयसहितम्, सान्तकत्वात्सापायमित्यर्थः । किंतु विरागो विषयानभिलाषो येषां ते विरागाः तेषां भावो वैराग्यम्, तदेकमेव न विद्यते भयं यस्य तदभयं भयहेतुत्वाभावाच्चिर्भयम्, निरातङ्कत्वाच्चिरपायमित्यर्थः । अतः विरागाः अस्थिरभोगाः तेषां भावो वैराग्यम् । तदेकमेव न विद्यते भयं यस्य तत् अभयम् । भयहेतुत्वाद्यभिनिवेशं परित्यज्य सुस्थिरवैराग्यमेवाश्रयणीयं श्रेयस्का-मेनेति भावः । इत्थं भोग इत्यादिष्वधिकरणसप्तम्याश्रयणेन व्याख्यातम् । सतिसप्तम्या-श्रयेण त्वेवं व्याख्येयम्—अतः सर्वं भुवि नृणां भयान्वितम्; किंतु वैराग्यमेव न विद्यते भयं यस्मात्तत् अभयम्, भयनिवारणमित्यर्थः । सति वैराग्ये सर्वस्य मिथ्यात्वेन प्रतीयमानतया द्वितीयाभावात् । अतः भयावहं भोगादिकं परित्यज्य भयापहं वैराग्यमेवाश्रयणीयमिति तात्पर्यम् । शेषं समानम् । वृत्तं शार्दूलविक्री-डितम् ॥ ३१ ॥

उपक्रान्तं भोगास्थैर्यं तत्तद्भुङ्क्ष्यन्तरेण नवभिर्वर्णयति—

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा चात्युज्ज्वलं यौवनं

संतोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढाङ्गनाविभ्रमैः ।

लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै-

रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ॥ ३२ ॥

जन्म उत्पत्तिः मरणेन स्वरूपनाशकेन मृत्युना आक्रान्तं ग्रस्तम् । 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च', 'अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः' इत्यादिवचनैरिति भावः । अत्युज्ज्वलं अतिशयेन भास्वरं यौवनं नूतनवयः, तारुण्य-मिति यावत् । जरसा जरया अपायहेतुभूतया आक्रान्तम् । 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशः । संतोषो दैववशाल्लब्धवस्तुजनितपरितोषो धनलिप्सया तदुपद्रव-कारिण्या धनवाञ्छया आक्रान्तः । लमेः सन्नतात्त्रियामप्रत्यये टाप् । शमसुखं इन्द्रियव्यापारोपरमापादितानन्दः प्रौढाङ्गनानां प्रगल्भविलासिनीनां विभ्रमैः तदुप-मर्दकैः कटाक्षविक्षेपकर्णकण्डूयनेन कोमलकुचमर्दनादिविलासैः आक्रान्तम् । गुणाः विद्याविनयादयः मत्सरिभिः परोत्कर्षासहिष्णुभिलोकैः जनैः, तदपवादकैरित्यर्थः । उपहताः, ग्रस्ता इति यावत् । वनभुवः पुण्यारण्यप्रदेशाः व्यालैः दुष्टगजैः सर्पैर्वा । तत्प्रवेशानवकाशप्रदैरिति भावः । उपहता ग्रस्ताः । नृपा राजानः दुर्जनैः दुर्मन्त्रोप-देशेन तद्द्विविपर्यासकारिभिः पिशुनैः उपहताः । समाक्रान्ता इत्यर्थः । विभूतयः संपदोऽपि अस्थैर्येण तदप्रतिष्ठावहेन अस्थिरत्वेन उपहताः दूषिताः । अतः किं वस्तु

केन वा उपद्रवेण न ग्रस्तम्? उक्तरीत्या सर्वमपि ग्रस्तमेवेत्यर्थः । अतः सर्वस्याप्य-
स्थिरत्वान्न कुत्रापि विस्मम्भः कर्तव्य इति भावः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

पुनः श्रोतृजनस्य विश्वासदाढ्यार्थमुक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते

लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः ।

जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसात्

तत्किं तेन निरङ्कुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थिरम् ॥ ३३ ॥

विविधैः नानाप्रकारैः आधीनां मनोव्यथानां व्याधीनां पित्तादिशरीररोगाणां च
शतैः, अनेकैराधिव्याधिभिरित्यर्थः । 'पुंस्याधिर्मानसीव्यथा', 'रोगव्याधिगदामयाः'
इति चामरः । जनस्य आरोग्यं देहस्वास्थ्यं उन्मूल्यते निर्मूलीक्रियते । तथा यत्र
यस्मिन्पुरुषे लक्ष्मीः ऐश्वर्यसमृद्धिः, तिष्ठतीति शेषः । तत्र तस्मिन्पुरुषे व्यापदः
महोपद्रवाः विवृतानि उद्घाटितानि द्वाराणि कवाटानि यासां तास्तथोक्ता इव पतन्ति,
तद्विघटनार्थमप्रतिबन्धं प्रविशन्तीत्यर्थः । तथा मृत्युः अन्तकः जातं जातं प्रारब्ध-
कर्मवशात्पुनःपुनरुत्पन्नम् । वीप्सायां द्विर्भावः । अत एव विवशं विह्वलम्, जन्तु-
मिति शेषः । अवश्यं नियतं आशु शीघ्रमेव आत्मसात् आत्माधीनं करोति ।
मारयतीत्यर्थः । 'तदधीनवचने' इति सातिप्रत्ययः । अतः तेन प्रसिद्धेन निरङ्कुशेन
निरर्गलेन, अप्रतिहतव्यापारेणेत्यर्थः । विधिना ब्रह्मणा यद्वस्तु निर्मितं तत्किं वा
सुस्थिरम् ? न किमपीत्यर्थः । अतोऽस्थिरभोगाशंसनं न कर्तव्यमिति भावः ।
वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३३ ॥

तर्हि किं कर्तव्यमित्याशङ्कायां तेषामस्थैर्यकथनपूर्वकं कर्तव्यं तावन्निभिरुप-
दिशति—

भोगास्तुङ्गतरङ्गभङ्गतरलाः प्राणाः क्षणध्वंसिनः

स्तोकान्येव दिनानि यौवनसुखस्फूर्तिः प्रियासु स्थिता ।

तत्संसारमसारमेव निखिलं बुद्ध्वा बुधा बोधका

लोकानुग्रहपेशलेन मनसा यत्नः समाधीयताम् ॥ ३४ ॥

भोगाः स्रक्चन्दनादिविषयाः तुङ्गतरङ्गाः कल्लोला भङ्गाः अल्पतरङ्गाः त इव
तरलाः चपलाः, अतिसूक्ष्मा इत्यर्थः । न तु कतिपयेष्वपि दिवसेषु स्थायिन इत्यर्थः ।
प्राणाः क्षणध्वंसिनः क्षणे क्षणकाल एव ध्वंसो विनाशो एषामस्तीति तथोक्ताः,
अस्थिरा इति यावत् । यौवने या सुखस्फूर्तिः वैषयिकसुखाभिव्यक्तिः सा स्तोकान्येव
दिनानि, अल्पेष्वेव दिवसेष्वित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । प्रियासु वनितासु
स्थिता स्थायिनी । कर्तारोक्तः । न तु यावज्जीवभाविनी, वार्धक्यदशायां तदपायादिति
भावः । तस्मात्कारणात् बोधका हितोपदेष्टारः हे बुधाः विद्वांसः ! निखिलं संसारं
भोगादिरूपं असारं असिद्धमेव बुद्ध्वा आलोच्य लोकानुग्रहपेशलेन मनसा यत्नः
समाधीयताम् । परमदयालुत्वप्रयुक्तानुग्रहतया युष्माभिर्ज्ञानोपदेशादिना संसारार्णव-
निमग्नाज्ञानास्तारयितव्याः, न तूपेक्ष्याः । तथाविधजनोद्धरणे महाफलश्रवणादिति

भावः । यद्वा लोकानुग्रहे लोकसंग्रहे पेशलेन अनुरक्तेन मनसा यत्नः कर्तव्यः । यतः युष्मत्कृतप्रयत्नतात्पर्यं जना अपि कृतार्था भविष्यन्ति । 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥' इति भगवद्वचनादिति भावः । 'समाधीयताम्' इति विध्यर्थे विहितोऽयं लोदप्रयोगः परमपुरुषार्थसाधकब्रह्मध्यान-प्रयत्नस्यावश्यविधेयताविवक्षया विपक्षे अनर्थप्राप्तिं च ज्ञापयतीत्यवधेयम् । वृत्तं शार्दूल-विक्रीडितम् ॥ ३४ ॥

पुनः प्रत्ययदार्ढ्यार्थं युक्त्यन्तरलाभाच्च उक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला

आयुर्वायुविघट्टिताब्जपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम् ।

लोला यौवनलालसास्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं

योगे धैर्यसमाधिसिद्धसुलभे बुद्धिं विधध्वं बुधाः ! ॥ ३५ ॥

तनुभृतां शरीरिणां भोगाः पूर्वोक्ताः मेघवितानस्य अभ्रवृन्दस्य मध्ये विलसन्त्यः परिस्फुरन्त्यः याः सौदामिन्यः तडितः ता इव चञ्चलाः, क्षणिका इत्यर्थः । 'तडित्सौदामिनी विद्युत्' इत्यमरः । सुदाम्ना अद्रिणा एक दिक् सौदामिनी इति विग्रहः । 'तेनैकदिक्' इत्यण् । तथा आयुः जीवितं च वायुना विघट्टितं तरलितं यदब्जपटली-लीनाम्बु पद्मपत्रप्रान्तसंश्लिष्टजलबिन्दुः तद्वद्भङ्गुरम्, भङ्गलीलावत् नश्वरं इत्यर्थः । तथा यौवनलालसाः महाभोगाभिलाषाः । 'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च सोऽत्यर्थं लालसा द्वयोः' इत्यमरः । लोला अस्थिरा इत्येवं आकलय्य आलोच्य हे बुधाः ! द्रुतं शीघ्रमेव, विलम्बस्यानवकाशादिति भावः । धैर्यं धीरत्वम्, समाधिः चित्तस्थैर्यम्, तयोः सिद्ध्या निष्पत्त्या सुलभे सुखलभ्ये योगे ब्रह्मध्याने बुद्धिं निश्चयात्मिकां मनीषां विधध्वं कुरुत । ब्रह्मज्ञाननिष्ठा भवतेत्यर्थः । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३५ ॥

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-

रथाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूगाः ।

कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं

ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥ ३६ ॥

आयुः कल्लोललोलं कल्लोलवल्लोलं अतिभङ्गुरम् । नत्वाचन्द्रार्कस्थायीत्यर्थः । यौवनश्रीः यौवनसंपत् कतिपयेषु अल्पेषु दिवसेषु तिष्ठतीति तथोक्ता । न तु यावज्जीवं वर्तिनीत्यर्थः । अर्थाः धनधान्यग्रामपश्वादिवस्तुविभवाः संकल्पकल्पाः । मनोरथतुल्या इत्यर्थः । तेऽपि न चिरस्थायिन इति भावः । 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देऽयदेशीयरः' इति कल्प-प्रत्ययः । भोगपूगाः विषयपरम्परा घनसमये वर्षाकाले यास्तडितस्तासामिव विभ्रमाः स्फुरणानि येषां तथोक्ताः । क्षणभङ्गुरा इत्यर्थः । तथा प्रियाभिः प्रौढाङ्गनाभिः यत्कण्ठाश्लेषेण कण्ठग्रहेण उपगूढम्, आलिङ्गनमिति यावत् । भावे क्तः । प्रणीतं रचितं तदपि प्रौढाङ्गनालिङ्गनमपि न चिरम् । चिरकालवस्थायि न भवतीत्यर्थः । अतः हे मनुष्याः ! भवात्संसारात् यद्भयं तदेवाम्भोधिः तस्य पारं तरीतुम् । संसार-सागरमुल्लङ्घितुमित्यर्थः । ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत । ब्रह्मध्यानैकतत्परा भवतेत्यर्थः ।

न ह्येतद्व्यतिरेकेण तरणोपायं कंचिदपि पश्यामीति भावः । त्रिवारशुद्ध्या दृढतरविश्वासो-
त्पादनार्थं त्रिभिः श्लोकैः परमार्थपर्यवसायिनी ब्रह्मध्याननिष्ठोपदिष्टा न त्वनर्थपर्यव-
सायिनी संसारासक्तिः । यदत्र युक्तं तद्वाह्यं तत्त्वविचारपारावारपारीणैः इति श्लोक-
त्रयतात्पर्यम् । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३६ ॥

ननु लोके प्रायशः संसारसुखतत्परा एव दृश्यन्ते । अतः कथमयं निषिध्यत
इत्याशङ्क्यादित आरभ्य विचार्यमाणे न तत्र सुखलेशोऽप्यस्तीत्याह—

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भवासे
कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषमो यौवने चोपभोगः ।
वामाक्षीणामवज्ञाविहसितवसतिवृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥

गर्भवासे गर्भावस्थादशायां अमेध्यमध्ये मूत्रपुरीषमध्ये नियमिततनुभिः संकुचित-
गात्रैः, प्राणिभिरिति शेषः । कृच्छ्रेण अतिकष्टेन स्थीयते । तथा यौवने उपभोगः
संभोगश्च कान्ताविश्लेषेण प्रियतमावियोगेन यो दुःखव्यतिकरः दुःखसंपर्कः तेन विषमः
विकलः, भवतीति शेषः । तथा वामाक्षीणां मनोहरनयनानां अवज्ञाविहसितानां
अवमानपूर्वकपरिहासानां वसतिः स्थानम् । तासां तस्य हेतुत्वात्परिहासास्पद-
मित्यर्थः । वृद्धभावः वृद्धत्वमपि असाधुः असमीचीनः, अपहासास्पदीभूतस्य कुतः
साधुत्वमिति भावः । अतः रे मनुष्याः ! रे इति नीचसंबोधने । नीचत्वं च सांसारिक-
त्वादिति द्रष्टव्यम् । 'नीचसंबोधने तु रे' इत्यमरः । संसारे गर्भवासजन्मजरादिरूपे
स्वल्पं किञ्चित् ईषदपि सुखमस्ति यदि वर्तते चेत् तत् वदत ब्रूत, अतः किमर्थं
क्लिश्यत, गर्भनिरयवासादिसांसारिकदुःखैः पुनरावृत्तिरहितनित्यनिरतिशयानन्दबन्धुर-
ब्रह्मानन्दप्राप्त्यर्थमेव प्रयतध्वमित्यर्थः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ३७ ॥

अथ स्वविनिपातहेतौ संनिहिते लोका न कुशला भवन्ति । महदेतदाश्चर्यमित्याह—

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम् ।
आयुः परिस्त्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ॥ ३८ ॥

जरा वार्धकावस्था व्याघ्रीव व्याघ्राङ्गनेव । 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीप् ।
परितर्जयन्ती भीषयन्ती सती तिष्ठति, कलेवरकवलनाभिनिवेशेन वर्तमाना मृत्योः
प्रत्यासत्तिमभिनिवेदयतीत्यर्थः । रोगाः वातपित्तश्लेष्मादिव्याधयश्च शत्रवो वैरिण इव
देहं प्रहरन्ति ताडयन्ति, परिपीडयन्तीत्यर्थः । आयुश्च भिन्नघटात् सच्छिद्रकलशात्
अम्भ इव परिस्त्रवति, प्रतिक्षणं नश्यतीत्यर्थः । तथापि लोको जनः अहितं परापकारं
आचरतीति चित्रं आश्चर्यम्, परापकारादन्यत्कर्म कुशलमिति भावः । यद्वा अहितं
स्वस्यानिष्टं आचरति स्वविनिपातहेतुभूतमेव कर्म करोति, नत्वात्मोद्धरणार्थं ब्रह्म-
ध्यानादि करोतीत्यर्थः । चित्रं आश्चर्यम् । तदुक्तम्—'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मान-

मवसादयेत् । आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥' इत्यादि । तर्जयन्तीत्यत्र तर्जयतेः परस्मैपदम् 'तर्जयन्निव केतुभिः' इत्यादिमहाकविप्रयोगात्सिद्धम् । तर्जयतेरनुदात्तत्वेऽपि चक्षिणो ङित्करणेनानुदात्तत्वनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वज्ञापनात्परस्मैपदमिति । उपमा । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ३८ ॥

अथ सर्वथा यद्यस्मदुपदेशे विश्वासस्तर्ह्यात्मन्येव मनः समाधेयम्, न त्वन्यत्रेत्याह—

भोगा भङ्गुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भव-

स्तत्कस्येह कृते परिभ्रमत रे लोकाः ! कृतं चेष्टितैः ।

आशापाशशतोपशान्तिविशदं चेतः समाधीयतां

कामोत्पत्तिवशात्स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः ॥ ३९ ॥

भोगाः विषयाः भङ्गुरा भङ्गशीला वृत्तिर्येषां ते तथोक्ताः । आगमापायित्वादस्थिरा इत्यर्थः । बहुविधाः नानाप्रकाराश्च । कारणवैचित्र्यपूर्वकत्वात्कार्यवैचित्र्या इति भावः । अस्तु, ततः किं तत्राह—तैः भोगैरेवायं परिवर्तमानो भवः शरीरधारणादिसंसारः । कल्पित इति शेषः । जन्मान्तरीयकत्वात्तस्येति भावः । 'भोगायतनं शरीरम्' इति वैशेषिकाः । तत् तस्मात्कारणात् । रे लोकाः जनाः ! इह अत्र भवे कस्य कृते, कस्य भोगस्य प्राप्त्यर्थमित्यर्थः । 'अर्थे कृतेऽथशब्दौ द्वौ तादर्थ्येऽव्ययसंज्ञितौ' इति वचनात् । परिभ्रमत संचरत, परिभ्रमितव्यमित्यर्थः । संचितकर्मवशात्स्वत एव तेषां संभाव्यमानत्वादिति भावः । अतः चेष्टितैः भोगसंग्रहव्यापारैः कृतम्, तत्संग्रहव्यापारा न कर्तव्या इत्यर्थः । कृतमिति निषेधार्थकमव्ययं चादिषु पठ्यते । 'कृतमिति निवारणातिनिषेधयोः' इति गणव्याख्याने । तर्हि किमतः परं कर्तव्यं उपदिश्यत इत्यत आह—अस्मद्वचः अस्मदीयमुपदेशवचनं श्रद्धेयं यदि विश्वसनीयं चेत्, युष्माभिरिति शेषः । आशा अतितृष्णा तस्याः पाशा रज्जव इव बन्धहेतुत्वात् । 'आशा दिगतितृष्णयोः' इति वैजयन्ती । तेषां शतानि, अनेक आशापाशा इत्यर्थः । तेषां उपशान्त्या उपशमनेन विशदं निर्मलं चेतः चित्तं कामोत्पत्तिवशात् अनुरागोपवशात्, अनुरागमुत्पाद्येत्यर्थः । स्वरूपं आत्मा तद्रूपं धाम स्थानं तस्मिन् । 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वम्' इत्यमरः । समाधीयतां स्थिरीक्रियताम् । अन्तरात्मप्रवणमेव क्रियताम्, न बाह्यविषयासक्तमित्यर्थः । अन्यथा तु महाननर्थः स्यादिति भावः । यद्वा स्वशब्देन जीव उच्यते । तस्य धामनि निलयस्थाने परब्रह्मणि । अथवा स्वधामनि स्वयंज्योतिषि स्वरूपभूततेजसीति वा । इहात्यन्तविकृष्टार्था बहवः परिस्फुरन्ति विस्तरभयात् न लिख्यन्ते । समाधीयताम्, समाहितं क्रियतामित्यर्थः । अयमेव हितोपदेशत्वान्मुख्यगुरुणामस्माकं परमोपदेशः । एतद्विश्वासेनान्यासङ्गं परित्यज्य मनो ब्रह्मणि कृत्वा तदाज्ञया श्रेयः संपादनीयम् । 'सत्संप्रदायसंयुक्तब्रह्मविद्याविशारदः । एवमादिगुणोपेतो देशिकोऽशेषवन्दितः ॥' इत्युक्तलक्षणदेशिकाचार्योपदेशवचनश्रद्धाभक्तियुक्तस्य श्रेयोलाभावश्च भावात् 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भिषजे गुरौ । यादृशी भावना

यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥' इत्यादिश्रुतिस्मृतिसहस्रेभ्योऽयमर्थो निश्चीयत इत्यल-
मतिप्रसङ्गेन । शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३९ ॥

ननु यदि ते सर्वथा भोग एव स्पृहा, तर्ह्यस्मदुपदिष्ट एवाभिरतिं कुरु नान्य-
त्रेत्युपसंहरति—

ब्रह्मेन्द्रादिमरुद्गणांस्तृणकणान्यत्र स्थितो मन्यते

यत्स्वादाद्विरसा भवन्ति विभवस्त्रैलोक्यराज्यादयः ।

भोगः कोऽपि स एक एव परमो नित्योदितो जृम्भते

भो साधो ! क्षणभङ्गुरे तदितरे भोगे रतिं मा कृथाः ॥ ४० ॥

यत्र यस्मिन् निरतिशयैकनित्यभोगसाम्राज्ये स्थितो वर्तमानः सन् पुरुष इति
शेषः । ब्रह्मेन्द्रावादी येषां ते तथोक्ता ये मरुद्गणाः सुरसंघाः तानपि । किमुतान्या-
निति भावः । 'मरुतौ पवनामरौ' इति वैजयन्ती । तृणकणान् तृणलेशान् । अत्यन्त-
निःसारान् । परमनीचानिति यावत् । मन्यते अवबुध्यते । पारमेष्ठ्यस्वाराज्ययोर-
प्येतादृशभोगसाम्राज्यसहस्रांशसादृश्यस्याप्यनर्हत्वादिति भावः । 'मन्यकर्मण्यनादरे
विभाषाप्राणिषु' इति विकल्पाद्वितीया । तथा यस्य विशिष्टभोगसाम्राज्यस्य स्वादात्
रुच्यनुभवात् । त्रयो लोकाः त्रैलोक्यम् । ब्राह्मणादित्वात् घ्यञ् । तत्र यद्राज्यं
आधिपत्यं तदादिर्येषां ते तथोक्ताः विभवाः संपदो विरसाः अनभिमताः, हेया इति
यावत् । भवन्ति । तेषु तथाविधरुच्यतिशयाभावादिति भावः । यद्वा यस्य ब्रह्मानन्द-
रूपभोगस्वादात् त्रैलोक्यराज्यं आदिः कारणं येषां ते तथोक्ताः । सकलभुवनाधि-
पत्यसंभवा इत्यर्थः । विभवाः सुखसंपदः विरसाः रसहीनाः । निकृष्टा इति यावत् ।
भवन्ति । ब्रह्मानन्दे क्षुद्रानन्दानामन्तर्भूतत्वात् । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि
मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेरिति भावः । कोऽप्यनिर्वाच्यः । कुतः ? । परमः सर्वोत्कृष्टो
निरतिशय इति यावत् । तत्कुतः ? । नित्योदितः । नित्याभ्युदयसंपन्न इत्यर्थः । स एक
एव भोगो ब्रह्मानन्दरूपो जृम्भते । महाराजश्रोत्रियाद्यानन्दानामुत्तरोत्तरतारतम्य-
मुक्त्वास्य सर्वोत्कृष्टत्वस्य श्रुत्युक्तत्वादिति भावः । अतः भो साधो सज्जन इत्युपदेश-
श्रवणाभिमुखीकरणार्थस्तुत्या । अत्रैकवचनं समुदायाभिप्रायम् । अत एव रे लोका
इति पूर्वश्लोकोक्तबहुवचनविरोधः । तदुपदेशं ये न शृण्वन्ति त एव नीचाः, यस्तु
शृणोति स एव साधुरिति संबोधनद्वयतात्पर्यम् । क्षणभङ्गुरे अनित्ये । उपलक्षणमेतत् ।
परमनीच इत्यर्थः । तदितरे अस्माद्विशिष्टभोगात् इतरस्मिन् । अत्र स्मिन्नादेशाभाव-
श्चिन्त्यः । भोगे सांसारिकसुखानुभवे रतिं रागम् । प्रीतिमिति यावत् । 'रतिः
स्मरप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च' इति विश्वः । मा कृथाः मा कार्पाः, किंतु
पूर्वोक्त एव तस्मिन्भोगे रतिं कुरु, तस्यैव परमश्रेयस्करत्वादिति भावः । कृजो लुडि
'न माङ्गयोगे' इत्यङ्गागमप्रतिषेधः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ४० ॥

इति वैराग्यशतकव्याख्याने भोगास्थैर्यवर्णनं नाम चतुर्थं दशकम् ।

(अथ कालमहिमानुवर्णनम्)

अथ सर्वस्यापि कालनियम्यत्वात्तन्महिमानं दशभिर्वर्णयति । तत्रादौ तस्य निया-
मकत्वं प्रकटयन्नमस्करोति—

सा रम्या नगरी महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च त-
त्पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः ।
उद्धृतः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥ ४१ ॥

अत्र सर्वत्रापि तच्छब्दः पूर्वानुभूतविषयः । अत एव न यच्छब्दापेक्षा । तदुक्तं
काव्यप्रकाशे—‘प्रकान्तप्रसिद्धानुभूतार्थगोचरस्तच्छब्दो न यच्छब्दमपेक्षते’ इति ।
तथा च सा पूर्वानुभूता । रन्तुं योग्या रम्या मनोहरा नगरी राजधानी च तत्र
स महान् साम्राज्यभारधौरेयतया पूज्यो नृपतिः राजा च । तस्येति संबन्धसामान्ये
षष्ठी सर्वत्र संबध्यते । तस्य नृपतेस्तत् सामन्तचक्रं प्रत्यर्थिराजमण्डलम् । यद्वा सेवार्थं
समागताखण्डमण्डलाधिपतिपरिवारश्च तस्य पार्श्वे स्थितमिति शेषः । सा विदग्ध-
परिषत् विद्वत्सभा । अथवा विदग्धानां कर्तव्यार्थचतुराणां परिषत् समुदायश्च ।
‘कृत्यवस्तुषु चातुर्यं वैदग्ध्यं परिकीर्त्यते’ इति लक्षणात् । तस्य ताः चन्द्रबिम्बमिव
आननं यासां ताः सुन्दर्यश्च यस्य स उद्धृतः उत्पथगतः, उद्दण्ड इति यावत् ।
राजपुत्रनिवहः राजकुमारवर्गश्च । तस्य ते बन्दिनः स्तुतिपाठकाश्च । ‘बन्दिन-
स्तुतिपाठकाः’ इत्यमरः । यस्य ताः कथाश्च श्राव्यवाचश्च । इति सर्वं अशेषमपि यस्य
कालस्य वशात् आयत्तत्वात् । ‘वश आयत्ततायां च’ इत्यमरः । स्मृतिपथं स्मरणः
मार्गम् । ‘ऋक्पूः—’ इत्यादिना समासान्तोऽच्प्रत्ययः । अगात् प्रापत्, कालमहिम्ना
सर्वमपि नष्टमभूदित्यर्थः । सर्वसंहर्तुः कालस्य महिमा वर्ण्यत इति भावः । ‘इणो गा
लुङि’ इति गादेशः । तस्मै कालाय नमः प्रह्वीभावः । ‘कालः कलयतामहम्’ इति
भगवद्वचनात्कालो भगवानेव । तथा च तन्नमस्काररूपमङ्गलाचरणं युज्यत इति
भावः । ‘नमःस्वस्ति—’ इत्यादिना चतुर्थी । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४१ ॥

अथास्याक्षधूर्तसाम्येन सर्वप्राणिनियन्तृत्वमाह—

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते ।
इत्थं नेयौ रजनिदिवसौ लोलयन् द्वाविवाक्षौ
कालः कल्यो भुवनफलके क्रीडति प्राणिशारैः ॥ ४२ ॥

यत्र यस्मिन् गृहे वेश्मनि कोष्ठे च क्वचिदपि कदाचित् । यद्वा यत्र क्वचिदपि
यस्मिन् कस्मिंश्चिद्गृहे । अनेकः बहुलः प्राणी शारश्च तिष्ठति । अथानन्तरं तत्र
तस्मिन्नेव गृहे कदाचित् एकस्तिष्ठति । एकत्र कालभेदवशात्, अन्यत्र परिणामव-
शाच्चेति भावः । तथा यत्र यस्मिन्गृहे कदाचिदेकस्तिष्ठति, तदनु तदनन्तरं बहवश्च ।
तिष्ठन्तीति शेषः । तत्र तस्मिन् गृहे अन्ते अवसानकाले द्यूतसमाप्तौ च एकोऽपि न
तिष्ठति । इत्थं उक्तरीत्या भुवनं फलकमिव शारप्रवर्तनोचितकोष्ठयन्त्रमिव तस्मिन्

नेयैः, प्रवर्तनीयैरिति यावत् । प्राणिनः शाराः द्यूतगूढा इव । अक्षोपकरणानीवेति यावत् । तैः साधनैः । 'पल्याणेऽस्त्री विहंगे ना शारे (द्यूत) गूढो नपुंसकम्' इति वैजयन्ती । कल्यः कलनासमर्थः देवनचतुरश्च कालः (कर्ता) अक्षधूर्तश्च गम्यते । रजनिदिवसौ रात्र्यहनी (कर्म) द्वौ अक्षौ पाशकाविव । 'पणोऽक्षेषु ग्लहोऽक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते' इत्यमरः । लोलयन् पौनःपुन्येन गृह्णन् सृजंश्चेत्यर्थः । क्रीडति दीव्यति । प्राणिसंयोगवियोगयोः वृद्धिक्षयादीनां च काल एव कर्तेति भावः । अत्राक्षाविवेति स्पष्टोपमालिङ्गात्सर्वत्रोपमितसमासः । अत एवोपमालंकारः । यदि चक्रकीडनोपयोगित्वात् रूपकमेवाश्रयणीयमित्यभिमानस्तदैकदेशवर्तिरूपकं उपमा त्वङ्गमिति संक्षेपः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ४२ ॥

अथ नित्यप्रमत्तोऽयं लोको नैतन्महिमानं ज्ञातुं शक्नोतीत्याह—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं

व्यापारैर्वहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते ।

दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते

पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥ ४३ ॥

आदित्यस्य सूर्यस्य गतागतैः, उदयास्तमयैरिति यावत् । अहरहः प्रत्यहम्, अहन्यहनीति भावः । वीप्सायां द्विरुक्तिः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । जीवितं आयुः संक्षीयते विनश्यति । कालक्रमेणायुःक्षयो भवतीत्यर्थः । 'क्षि क्षये' इत्यस्माद्धातोः कर्तरि लट् । तथापि सोऽयं न ज्ञायत इत्याह—बहवः अनेके ये कार्यभाराः देह-गेहादिनिमित्तकर्तव्यार्थपरम्पराः तैः गुरुभिः गरिष्ठैः व्यापारैः जीवनोपायोद्योगैः कालोऽपि जीवितक्षयकरसमयोऽपि न ज्ञायते । कार्यशतपर्याकुलव्यापारपारवश्या-न्नावबुध्यत इत्यर्थः । तथा जन्मजराविपत्तिमरणम्, उत्पत्तिजरावस्थाविपन्निधना-नीत्यर्थः । 'सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्भवति' इत्येकवद्भावः । दृष्ट्वा त्रासो भीतिश्च नोत्पद्यते नोदेति, किंतु जगत् सर्वोऽपि लोकः । मोहमयीं अज्ञानप्रचुराम्, बुद्धि-विपर्यासकारिणीमिति यावत् । प्राचुर्यं मयद् । टित्वात् ङीप् । प्रमादोऽनवधानता । 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । मदिरा मद्यं तां पीत्वा निषेव्य उन्मत्तभूतं क्षीवकल्पम्, विवेकशून्यमिति यावत्, भवतीति शेषः । कालेनैव प्रमादं प्रापितोऽयं लोकः कथंकार-मेतन्महिमानं ज्ञास्यतीति भावः । एतदादिश्लोकपञ्चकं शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४३ ॥

उक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा मुधा जन्तवो

धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः ।

व्यापारैः पुनरुक्तभूतविषयैरित्थं विधेनामुना

संसारेण कदर्थिता वयमहो मोहान्न लज्जामहे ॥ ४४ ॥

रात्रिः इयं प्रवर्तमाना रजनी सैव पुनः, गतरात्रिसदृशेवेत्यर्थः । पुनःशब्दो वाक्यालंकारे । अथवा रात्रिः पुनः भूयोऽपि सैव गतरात्रिरेव, नैतद्वेदो विज्ञायत इति भावः । तथा दिवसः अहः पुनः स एव, गतदिवससदृश एवेत्यर्थः ।

पूर्ववद्विकल्पोऽत्राप्युच्येयः । इति मत्वा बुद्ध्वापि जन्तवः प्राणिनः उद्यमिनः तत्तदर्थ-
साधनोद्योगवन्तः तथैव निभृतं निगूढम्, परेषामप्रकाशमिति यावत् । प्रारब्धा
उपक्रान्ताः तत्तत्क्रियाः तत्तदर्थसाधककर्माणि येषां ते तथोक्ताश्च सन्तः पुनरुक्तभूताः
पुनरनुभूतकल्पाः, चर्वितचर्वणप्राया इति यावत् । तथाभूता विषया जग्धियब्ध्या-
दिभोगा येषु तैः व्यापारैः चेष्टाभिः मुधा व्यर्थं धावन्ति, वृथा प्रयासमन्तरेण
फलान्तरासंभवादिति भावः । किंत्वित्थंविधेन एवंप्रकारेण अमुना परिवर्तमानेन
संसारेण । कुत्सितोऽर्थः कदर्थः । 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः ।
कदर्थवन्तः कृताः कदर्थिताः निरर्थीकृता अपि । कदर्थशब्दात् 'तत्करोति-' इति
ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । णाविष्टवद्भावे विन्मतोर्लृक् । वयं मोहात् अज्ञानात् न
लज्जामहे न जिहीमः । अहो एवं कालमहिम्ना निःसारतिरस्कृता अपि लज्जां न
प्राप्नुम इत्याश्चर्यमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

अथ लोके तावत्पुरुषाणां धर्मार्थकाममोक्षचतुर्विधपुरुषार्थसंपादनसाधनीभूततया
परमेश्वरपदध्यानेज्याध्ययनयशोवित्तार्जनगुरुशुश्रूषाङ्गनालिङ्गनादयो यथायोगं विधे-
याः । अस्माभिस्तु तेषां मध्ये न कश्चिदपि विरचितः । अतोऽस्मज्जन्म निरर्थकमिव
जातमिति वारंवारं शोचतां वचनमभिनीयाह—

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छिन्नतये

स्वर्गद्वारकवाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः ।

नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितं

मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ॥ ४५ ॥

संसारविच्छिन्नतये संसारोच्छेदार्थम्, मोक्षप्राप्त्यर्थमित्यर्थः । ईश्वरस्य शंभोः ।
'स्थेशभास-' इत्यादिना वरच् । पदम् । पादारविन्दयुगलमित्यर्थः । विधिवत्
विध्यर्थम्, यथाशास्त्रमित्यर्थः । 'तदर्हम्' इति वतिप्रत्ययः । न ध्यातं
एकाग्रचित्ततया न ध्यानविषयीकृतम् । यतः 'शंभुपादाम्बुजध्यानं सा-
क्षान्मोक्षैकसाधनम्' इत्यनेकपुराणेतिहाससंहितावचनैः साक्षान्मोक्षसाधनतया
विधेयमित्यभिहितं शंभुपदध्यानं न विहितम्, अतस्तत्साध्यमोक्षपुरुषार्थो न संपा-
दित इति भावः । तथा धर्मार्थसंपादनानुशोचनं कथयन्ति । अत्र 'अथातो
धर्मजिज्ञासा' इत्युपक्रममाणः सूत्रकृन्महर्षिः धर्मस्य प्राधान्येन स्वतःसिद्धं पुरु-
षार्थत्वं मन्यते । फलं त्वानुषङ्गिकम् । अस्य पुनः साक्षात्परम्परया च स्वर्गप-
वर्गपुरुषार्थद्वयसाधनतया सुखहेतौ चन्दने सुखत्ववदौपचारिकं मन्यते । तत्र च द्वितीयं
पक्षमाश्रित्याह—**स्वर्गेति** । अत्र स्वर्गशब्दोऽपवर्गस्याप्युपलक्षकः । तथा च
स्वर्गपवर्गद्वारयोः कवाटयोः पाटने विदलने पटुः समर्थः, स्वर्गपवर्गसाधक
इत्यर्थः । धर्मः ज्योतिष्टोमादिरपि नोपार्जितः न संपादितः । यतः 'ज्योतिष्टोमेन
स्वर्गकामो यजेत' 'धर्मात्सुखं च' 'ज्ञानान्मोक्षमवाप्नुयात्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः
पुरुषार्थद्वयसाधकत्वेन अवश्यमनुष्ठेय इति बोधितो धर्मोऽपि नानुष्ठितः । अतस्त-
त्साध्यपुरुषार्थद्वयमपि न सिद्धमिति भावः । अत्र देहलीढीपन्यायेन स्वर्गपवर्गसा-

धकत्वकथनं धर्मस्य किञ्चिदतिशयं द्योतयति । ततो न पौनरुक्त्यमित्यनुसंधेयम् । तथा नारीणां पीनौ पीवरौ पयोधरौ स्तनौ तयोः ऊरु दुर्भरं यद्युगलम्, पीवर-
दुर्भरकुचकुम्भयुगमित्यर्थः । यद्वा पयोधरयोरूर्वोश्च युगलम्, पयोधरयुगलमूर्-
युगलं चेत्यर्थः । तत्स्वप्नेऽपि स्वप्नावस्थायामपि । किमुत जाग्रदाद्यवस्थायामिति
भावः । नालिङ्गितं नाश्लिष्टम् । 'संसारे पटलान्ततोयतरले सारं यदेकं परं
यस्यायं च समग्र एष विषयग्रामप्रपन्नो जनः । तत्सौख्यं परतत्त्ववेदनमहानन्दो-
पमं मन्दधीः को वा निन्दति सूक्ष्ममन्मथकलावैचित्र्यमूढो जनः ॥' इत्यादिकाम-
शास्त्रोक्त्या कामपुरुषार्थस्याप्युपादेयत्वात्तन्निष्पादकत्वेनाभिमतमङ्गनाकुचकुम्भालिङ्ग-
नाधरचुम्बनादि किमपि न कृतम् । अतस्तन्निष्पाद्यकामपुरुषार्थोऽपि न समर्थित
इति भावः । अयमेव भाव उत्तरपद्यद्वयेऽप्यनुसंधेयः । अत्र बाह्यसुरते पयोधरालिङ्गनं
सुरतप्रयोज्यग्राम्यकरणे दोलायितमन्धेन ऊरुयुगलालिङ्गनमिति विवेकः । अत्र वा-
त्स्यायनीयाः—'बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविधं रतमुच्यते । तत्राद्यं चुम्बनाश्लेषन
खदन्तक्षतादिकम् । द्वितीयं सुरतं साक्षान्नानाकरणकल्पितम् ॥' इति । किंतु केवलं
अत्यन्तं मातुः जनन्या यौवनं तारुण्यं एव वनं पुष्पितोद्यानं तस्य छेदे विदारणे
वयं कुठाराः परशव एव । यौवनस्य पुत्रोत्पत्त्यवधिकत्वात्तदुच्छेदनसाधनभूता एव,
नत्वर्थान्तरसाधकाः । अतो निरर्थकमेवास्मज्जन्मेति भावः ॥ ४५ ॥

नाभ्यस्ता प्रतिवादिवृन्ददमनी विद्या विनीतोचिता

खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठदलनैर्नाकं न नीतं यशः ।

कान्ताकोमलपल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये

तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत् ॥ ४६ ॥

दम्यते भज्यतेऽनयेति दमनी भजनी । प्रतिवादिवृन्दानां प्रतिभटनिवहानां
दमनी । अथवा प्रतिवादिनां वृन्दानि दमयतीति तथोक्ता । संप्रदायशुद्ध-
देशिकाचार्यशिक्षानिवन्धनिष्कृष्टकर्तृप्रयुक्तवीर्यातिशयवर्तमानप्रतिवादिपाण्डित्यगर्वनि-
र्वाणसमर्थेत्यर्थः । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति उभयत्रापि कर्मकर्तृरित्युद् । टित्वात्
डीप् । तथा विनीतानां साधूनां उचिता । सहृदयहृदयाह्लादिनीत्यर्थः । यद्वा
विनीतानां विनयविधेयत्वादिगुणोपेतानाम् । शिक्षितानामिति यावत् । उचिता
अभ्यासार्हा । 'अभ्यासेऽप्युचितं न्याय्यम्' इत्यमरः । विद्या वेदशास्त्रपुराणादिरूपा ।
नाभ्यस्ता नाभ्यासविषयीकृता । सम्यक् न परिशीलितेति यावत् । अधीतापि विद्या
सम्यक्परिशीलनाभावे फलवदर्थवबोधापर्यवसायित्वादनधीतप्रायैव भवतीति भयात् ।
'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इति न्यायेनैतत्परिशीलनस्य कल्पोक्तेश्च सर्वथा परिशीलनयैव
प्रथमतः अनधीतैव चेत् न तत्र प्रत्युत्तरावकाशः एवं व्यवस्थायां सत्याम् 'विद्या
नाम नरस्य रूपमधिकं—' इत्यादिवचनेन कीर्तिप्रतिष्ठाविज्ञानादिफलसाधनतया
अध्ययनपूर्वकमभ्यसनीयेति बोधिता विद्यानाभ्यस्ता नाधीता च । ततः तत्साध्य-
फलजातमपि न संगृहीतमिति भावः । तथा करिकुम्भाः पीठानीव तेषां दलनैः
विदारकैः । अथवा करिकुम्भपीठानि दलयन्तीति तथोक्तानि तैः । शत्रुसेनासंरम्भ-

विजृम्भमाणकरिकुम्भस्थलपाटननिराघाटपाटवैरित्यर्थः । 'दल विदलने' इति धातोः पूर्ववलयुद् । खङ्गाग्रैः । यशः कीर्तिः । नाकं स्वर्गम् । 'स्वर्गान्तरिक्षयोर्नाकः' इत्यमरः । न नीतं न प्रापितम्, क्षत्रधर्मेण लोकान्तरश्चाधनीयकीर्तिरपि न संपादितेत्यर्थः । यथा लोके प्रासादाद्युन्नतस्थानं प्रापणीयं वस्तु वेणुदण्डाग्रादिना प्रापयन्ति तद्वदिति ध्वनिः । अथवा खङ्गाग्रैः खङ्गधाराभिः । साधनैः यानि करिकुम्भपीठानां दलनानि विदारणानि तैर्हेतुभिः । शत्रुसेनादन्तिनिवहारंतुदखङ्गप्रहारैरित्यर्थः । यशः नाकं न नीतम् । 'कीर्तिं स्वर्गफलं प्राहुरासंसारं विपश्चितः' इत्यादिवचनैः स्वसाधनत्वेन निवेदितापि कीर्तिर्न संपादिता । ततस्तत्साध्यफललाभो न जात इति भावः । अत्र क्षितितले 'किं जन्म कीर्तिं विना' इति वचनाज्जन्मसाफल्यार्थम् । कीर्तिः पृथङ्मुख्यत्वेन संपादनीयत्वादानुषङ्गिकफलत्वात्साधनान्तरत्वात्स्वर्गमात्रसाधकत्वाच्च 'स्वर्गद्वारकवाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः' इत्यनेन न पौनरुक्त्यमित्यवगन्तव्यम् । 'नाकं न नीतं यशः' इत्यत्र 'नीवह्योर्न' इति वचनाद्विकर्मकान्नयतेः कर्मणि क्तः । अत एव यशसः प्रथमान्तस्य प्रधानकर्मत्वं अन्यत्र 'अकथितं च' इति । 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां प्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः ॥' इति वचनात् । तथा चन्द्रोदये चन्द्रोदयसमये कान्तायाः प्रियतमायाः कोमलो मृदुलो यः पल्लवाधरः किसलयकल्पाधरोष्ठः तस्य रसः, अधरामृतमित्यर्थः । न पीतः नास्वादितः । 'तिक्तादौ चामृते चैव निर्यासे पारदे ध्वनौ । रसः' इति शब्दार्णवः । 'पल्लवाधरसुधा पीता' इति पाठे स्पष्टोऽर्थः । अतो न तृतीयपुरुषार्थोऽपि संपादित इति भावः । तटस्थोद्दीपनविभावश्च चन्द्रस्य शृङ्गाररसनिमित्तकारणत्वात्तदुदयोक्तिः । तदुक्तं शृङ्गारतिलके—'मलयानिलचन्द्राद्यास्तटस्थाः परिकीर्तिताः' इति । अतः तारुण्यं यौवनं शून्यालये निर्जनगेहे दीपेन तुल्यं दीपवत् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः । निष्फलं निरर्थकमेव गतम् । यथा शून्यगृहदीपस्य कस्यचिदप्यनुपयोगान्निरर्थकत्वं तथा तारुण्यस्यापि कस्यचिदप्यर्थस्यासाधकत्वान्निरर्थकत्वमित्यर्थः । अहो इत्याश्चर्ये विषादे वा । तद्वितगतयेयमुपमा ॥

विद्या नाधिगता कलङ्करहिता वित्तं च नोपार्जितं

शुश्रूषापि समाहितेन मनसा पित्रोर्न संपादिता ।

आलोलायतलोचनाः प्रियतमाः स्वप्नेऽपि नालिङ्गिताः

कालोऽयं परपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रेर्यते ॥ ४७ ॥

कलङ्करहिता निष्कलङ्का, सप्रमाणेत्यर्थः । विद्या नाधिगता नाभ्यस्ता, नाधीतेति यावत् । 'नाभ्यस्ता प्रतिवादिवृन्ददमनी-' इत्यत्र उक्तभाव एवात्रानुसंधेयः । वित्तं त्यागभोगपर्याप्तं धनं च नोपार्जितम् । 'यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः । स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ॥' इत्युक्तेः, 'धनमर्जय काकुत्स्थ ! धनमूलमिदं जगत् । अन्तरं नाभिजानामि निर्धनस्य मृतस्य च ॥' इत्यादिवचनेन च बहुफलसाधनतया अर्जनीयमित्युपदिष्टं वित्तं नार्जितम् । ततः तत्साध्यफलमपि न साधितमिति भावः । ननु 'अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे । रक्षितानां व्यये दुःखं धिगर्था दुःखभा-

जनम् ॥' इति निषेधोक्तेः कथं तदुपार्जनाभावानुशोचनमिति चेत्, सत्यम् । तस्याप्यवहिताविसंवाद्यैहिकामुष्मिकफलजनकत्वेनाभ्यर्हितत्वात्पुरुषार्थपर्यवसानाच्च न दोष इति मन्तव्यम् । तथा समाहितेन सावधानेन, प्रसन्नेनेति यावत् । मनसा । अन्तःकरणशुद्धिपूर्वकं नियमादिति भावः । पित्रोः । मातापित्रोरित्यर्थः । 'माता-पितरौ पितरौ' इत्यमरः । 'पिता मात्रा' इत्येकशेषः । शुश्रूषा परिचर्या, सेवेति यावत् । 'शुश्रूषा श्रोतुमिच्छायां परिचर्याप्रधानयोः' इति विश्वः । न संपादिता न कृता । 'मातापितृसमं दैवं सर्वेषां नहि विद्यते । तस्मात्समर्चयेन्नित्यं पितरौ देवह-पिणौ ॥' इत्यादिवचनैः परमेश्वराराधनकल्पतया बहुफलदायकत्वेन कर्तव्येति बोधिता पितृसेवा न कृता, ततस्तत्साध्यफलमपि न संपादितमिति भावः । आलोके चञ्चले तरले आयते कर्णान्तविश्रान्ते च लोचने यासां ताः, जगन्मोह-ननयनविलासवत्य इत्यर्थः । प्रियतमाः अत्यन्तमनोविनोदकारिण्यः । संभोग-योग्याः समानुरागिण्यस्तरुण्य इत्यर्थः । अन्यथा रसाभासप्रसङ्गात् । स्वप्नेऽपि नालिङ्गिताः । एतेनात्यन्तमिथ्याभूतस्वप्नालिङ्गनाद्यभावानुशोचनेन जाग्रदृशायां त-स्यात्यन्तासंभावितत्वं सूच्यते । ननु कामनिष्पत्त्यर्थमङ्गनालिङ्गनाधरचुम्बनादि-कमावश्यकम् । तत्र पूर्वश्लोकेऽधरचुम्बनमुक्तम् । किंतु पूर्वतरश्लोकोक्तमेवालिङ्गनं पुनरत्राप्युक्तम्, अतः पौनरुक्त्यदोषः प्रसक्त इति चेत्, -न; तत्र कतिपयालिङ्गना-भावमात्रानुशोचनम् । अत्र तु सर्वाङ्गनालिङ्गनाभावानुशोचनमिति न दोषप्रसक्तिरिति वेदितव्यम्, किंत्वयं परिवर्तमानः कालः काकैः बलिभुग्भिरीव, अस्माभिरिति शेषः । परपिण्डेषु पराक्षेपु लोलुपतया लालसतया । सावमानपरपिण्डादनकुक्षिभरितयेत्यर्थः । प्रेर्यते याप्यते न त्वर्थसाधकतयेति भावः । 'परान्नः परपिण्डादः' इत्यमरः । 'प्रपूर्वादीरयतेः कर्मणि लट्' । एतत्सर्वं कालविलसितमेवेति तात्पर्यम् । यद्यप्यत्र वैराग्यप्रकरणे धर्मार्थपितृशुश्रूषाविद्यायशोधिगमानां यथाकथंचित्पुरुषार्थोपयोगितया तदभावानुशोचनं वक्तुं युक्तं नत्वङ्गनालिङ्गनादिसंभोगाभावानुशोचनम्, तदपि श्लोक-त्रयेण त्रिवारशुद्ध्यर्थं कथयितुमत्यन्तायुक्तम् । ननु विद्याध्ययनाभावे द्विवारानुशोचनं न युक्तमिति चेत्, न । तस्या उपादेयत्वेन शतकृत्वस्तदभावानुशोचनेऽप्यनौचित्या-भावात् । अन्यस्य त्वनुपादेयत्वादेतदनुशोचनमनुचितमिव प्रतिभाति । तथापि तस्यापि पुरुषार्थमध्यपरिगणनया संपातापातत्वात्, प्रसूतिभाजो विश्वस्य स्त्रीपुंसा-भ्यामेव निष्पन्नत्वात्, कामस्य पुरुषार्थत्वेन च पित्रर्णविमोचनहेतुभूततया चेदृश-शास्त्रस्य महापुरुषप्रणीतत्वात् 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' इति भगवद्वचनात्तद्विरुद्धस्यैवानुपादेयत्वात्, अत्र तु तदविरुद्धस्यैतत्कामस्य विवक्षितत्वे-नोपादेयत्वाच्च तदेवानुशोचितमुचितम् । यद्वा लोके तावदुत्तमवस्त्वलाभे अधमव-स्त्वपेक्षा तस्याप्यलाभे तदनुशोचनं प्रायशः प्रसिद्धं यथा पिपासितस्यालब्धशर्करापा-नकस्यारनालापेक्षायां तदलाभेऽनुशोचनं उद्यत्कालविप्रलब्धस्याधिगतपरमार्थानाम-पेक्षायां तदलाभेऽनुशोचनमुचितमेव । अत एव श्लोकत्रयेऽपि प्रतिश्लोकं पूर्वार्धे उत्तममध्यमभेदेन पक्षद्वयाभावानुशोचनमुक्त्वा अधमत्वातिशयेन तृतीयपक्षे तदभावानुशोचनमुक्तमित्यवगन्तव्यम् ॥ ४७ ॥

अथ कालकलनाविपाकवचनमाह—

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिचिता एव खलु ते

समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।

इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना

गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ॥ ४८ ॥

वयं येभ्यो मातापितृभ्यो जाता उत्पन्नाः ते चिरपरिचिता एव चिरकालपरिच-
यवन्त एव नष्टा एवेत्यर्थः । 'खलु'शब्दोऽत्र निश्चये वाक्यालंकारे वा । तथा यैर्जनैः
समं संवृद्धाः सम्यग्वृद्धिं गताः । 'संवृद्धाः' इति पाठे प्रावृता इत्यर्थः । तेऽपि
स्मृतिविषयतां स्मरणगोचरत्वं गमिताः प्रापिताः । कालेनेति शेषः । तेऽपि नष्टा
इत्यर्थः । गमेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । 'गतिबुद्धि-' इत्यादिना अणिकर्तुः कर्मणि 'ण्यन्ते कर्तुश्च
कर्मणः' इति वचनात् । अथवा गमिताः गता इत्यर्थः । स्वार्थे णिचि 'रामो राज्य-
मकारयत्' इतिवत् । इदानीं वार्धकावस्थायामेते वयं प्रतिदिवसं प्रत्यहम् । यथार्थेऽ-
व्ययीभावः । आसन्नं समीपवर्ति पतनं निधनं येषां ते तथोक्ताः । अतएव सिकता-
स्मिन्नस्तीति सिकतिलं सैकतप्रायम् । 'देशे लुबिलचौ च' इत्यनेन ततस्तस्मिन्नित्यर्थे
इलच्प्रत्ययः । यन्नदीतीरं नदीतटप्रदेशः तत्र ये तरवः वृक्षाः तैः तुल्यावस्थां गताः
समदशां प्राप्ताः स्मः, क्षिप्रमेव यास्याम इत्यर्थः । एतत्सर्वं कालकृतमेव, अन्यथा
कथमन्यस्येदृक्सामर्थ्यमिति भावः । अत्र तरङ्गभङ्गाघातैः सिकतापनयेऽविलम्बेन
तरुणां निर्मूलोन्मूलः । तद्ध्योतनार्थं नदीतीरस्य सिकतिलविशेषणम् । 'ह्रीं शर्करा
शर्करिलः शर्करः शर्करावति । देश एवादिमावेवमुच्चेयाः सिकतावति ॥' इत्यमरः ।
शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४८ ॥

अथ प्राणिनां विचार्यमाणे सुखलेशस्याप्यवकाशो नास्तीत्याह—

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्थं गतं

तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः ।

तेषां व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते

जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ॥ ४९ ॥

नृणां मर्त्यानां आयुः जीवितावधिकालो वर्षशतं शतसंवत्सरात्मकं परिमितं हृत्तम् ।
ब्रह्मणेति शेषः । 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः' इत्यमरः । तदर्थं
तस्य वर्षशतस्यार्धं पञ्चाशद्वत्सरात्मकं रात्रौ गतम् । इन्द्रियव्यापारोपरमरूपनिद्रावस्थया
गलितं भवतीत्यर्थः । परस्य तस्य जागरूकेण वर्तमानस्य अर्धस्य पञ्चाशद्वत्सरात्मकस्य
अपरं अन्यदर्थं पञ्चविंशतिसंवत्सरात्मकं बालत्ववृद्धत्वयोः गतम्, अज्ञानाशक्तत्वा-
वस्थाविषयतया नष्टमित्यर्थः । द्वादशसंवत्सरात्मकमेकमर्धं बालत्वे, अन्यद्वृद्धत्व इति
विवेकः । शेषं पञ्चविंशतिसंवत्सरात्मकमेतदवशिष्टार्धं व्याधिभिः रोगैः वियोगदुःखैः
पुत्रकलत्रादिविरहप्रयुक्तदुःखैः सहितं सत् सेवादिभिः स्वजीवनार्थं वित्तवत्परिचर्या-
दिदृष्टकर्मभिः नीयते अतिवाह्यते । अतः वारितरङ्गचञ्चलतरे अतिचञ्चले । क्षणिक
इत्यर्थः । जीवे जीवने प्राणिनां सौख्यं सुखं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । उक्तरीत्या
विचार्यमाणे सुखलेशस्याप्यनवकाशादिति भावः । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४९ ॥

अथ कालत्रययुक्तवाल्याद्यवस्थाक्रमेण मर्त्यः सर्वोऽपि म्रियत इत्युपसंहरति—

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः

क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च संपूर्णविभवः ।

जराजीर्णैरङ्गैर्नट इव वलीमण्डिततनु-

नरः संसारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम् ॥ ५० ॥

क्षणं क्षणमात्रम्, ईषत्कालमित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । बालः शिशुः भूत्वा तथा क्षणमपि कामेन मन्मथेन रसिकः शृङ्गाररसाभिनिविष्टः । यद्वा काम्यन्ते अभिलष्यन्त इति कामाः कामिनीसंभोगादिविषयाः तेषु रसिकः अनुरागवान्, युवा तरुणश्च भूत्वा । तथा क्षणं वित्तैर्हीनः निर्धनो भूत्वा । क्षणमपि च संपूर्णविभवः परिपूर्णधनश्च भूत्वा । 'अर्थरैर्विभवा अपि' इति धनपर्यायेष्वमरः । तथा क्षणं जरया जीर्णैः शिथिलैः, विश्लष्टसंधिवन्धैरिति यावत् । अङ्गैरुपलक्षितः अत एव वलीभिः विश्लथ-चर्मभङ्गीभिः मण्डिता भूषिता, चिह्नितेति यावत् । 'मण्डि भूषणे' इति धातोः कर्मणि क्तः । तनुः गात्रं यस्य तथोक्तो भूत्वा । नरः, सर्वोऽपीत्यर्थः । नटः तत्तद्वेषधारी नर्तक इव । संसारस्य बाल्ययौवनाद्यवस्थानुभवरूपसंसारकपटनाटकस्य नाट्यप्रवर्तका-डम्बरस्य च अन्ते अवसाने । यमो धीयतेऽत्रेति यमधानी संयमिनीनाम्नी यमपुरी । 'करणाधिकरणयोश्च' इति ल्युट् । टित्वात् ङीप् । सा यवनिका प्रतिसीरा तिरस्करिणीव तां विशति मृतो भवति, अन्यत्र प्रविष्टो भवतीत्यर्थः । 'प्रतिसीरा यवनिका' इत्यमरः । नवविशेषणानि योज्यानि । उपमालंकारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५० ॥

इति वैराग्यशतकव्याख्याने कालमहिमानुवर्णनं नाम पञ्चमं दशकम् ।

(अथ यतिनृपतिसंवादवर्णनम् ।)

अथ इह कश्चित्कुतश्चिद्वाग्योदयादित्थंभूतकालवैषम्यं ज्ञात्वा वैराग्याद्यदि यतिर्भवेत् तदा नैरपेक्ष्यस्तृणमिव जगज्जालमालोक्यन्नवधीरितानुवर्तनेच्छुः राज्ञा सह संवादं कर्तुं शक्नुयात् नान्यथा । अतो निरङ्कुशत्वयतिभावोऽवश्यं संभावनीय इति विवेकिनां ज्ञापयितुं तत्संवादप्रकारमाह—

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः

ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः ।

इत्थं मानधनातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं

यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः ॥ ५१ ॥

त्वम् । रजयतीति राजा, महोन्नत इत्यर्थः । वयमपि उपासिताः सेविता गुरवः आचार्याः यया सा तथोक्ता । 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति श्रुतेः । निरन्तरगुरुसेवा-तत्परेत्यर्थः । यद्वा उपासिता गुरुपासनावशात् संपादिता गुरुः श्रेष्ठा च या प्रज्ञा त्रैकाल्यगोचरबुद्धिविशेषप्रवृत्तिः तथा योऽभिमानः आग्रहः तेन उन्नताः उत्कृष्टाः । त्वं विभवैः धनसंपद्भिः ख्यातः सर्वत्र प्रसिद्धः । तथा कवयः विद्वांसः । यद्वा

विचित्रप्रबन्धवचनरचनाचातुरीधुरीणप्रतिभासंपन्नाः कवयितारः नः अस्माकं यशांसि कीर्तीः दिक्षु दिगन्तरालेषु प्रतन्वन्ति विस्तारयन्ति । एते महान्तः संततपरिचर्या-भिनन्दिताचार्यकृपाकटाक्षलब्धप्रज्ञाभिमानमानसमहोत्सवशालिनः ज्ञानविज्ञानसंपन्ना मोक्षसाम्राज्यपट्टबद्धास्तृणीकृतब्रह्मपुरंदरा इत्यस्मानपि कीर्तयन्तीत्यर्थः । तस्माद्वयमपि ख्याता एवेति भावः । अतः इत्थं अनेन प्रकारेण त्वं च अहं च आवां तयोः । 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' इत्येकशेषः । उभयोरपि अन्तरं तारतम्यं मानधनाभ्यां अतिदूरं अत्यन्तविप्रकृष्टम् । त्वं केवलं धनवान्, वयं तु प्रज्ञाप्रयुक्ताभिमानधनवन्तः अतस्तव चास्माकं च सुमेरुसर्षपयोरिव महदन्तरमित्यर्थः । अतस्त्वमस्मासु विषये पराङ्मुखः अनादरपरोऽसि यदि, तर्हि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहा निरपेक्षाः, अनादरपरा इत्यर्थः । त्वयीति शेषः । अनादरे व्यवस्थाने संसारे नास्माकमत्र प्रयोजनमस्ति । तवास्मास्वादरश्चेत् अस्माकमपि त्वग्यादरः । तद्वशादत्र स्थास्यामः । अन्यथान्यत्र गमिष्याम इति भावः । अत्र 'त्वं राजा वयं-' इत्युपक्रमे 'वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः' इत्युपसंहारे बहुवचनं प्रयुज्य 'आवयोः' इति द्विवचनप्रयोगः कथमुपयुज्यत इति चेत्, सर्वेषां समुदायविवक्षया आत्मसंभावनायां बहुवचनप्रयोगेण वा युक्तत्वाच्च कोऽपि विरोधः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ५१ ॥

उक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीशमहे यावदर्थं

शूरस्त्वं वादिदर्पव्युपशमनविधावक्षयं पाटवं नः ।

सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा

मय्यप्यास्था न ते चेत्त्वयि मम नितरामेव राजन्ननास्था ॥ ५२ ॥

त्वं अर्थानां धनानां ईशिषे ईश्वरो भवसि । तथा वयमपि च यावानर्थो यावदर्थं यावदभिधेयं, यथा तथेत्यर्थः । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तु-प्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । गिरां शास्त्रवचनानां ईशमहे, अशेषशास्त्रविभवार्थानां प्रभवाम इत्यर्थः । 'विद्महे' इति पाठे गिरां यावदर्थम्, अशेषविशेषार्थमित्यर्थः । विद्महे जानीमहे । यथा त्वं शूरः शौर्यवान्, रिपुदलन इति शेषः । तथा नः अस्माकं वादिदर्पव्युपशमविधौ प्रतिवादिगर्वनिर्वापणविधाने । 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः । अक्षयं अविनाशि पाटवं सामर्थ्यम्, अस्तीति शेषः । त्वां धनाढ्या धनास्वामिनः । 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी' इत्यमरः । सेवन्ते भजन्ते । तदविनाशार्थं तदभिवृद्ध्यर्थं चेति भावः । यद्वा धनाढ्या धनाढ्यत्वाभिलाषिणः । राजसेवया धनसंपादनेच्छया इत्यर्थः । त्वां सेवन्ते । मामपि । अस्मानपीत्यर्थः । मतिमलहतये बुद्धिजाड्यनिवृत्त्यर्थम् । 'यस्तु पर्यटते देशान्यस्तु सेवेत पण्डितान् । तस्य विस्तारिता बुद्धिस्तैलबिन्दुरिवा-म्भसि ॥' इति वचनादिति भावः । यद्वा मतिमलानि रागद्वेषादयः तेषां हतये प्रक्षालनार्थम्, बुद्धिशुद्धिद्वारा ज्ञानावाप्त्यर्थमित्यर्थः । श्रोतुं कामोऽभिलाषो येषां ते श्रोतुकामाः शुश्रूषवः । 'गुरुमुखाच्छ्रोतव्यम्' इति न्यायेनास्मन्मुखाच्छास्त्रार्थश्रवणे-च्छवः । 'गुरुशुश्रूषया विद्या' इत्युपदेशवचनविश्वासवन्तः शिष्या इत्यर्थः । सेवन्त इति संबन्धः । 'तुं काममनसोरपि' इति तुमुनो मकारलोपः । अतः हे राजन्! ते

सु. त्रि. १३

मय्यपि आस्था न चेत् अनादरो यदि, तदा मम त्वय्यपि नितरां अत्यन्तम् ।
अव्ययादाम्प्रत्ययः । अनास्था । निरपेक्षत्वादिति भावः । किं त्वेषोऽहं गतोऽस्मि,
अन्यत्र गमिष्यामीत्यर्थः । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानप्रत्ययः । स्वस्य निरङ्कुशत्वद्योतनार्थं
एतच्छब्दप्रयोगः । पूर्वश्लोकोक्तभाव एवात्राप्यनुसंधेयः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ५२ ॥

अथ कथमन्यत्र गमिष्यसीत्याशङ्क्यामस्माकं नित्यसंतुष्टान्तःकरणत्वाच्च किञ्चिदपि
कृच्छ्रमित्याह—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः

सम इव परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।

स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला

मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥ ५३ ॥

हे राजन् ! वयमिहेदानीं वल्कलैः दारुत्वद्वनिर्भितचीवरैः परितुष्टाः संतुष्टाः । त्वं
दुकूलैः क्षौमैः, विचित्रचीनाम्बरैरित्यर्थः । 'परितुष्ट' इति वचनविपरिणामेन संबन्धः ।
परितोषः संतोषः अस्माकं तव सम इव तुल्य एव । इवशब्दोऽत्रावधारणार्थकः ।
विशेषः अन्यतरोत्कर्षस्तु निर्विशेषो विशेषरहितः । मामकतावकपरितोषयोरन्तरं न
किञ्चिदप्यस्तीत्यर्थः । 'सम इव परितोषो जायते को विशेषः' इति वा पाठः । किं तु
यस्य पुंसः तृष्णा धनलिप्सा विशाला अत्यायता स पुमान् दरिद्रोऽकिञ्चनो भवतु,
नान्य इत्यर्थः । संभावनायां लोट् । कथमेतदित्याशङ्क्योक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन
द्रढयति—मनसि च परितुष्टे येन केनचित्संतुष्टे सति कः पुमानर्थवान् द्रव्यसंपन्नः,
कश्च वा दरिद्रः द्रव्यहीनः ? न कोऽपीत्यर्थः । मनःपरितोषे लाभालाभयोरकिञ्चित्कर-
त्वादिति भावः । अतो न किञ्चिदप्यस्माकं कृच्छ्रमिति वेदितव्यम् । मालिनी वृत्तम् ॥ ५३ ॥

तथापि शरीरयात्राया अन्यथासंभाव्यमानत्वाच्च दुर्जनाविनयं सोढुं शक्नो-
मीत्याह—

फलमलमशनाय स्वादु पानाय तोयं

क्षितिरपि शयनार्थं वाससे वल्कलं च ।

नवधनमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणा-

मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥ ५४ ॥

फलं अशनाय भोजनाय, क्षुत्रिवारणार्थमित्यर्थः । अलं पर्याप्तम् । अलमिति
पर्याप्त्यर्थग्रहणात् 'नमःस्वस्ति—' इत्यादिना चतुर्थी । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । तथा
स्वादु मधुरम् । 'त्रिष्विष्टे स्वादु मधुरे' इत्यमरः । तोयं उदकं पानाय । तृष्णोपशा-
न्यर्थमित्यर्थः । अलम् । तथा क्षितिरपि शयनार्थं संवेशनाय अलम् । तथा वल्कलं
च वाससे आच्छादनार्थं अलम् । अतः नवं सद्यःसंभावितं यद्धनं तदेव मधुपानं
मद्यपानं तेन भ्रान्तानि अमार्गवर्तानि सर्वाणीन्द्रियाणि येषां तेषां धनमधुपानस्य
चित्तविकाराविवेकादिकारित्वेन यथाकथंचिद्विवेकलेशसंभवे तन्निवृत्तिर्धनविशेषणम् ।
अतस्तस्य दुर्जनानां दुर्मार्गशालिनां अविनयं दुर्विनयम्, अनादरमिति यावत् । अनु-
गन्तुं अङ्गीकर्तुं नोत्सहे न मृष्यामि । सति गत्यन्तरे किमर्थं सोढव्यमिति भावः ।
वृत्तं पूर्ववत् ॥ ५४ ॥

एनमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—

अशीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि ।

शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः ॥ ५५ ॥

वयं भिक्षां भिक्षान्नमशीमहि भोक्ष्यामः । ‘अश भोजने’ इत्यस्माद्धातोर्लिङ् । आत्मनेपदोत्तमपुरुषबहुवचनम् । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । तथा आशा दिश एव वासो वसीमहि आच्छादयिष्यामः, दिगम्बरा भविष्याम इत्यर्थः । महीपृष्ठे भूतले शयीमहि स्वप्यामः । अतः ईश्वरैः राजभिः किं कुर्वीमहि किं करिष्यामः ? न किमपीत्यर्थः । शरीरयात्रायाः अन्यथैव संभाव्यमानत्वादिति भावः । इत्थं स्थितित्वमेव ब्रह्मनिष्ठयतिलक्षणम् । तदुक्तं महाभारते उद्योगपर्वणि धृतराष्ट्रं प्रति सनत्सुजातेन— ‘येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः । यत्र कचनशायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥’ इति । उक्तं च श्रीमद्भागवते—‘चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नो वाङ्मियाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन् । रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपपन्नान् कस्माद्भजन्ति यतयो धनदुर्मदान्धान् ॥’ इति । तथा चोक्तं शिवगीतायाम्—‘संवीतो येन केनाश्रन्भक्ष्यं वाभक्ष्यमेव वा । शयानो यत्र कुत्रापि सर्वात्मा मुच्यतेऽत्र सः ॥’ इति । अनुष्टुप्वृत्तम् ॥ ५५ ॥

अथ स्वस्य राजदर्शनायोग्यतायाः प्रकटनापदेशेन तं निन्दति—

न नटा न विटा न गायका

न च सभ्येतरवादचुञ्चवः ।

नृपमीक्षितुमत्र के वयं

स्तनभारानमिता न योषितः ॥ ५६ ॥

वयं नटाः विविधवेषधारिणो विचित्रनाट्यनिपुणा न, न भवाम इत्यर्थः । येन नयनानन्दो भवेदिति भावः । विटा एकविद्या नायकानुकूलनचतुराः न भवामः । येन ततन्नायिकानुकूल्यप्रयोजनं सिद्ध्येदिति भावः । तदुक्तमलंकारशास्त्रे—‘नायकानां नायिकानुकूलने सहायाः पीठमर्दविटचेटविदूषकादयः’ इति । तल्लक्षणं च तत्रैव—‘किंचिदूनः पीठमर्द एकविद्यो विटः स्मृतः । संधानकुशलश्चेटो हास्यप्रायो विदूषकः ॥’ इति । गायन्तीति गायकाः संगीतकुशलाः ते न भवामः । येन श्रवणानन्दो भवेदिति भावः । सभायां साधवः सभ्याः । ‘तत्र साधुः’ इति यत्प्रत्ययः । तेभ्य इतरे ये वा अशिष्टगर्ह्यालापाः साधारणजनमनोविनोदमात्रपर्यवसायिनः, न तु शास्त्रसंवादिन इत्यर्थः । यद्वा सभ्या विद्वांसः, तदितरे साधारणजनाः तेषां वादास्तद्वदनयोग्यवाक्यानि तैर्वित्ताः चुञ्चवः, हास्यकारिण इत्यर्थः । न भवाम इत्यर्थः । येन मनोविनोदो भवतीति भावः । ‘तेन वित्तशुश्रुषुपचणपौ’ इति । चुञ्चुप्रत्ययः । तथा स्तनभारैः कुचकुम्भभारैः आनमिताः ईषन्नम्राङ्ग्यः योषितोऽपि न भवामः, येन संरम्भसंभोगौत्सुक्यं भवेदिति भावः । अतो नृपं राजानं ईक्षितुं द्रष्टुम् अत्र नटादिषु वयं के ? न केचिदित्यर्थः । एतेषामन्यतरत्वे योग्यता स्यादिति भावः । एतेनासभ्यानामेवावकाशप्रदः, न तु सभ्यानामिति नृपस्य निन्दा गम्यते । ‘नृप वीक्षितुम्’ इति पाठे हे नृपेत्यामन्त्रणम् । त्वामिति शेषः । अन्यदुक्तार्थम् ।

वैतालीयाख्यमर्धसमवृत्तम्—‘षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्ना निरन्तरः ।
न समात्रपराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ॥’ इति लक्षणात् ॥ ५६ ॥

निन्दामेव चतुर्भिः प्रपञ्चयति—

विपुलहृदयैरीशैरेतज्जगज्जनितं पुरा

विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा ।

इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते

कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः ॥ ५७ ॥

पुरा पूर्वकाले विपुलहृदयैः महामानसैः, उदारबुद्धिमिरित्यर्थः । ईशैः हरिश्चन्द्रादि-
सार्वभौमैः एतत् परिदृश्यमानं जगत् भूमण्डलं जनितं उत्पादितम् । समग्रधर्मा-
चरणेन संस्थापितमित्यर्थः । तथापरैः ययातिप्रभृतिमिरीश्वरैः विधृतं विशेषेण धृतम् ।
सम्यक्परिपालितमित्यर्थः । तथान्यैः बलिप्रभृतिभिः विजित्य शत्रुजयेन स्ववशं कृत्वा
तृणं यथा तृणमिव दत्तं अर्थिसात्कृतम् । एतेनैतेषां महौदार्यं सूच्यते । इह हि
इदानीमपि अन्ये धीराः धैर्यशालिनः । चतुर्दशभुवनानि भूरादिचतुर्दशविष्टपानि
भुञ्जते अनुभवन्ति, तादृक्सामर्थ्यसंपन्नास्तिष्ठन्तीत्यर्थः । ‘भुज पालनाभ्यवहारयोः’
इति धातोः लट् । ‘भुजोऽनवने’ इत्यात्मनेपदम् । अतः कतिपयानि च तानि
पुराणि च तेषाम्, द्वित्राणां पञ्चषाणां वा पुराणामित्यर्थः । स्वाम्ये आधिपत्ये सति
पुंसामेष परिदृश्यमानो मदो दर्प एव ज्वरः संनिपातज्वरः बुद्धिभ्रंशहेतुत्वात् कः ।
किमर्थमित्यर्थः । अतः पुरातनमहाराजचरितानुस्मरणाल्लजितव्यम्, नतून्मत्तेन
भवितव्यमिति भावः । हरिणी वृत्तम् ॥ ५७ ॥

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न जातं नृपशतै-

र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभृताम् ।

तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेखेऽपि पतयो

विषादे कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम् ॥ ५८ ॥

नृपशतैरनेकभूपालकैर्यस्यां भुवि अभुक्तायां अननुभूतायां सत्यां क्षणं क्षणमात्रमपि
न जातम् । किंतु क्षणमात्रव्यवधानरहितमेवानुभूयते इत्यर्थः । तस्या भुवो लाभे
प्राप्तौ क्षितिभृतां राज्ञां क इव । इवशब्दो वाक्यालंकारे । ‘इवेतीषदर्थोपमावाक्या-
लंकारेषु’ इति गणव्याख्याने । बहुमानः उत्कर्षः, न कोऽपीत्यर्थः । सर्वसाधारण्यादिति
भावः । किंतु तस्या भुवोऽंशस्यापि अंशे भागे च तथा तस्य अंशस्य योऽवयव
एकदेशः तस्य लेखे । अत्यल्पकोणेऽपि चेत्यर्थः । पतयः ईश्वराः जडा मन्दाः विषादे
स्वल्पतमभूखण्डाधिपतयो वयं जाता इति विषादे दुःखे कर्तव्ये सति प्रत्युत
वैपरीत्येन मुदं संतोषं विदधति कुर्वन्ति । मोदन्त इत्यर्थः । अहो महानयमेतेषाम-
विवेक इत्यर्थः । ‘प्रत्युतेत्युक्ते वैपरीत्ये’ इति गणव्याख्याने । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५८ ॥

आस्तां तावत्क्षुद्रनृपवार्ता । तद्याज्जापरास्तु ततोऽप्यत्यन्तक्षुद्रा इत्याह—

मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः सर्वोऽप्ययं नन्वणुः

स्वांशीकृत्य तमेव संगरशतै राज्ञां गणा भुञ्जते ।

ते दद्युर्ददतोऽथवा किमपरं क्षुद्रा दरिद्रा भृशं

धिग्धिक्तान्पुरुषाधमान्धनकणान्वाञ्छन्ति तेभ्योऽपि ये ५९

जलरेखया समुद्राकारजलरेखया जलधारया वलयितः वेष्टितः पुञ्जीकृतश्च योऽयं परिदृश्यमानः सर्वः अशेषोऽपि मृत्पिण्डश्च अणुर्ननु तं तादृशं मृत्पिण्डमेव संगरश-
तैर्युद्धशतैः स्वांशीकृत्य स्वभागीकृत्य ये राज्ञां गणः भुञ्जते अनुभवन्ति ते राजगणाः
दद्युर्हि अर्थं वितरेयुर्वा । ददातेर्भविष्यति लिङ् । अथवेति पक्षान्तरे । ददतः वितरन्तो
वा । ददातेः वर्तमाने शत्रुप्रत्ययः । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः । अपरं अन्यदुष्करं
किमस्ति, किमपि नास्त्येवेत्यर्थः । भृशं अत्यर्थं क्षुद्रा हीनाः दरिद्रा दीनाश्च । अनेकसंयुग-
क्लेशार्जितमृत्पिण्डभोक्तृत्वात् क्षुद्रत्वं तत्राप्यंशभागित्वादरिद्रत्वं चावगन्तव्यम् । तत-
स्तेभ्यः क्षुद्रदरिद्रेभ्यो राजगणेभ्यो ये पुरुषाधमाः धनकणान् धनलेशान् वाञ्छन्ति
अमिलषन्ति, तान्पुरुषाधमान्मानुषपाशान् धिक् धिक् । कूर्पराधःप्रसृतजलपातवत्
तथाविधक्षुद्रयाज्जायाः परमनैच्यावहत्वात्तद्याचितारस्ततोऽपि नीचास्ते नराधमाः,
पौनःपुन्येन निन्द्या इत्यर्थः । 'धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयोः' इत्यमरः । 'उभसर्वतसोः कार्या
धिगुपर्यादिषु त्रिषु । द्वितीयात्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥' इति वचनात्पुरुषाध-
मानिति द्वितीया । वीप्सायां द्विर्भावः । स्वदग्धकुक्षिकुण्डपूरणैकप्रयोजनायाः पुरुषाधम-
त्वजनन्याः क्षुद्रयाज्जाया धिकारं विधाय स्वतःसिद्धानन्दनिर्व्याकुलस्य पुरुषोत्तमत्वजन-
कस्य यतिभावस्यैव जीवानुमार्गणं विधेयमिति तात्पर्यम् । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ५९ ॥

किं बहुना स एव सफलजन्मेति निगमयति—

स जातः कोऽप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं

कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलंकारविधये ।

नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना

नमद्भिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः ॥ ६० ॥

स पुमान् कोऽपि कश्चिदेव जातः सफलजन्मासीत्, न सर्वं इत्यर्थः । कोऽसा-
वित्यत आह—यस्य पुंसः धवलं शुभ्रं कपालं शिरोऽस्थि मदनरिपुणां शंभुना उच्चैः
उन्नते । सर्वोपरि वर्तमाने इत्यर्थः । मूर्ध्नि निजमस्तके अलंकारविधये भूषणविधानाय
विनिहितं निक्षिप्तम् । स एक एवेति संबन्धः । सकलसुरासुरमौलिखचितमणिप्रभा-
दीपितपादारविन्दस्य कैलासमेरुगिरीश्वरस्य भगवतः शंभोः कपालशेखरत्वादिति
भावः । किं त्वधुना इदानीं प्राणत्राणे तुच्छप्राणसंरक्षणे प्रवणा सक्ता मतिर्येषां तैः
तथोक्तैः अत एव नमद्भिः नमस्कुर्वाणैः कैश्चित् कतिपयैः एव नृभिः मनुष्यैः ।
हेतौ तृतीया । अथवा नमद्भिः पुंसां नरवरमन्यानां राज्ञां अयं परिदृश्यमानः
अतुलो निःसीमा यो दर्पः मदः स एव ज्वरभरः ज्वरोद्रेकः, अपभ्रंशहेतुत्वात् ।
कः ? किमर्थमित्यर्थः । मरणानन्तरमपि यस्य शिरः आदरपूर्वकं महदुपादेयं भवति,
स एव सफलजन्मा पुरुषोत्तमश्च । अन्यः सर्वोऽपि निष्फलजन्मा पुरुषाधमश्चेति
भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ६० ॥

इति वैराग्यशतकव्याख्याने यतिनृपतिसंवादवर्णनं नाम षष्ठं दशकम् ।

(अथ मनःसंबोधननियमनम्)

अथ मनोनियमनदक्षस्यैव यतित्वात्तत्प्रसङ्गानन्तरं मनःसंबोधनपूर्वकं तन्नियमनप्रकारमाह—

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा

प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदय ! क्लेशकलितम् ।

प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तामणिगणो

विविक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ॥ ६१ ॥

हे हृदय ! प्रतिदिवसं अनुदिनं बहुधा बहुप्रकारैः । 'प्रकारवचने थाल्' । परेषां चेतांसि आराध्य प्रसाद्य । तत्कालोचितानुवर्तनैरुन्मुखीकृत्येत्यर्थः । क्लेशेन अतिप्रयासेन कलितं संपादितं प्रसादं अनुग्रहं नेतुं प्रापयितुम्, मनांस्येवेत्यर्थः । नयतेर्द्विकर्मकात्तुमुन्प्रत्ययः । विशसि किम् ? प्रवर्तसे किमित्यर्थः । अथ यथाकथंचित्परचित्प्रसादनेनाभिलषितं साधयिष्यामि, अतः किमर्थमेवं निषिध्यत इत्याह—प्रसन्न इति । त्वयि अन्तः अभ्यन्तरे प्रसन्ने समाहिते सति । बहिर्मुखत्ववैमुख्येन स्वस्थान एव स्थिते सतीत्यर्थः । स्वयं स्वप्रयत्नं विनैवेत्यर्थः । उदितः आविर्भूतः चिन्तामणिगणः । चिन्तारत्ननिचयरूप इत्यर्थः । एवमेव चिन्तामणिरशेषाभिलषितदानसमर्थः, तद्गुणश्च किं वक्तव्य इति भावः । विविक्तो निष्कलङ्कः । संकल्प इच्छाविशेषः । ते तव अभिलषितं वाञ्छितं न पुष्यति किं न पूरयति किम् ? पूरयत्येवेत्यर्थः । अथवा किं वाभिलषितं न पुष्यति ? सर्वमपि पुष्यत्येवेत्यर्थः । अतः आत्मप्रसन्नैवाभिलषितप्राप्तौ किमन्यप्रसादनायासेनेत्यर्थः । अन्यथा सर्वक्षेत्रं विद्यायारण्यकर्षणन्यायः प्रसज्येतेति तात्पर्यम् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ६१ ॥

एवं मनःप्रसादे गुणमुक्त्वा तस्यागुणत्वमाह—

परिभ्रमसि किं मुधा कचन चित्त ! विश्राम्यतां

स्वयं भवति यद्यथा भवति तत्तथा नान्यथा ।

अतीतमननुस्मरन्नपि च भाव्यसंकल्पय-

न्नतर्कितसमागमाननुभवामि भोगानहम् ॥ ६२ ॥

हे चित्त ! मुधा व्यर्थं किं किमर्थं परिभ्रमसि संचरसि ? न संचरितव्यमित्यर्थः । प्रयोजनाभावादिति भावः । तर्हि किं कर्तव्यमत आह—कचन कुत्रचित्स्थले विश्राम्यतां स्थीयताम्, स्वस्थान एव स्वैरं वर्ततामित्यर्थः । नन्वेवं चेत्कथं कार्यसिद्धिरित्यत आह—यत्कार्यं यथा येन प्रकारेण भवति, तत्तथा स्वयं अप्रयत्नेनैव भवति । अन्यथा वैपरीत्येन न भवति । 'यद्भावि तद्भवत्येव' इत्यादिवचनात्सर्वमेतद्देवायत्तमेवेति भावः । अतो विश्राम्यतामिति संबन्धः । विश्रमे किं फलमित्यत आह—अहं अतीतं अतिक्रान्तं अर्थं अननुस्मरन् अचिन्तयन्, अननुशोचयन्नित्यर्थः । तथा भावि चापि भविष्यदर्शमपि च । वस्तुसामस्ये नपुंसकत्वनिर्देशः । असंकल्पयन् अनाकाङ्क्षन् अतर्कितः । अनभ्यूहितः समागमः येषां तान् अचिन्तितोपनतान्

भोगान् विषयान् अनुभवामि दैववशात्संभावितार्थान्भोक्ष्यामि । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानप्रत्ययः । यद्वा अनुभवामि भुञ्जे, अतो मदर्थं न परिभ्रमितव्यमिति भावः । एवं चेत्परमेश्वरस्याप्यवश्यं प्रियो भवेयमिति तात्पर्यम् । तदुक्तं भगवता—‘यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति । शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥’ अन्यत्राप्युक्तम्—‘गतार्थान्नानुशोचन्ति नार्थयन्ते मनोरथान् । वर्तमानेन वर्तन्ते तेन मे पाण्डवाः प्रियाः ॥’ इति । पृथ्वीवृत्तम् ॥ ६२ ॥

अथ विशिष्य संबोधनप्रकारमेवाह—

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थगहनादायासकादाश्रय

श्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारपक्षं क्षणात् ।

स्वात्मीभावमुपैहि संत्यज निजां कल्लोललोलां गतिं

मा भूयो भज भङ्गुरां भवरतिं चेतः ! प्रसीदाधुना ॥ ६३ ॥

हे चेतः ! एतस्मात् परिदृश्यमानात् आयासयतीत्यायासकात् दुःखजनकात् इन्द्रियार्थाः शब्दादिविषया एव गहनं अरण्यं तस्मात् । दुर्विगाहत्वादेतद्रूपणम् । विरम विरामं प्राप्नुहि, अत्यन्तदुःखविषयासक्तिं मा कुर्वित्यर्थः । ‘जुगुप्साविराम—’ इत्यादिना पञ्चमी । ‘व्याङ्परिभ्यो रमः’ इति परस्मैपदम् । किंतु क्षणात् क्षणमात्रेणैव अशेषदुःखशमनं एकविंशतिमहादुःखविध्वंसनं एव व्यापारः तत्र दक्षं समर्थं श्रेयोमार्गं ज्ञानमार्गं आश्रय अनुसर, तत्र प्रवर्तस्वेत्यर्थः । तथा स्वात्मीभावं स्वरूपानुसंधान-तत्परत्वं उपैहि प्राप्नुहि । तथा निजां स्वकीयाम्, ‘चञ्चलं हि मनः कृष्ण’ इत्यादौ प्रसिद्धामित्यर्थः । कल्लोलवत् लोलां अतिचपलां गतिं व्यापारं संत्यज । सम्यक् विसृज्य सुस्थिरं भवेत्यर्थः । भूयः पुनरपि भङ्गुरां भङ्गशीलां अशाश्वतीं भवरतिं संसारासक्तिं मा भज मा सेवस्व । किं त्वधुनेदानीं प्रसीद प्रसन्नं भव । चित्तप्रसाद-मन्तरा पुण्यशतैरपि श्रेयःप्राप्त्यसंभवादिति भावः । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ६३ ॥

अथ विश्वसनीयेष्वेव विश्वासं कुरु नान्यत्रेत्याह—

मोहं मार्जय तामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूडामणौ

चेतः ! स्वर्गतरंगिणीतटभुवामासङ्गमङ्गीकुरु ।

को वा वीचिषु बुद्बुदेषु च तडिलेखासु च श्रीषु च

ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु च सुहृद्गर्गेषु च प्रत्ययः ॥ ६४ ॥

हे चेतः ! मोहं पुत्रमित्राद्यासक्तिजनकाज्ञानं मार्जय शोधय, त्यजेति यावत् । तत्र विश्वासं मा कुर्वित्यर्थः । किंतु चन्द्रार्धं चूडामणिर्यस्य तस्मिन् चन्द्रशेखरे शंभौ तां तथाभूताम्, अनिर्वाच्यामित्यर्थः । रतिं अनुरतिं उपार्जय संपादय । तथा स्वर्ग-तरंगिण्याः मन्दाकिन्याः यास्तटभुवः तीरप्रदेशाः तासां आसङ्गं तत्र निवासासक्ति-मङ्गीकुरु अनुमन्यस्व । उभयत्रैव विश्वासं कुर्वित्यर्थः । एतस्यैव श्रेयस्करत्वादिति भावः । कुत एतदित्याशङ्क्यान्यत्राविश्वासोत्पादनार्थमस्वरसमुद्भावयति—वीचिषु वारितरंगेषु च, बुद्बुदेषु जलस्फोटेषु च, तडितो लेखा इव तासु च विद्युलतासु च,

श्रीषु संपत्सु च । 'तडिल्लेखामतल्लीषु च' इति पाठे प्रशस्तास्तडिल्लेखा तडिल्लेखाम-
तल्लयः तासु च । 'प्रशंसावचनैश्च' इति नित्यसमासः । 'मतल्लिकामचर्चिकाप्रकाण्ड-
मुद्धतल्लजौ' इत्यमरः । ज्वालाग्रेषु अग्निशिखामुखेषु च, पद्मगेषु सर्पेषु च, सुहृद्गणेषु
बन्धुजनसमुदायेषु च, को वा प्रत्ययः । उत्तरोत्तरं तारतम्येन नश्वरतया प्रत्यक्ष-
सिद्धेषु विचित्रसंस्थितिषु गृहदीप इति 'चुम्बनकरणे श्मश्रुदाहः' इति लोकन्यायेन
च प्रत्यक्षेण च दाहहेतुतया प्रसिद्धेषु ज्वालाग्रेषु च स्पृष्टतया प्राणहर्तृषु पद्मगेषु च
विपत्सु परित्यागशीलेषु बन्धुजनेषु च को वा विश्वासः ? न कोऽपीत्यर्थः । उत्तरो-
त्तरं अविश्वसनीयत्वादिति भावः । 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः ।
अत्र प्रस्तुतानां स्वबन्धुजनानां अप्रस्तुतानां वीचीप्रभृतीनां च यथाकथंचिदौपम्यस्य
गम्यत्वादीपकालंकारभेदः । तदुक्तं विद्यानाथेन—'प्रस्तुताप्रस्तुतानां च सामस्ये
तुल्यधर्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र दीपकं तन्निगद्यते ॥' इति । वृत्तं पूर्ववत् ॥६४॥

अथ प्रकारान्तरेण संबोधयति—

चेतश्चिन्तय मा रमां सकृदिमामस्थायिनीमास्थया

भूपालभ्रुकुटीकुटीविहरणव्यापारपण्याङ्गनाम् ।

कन्थाकञ्चुकिनः प्रविश्य भवनद्वाराणि वाराणसी-

रथ्यापङ्क्तिषु पाणिपात्रपतितां भिक्षामपेक्षामहे ॥ ६५ ॥

हे चेतः ! अस्थायिनीं अस्थिराम् । कुतः ? । भूपालानां राज्ञां भ्रुकुटी भ्रूभङ्ग एव
कुटी कुटीरं तत्र विहरणं विहारो यस्य तथोक्तो यो व्यापारः तेन पण्याङ्गनाम् ।
व्यभिचारिणीमिति यावत् । भ्रूसंज्ञया नरवरणशीलमित्यर्थः । तदायत्तत्वात्तस्या इति
भावः । यद्वा भूपालभ्रुकुटीकुटीरे(?) विहरणमेव व्यापारो यस्याः सा तथोक्ता सा च
पण्याङ्गना वारविलासिनी तां तथाभूताम् । तदधीनत्वात्तत्प्रत्युक्तप्रवृत्तिनिवृत्तिकामित्यर्थः ।
अत्र पण्याङ्गनारूपणं विहारे विशङ्खलत्वद्योतनार्थम्, नैयत्येन व्यभिचरणशीलत्व-
प्रकटनार्थं च । यथा वारवनिता कुत्रचित् कंचित्कालं विहृत्यानन्तरमन्यत्र गच्छति
तद्वदिति ध्वनिः । इह कानिचिदर्थान्तराणि स्फुरन्ति बुद्धिमद्भिस्तेष्वन्यानि ग्रन्थ-
गौरवभयाच्च लिख्यन्ते । तामिमां परिदृश्यमानां रमां संपत्तिं आस्थया आदरेण सकृत्
कदाचिदपि मा चिन्तय मा काङ्क्षय, तत्संपादनप्रयत्नं मा कुर्वित्यर्थः । तर्हि कथं
जीविकेत्याशङ्कयामाह—कन्थैव कञ्चुकमेषामस्तीति कन्थाकञ्चुकिनः कन्थावर्मितगात्राः
सन्तः । अत्र यद्यपि बहुव्रीहिणैव विवक्षितार्थलाभात्पुनः प्रत्ययान्तरग्रहणे प्रकि-
यागौरवम् । 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीय' इति निषेधात्, तथापि 'त्वगुतरासङ्गवतीम्',
'कोकप्रीतिचक्रोरपारणपटुज्योतिष्मती लोचने' इत्यादि महाकविप्रयोगश्च वर्तत इति
वैयाकरणाः कथयन्ति । यद्वा कन्थया कञ्चुकिनः कञ्चुकवन्तः । कन्थाच्छादितगात्राः
सन्त इत्यर्थः । वयमिति शेषः । वाराणस्याः काशीपट्टणस्य । 'काशी वाराणस्यवन्ती'
इत्यमरः । रथ्यापङ्क्तिषु राजमार्गश्रेणिषु । 'रथ्या प्रतोली विशिखा' इति मार्गपर्याये-
ष्वमरः । भवनद्वाराणि गृहप्रतिहारप्रदेशान् प्रविश्य पाणिरेव पात्रं तत्र पतितां
निक्षिप्तम् । एतेन याज्ज्ञापूर्वकत्वं सूच्यते । भिक्षामपेक्षामहे स्पृहयामहे । 'पाणिपात्रं
उदरमात्रपात्रे पतितमश्नीयात्' इत्यादिश्रुतेरनायाससिद्धभिक्षाद्वारेण शरीरयात्रां

निर्वर्तयन्तः पुण्यक्षेत्रेषु सुखेन निवसिष्याम इत्यर्थः । तदुक्तम्—‘भिक्षाहारो निराहारो भिक्षाब्जेन प्रतिग्रहः । असतो वा सतो वापि सोमपानं दिने दिने ॥’ इति । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ६५ ॥

अथ तव यदि सर्वदा संसाररसानुभवेऽभिनिवेशः, तावदित्थंभूतसामग्र्यां तत्राभिरतिं कुरु । अन्यथा ध्याननिष्ठो भवेत्याह—

अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वयोर्दाक्षिणात्याः

पश्चाल्लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम् ।

यद्यस्त्येवं कुरु भवरसास्वादने लम्पटत्वं

नो चेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ ॥ ६६ ॥

अत्र गीतशब्देन गायकजनो लक्ष्यते । तथा च हे चेतः इत्यध्याहार्यम् । अग्रे पुरस्तात् गीतं वीणावादनप्रवीणगायकसमुदायश्च । तथा पार्श्वयोः दाक्षिणात्याः दक्षिणदेशोद्भवाः । तेषामेव विचित्रप्रबन्धनिर्माणकौशलसंभवादिति भावः । दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यकृ’ इति त्यक्प्रत्ययः । सरसा रसोल्लसितशब्दार्थसंघटनाचतुरा ये कवयः कवयितारः ते च । तथा पश्चात् पृष्ठभागे चामराणि प्रकीर्णकानि गृह्णन्तीति चामरग्राहिण्यः तासां बालव्यजनवीजनतत्पराणां रमणीनाम् । ‘चामरं तु प्रकीर्णकम्’ इत्यमरः । लीलया वीजनवैचित्र्यविलासेन यद्वलयरणितं मणिकङ्कणझणत्कारः । तच्चेत्येतत्सर्वम् । ‘नपुंसकमनपुंसक-’ इत्यादिना नपुंसकैकशेषः । एवमुक्तप्रकारेण अस्ति यदि वर्तते चेत् । तर्हि भवे संसारे यो रसः तस्यास्वादने अनुभवे लम्पटत्वं लोलुपत्वं कुरु । तदासक्तं भवेत्यर्थः । ‘लोलुपो लोलुभो लोलो लालसो लम्पटश्च सः’ इति यादवः । नो चेदेवं नास्ति चेत् सहसा अविलम्बेनैव । ‘स्वरादिपाठादव्ययत्वम्’ इति शाकटायनः । निर्विकल्पे निरातङ्गे समाधौ ध्याने प्रविश । ब्रह्मध्याननिष्ठं भवेत्यर्थः । किमन्यथोभयभ्रंशहेतुना वृथादैन्येनेति भावः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ६६ ॥

अथ विचार्यमाणे संपत्तिलाभशत्रुजयादीनामप्यकिंचित्करत्वमेवेत्याह—

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं

न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।

संपादिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं

कल्पस्थितास्तनुभृतां तनवस्ततः किम् ॥ ६७ ॥

हे चेतः ! तनुभृतां शरीरिणां सकलकामान् दुहन्तीति सकलकामदुघाः । अशेषमनोरथपरिपूरका इत्यर्थः । श्रियः प्राप्ताः ततः किम् ? तथा विद्विषतां अमित्राणाम् । ‘द्विषोऽमित्रे’ इति शत्रुप्रत्ययः । शिरसि पदं न्यस्तं निक्षिप्तम् । पराक्रमातिशयेन सर्वे शत्रवः पादाक्रान्तीकृता इत्यर्थः । ततः किम् ? विभवैः धनैः प्रणयिनः सुहृदः संपादिताः संगृहीताः, वशंवदीकृता इत्यर्थः । ‘संमानिताः’ इति पाठे बहुमानिताः । ततः किम् ? तथा कल्पस्थिताः । कल्पान्तरस्थायिन्य इत्यर्थः । तनवः शरीराणि संपादिता इति संबन्धः । केनचिद्योगेन संगृहीताः । ततः किम् ? तेषां श्रेयःसाधनत्वनिषेधादिति भावः । एतदादिश्लोकचतुष्टयं वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ६७ ॥

नन्वेवं श्रेयःसाधनत्वेन व्यवहृतानां एतेषां निषेधे किमन्यच्छ्रेयःसाधनमित्यत आह—

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं

स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः ।

संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता

वैराग्यमस्ति किमितः परमर्थनीयम् ॥ ६८ ॥

हे चेतः ! भवे शंभौ भक्तिः भजनानुरागः । कार्यं इति शेषः । किं च मरणजन्मभ्यां महोपद्रवकारिभ्यां निधनोत्पत्तिभ्यां भयम् । हृदि तिष्ठतीति हृदिस्थम् । कर्तव्यमिति शेषः । न तु विस्मर्तव्यमिति भावः । बन्धुषु पुत्रमित्रकलत्रादिषु विषये स्नेहः अनुरागः न कार्यः । तथा मन्मथाज्जायन्त इति तथोक्ता विकाराः स्त्रीपरतन्त्रत्वादयः न कार्याः । श्रेयोन्तरायत्वादिति भावः । इत्थं श्रेयःसाधनत्वेन कर्तव्यद्वयम् । तदसाध्यत्वेनाकर्तव्यद्वयं चोपदिश्येदानीं पुनर्मुख्यं कर्तव्यान्तरमुपदिशति—संसर्गदोषैः सङ्गदोषैः रहिताः । कामक्रोधादिप्रसङ्गवर्जिता इत्यर्थः । 'सङ्गात्संजायते कामः' इत्यादि—भगवद्वचनेन सङ्गजनितकामादिदोषपरम्पराया अनर्थहेतुत्वादिति भावः । कुतः । विजनाः विविक्ताः वनान्ताः वनप्रदेशाः । सेव्या इति शेषः । तत्र किमस्तीत्याशङ्कयामाह—वैराग्यमस्तीति । संभवतीत्यर्थः । इतो वैराग्यात्परं अन्यत् किं अर्थनीयं अभिलषणीयम् ? न किमपीत्यर्थः । तस्यैव परमश्रेयःसाधनत्वादिति भावः ॥ ६८ ॥

अथ ब्रह्मविचारतत्परस्य ते सर्वेऽपि भुवनाधिपत्यादयस्तुच्छा एव प्रतिभान्तीत्युपसंहरति—

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि

तद्ब्रह्म चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पैः ।

यस्यानुपज्झिण इमे भुवनाधिपत्य-

भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति ॥ ६९ ॥

तस्मात् । यस्माद्वैराग्यमेवार्थनीयं तस्मादित्यर्थः । हे चेतः ! अनन्तं अपरिच्छिन्नं त्रिविधपरिच्छेदशून्यम् । तथा अजरं जन्मजरामरणवर्जितम् । अतएव परमं सर्वोत्कृष्टम् । तथा विकासि विकस्वरम्, सर्वव्यापीत्यर्थः । यद्वा विकासि भास्वरम् । तत् ब्रह्म चिन्तय विचारय । एभिः क्रियमाणैः असद्विकल्पैः असद्भिः असाधुभिः अनित्यैर्वा विकल्पैः तत्तद्भोगप्राप्त्यप्राप्तिगोचरविचारैः किम् ? विकल्पसाध्यं नास्तीत्यर्थः । गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया । न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं कारकभावस्य, अपि तु गम्यमानापीति वचनात् । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात्तच्छब्दस्य यच्छब्दाकाङ्क्षायामाह—यस्य ब्रह्मणः अनुपज्झिणः संबन्धवतः । यद्ब्रह्मविचार इत्यर्थः । तवेति शेषः । इमे काम्यमाना भुवनाधिपत्यं लोकाधिपत्यं भोगः स्वर्गादिसत्यान्तलोकसमुदायस्थः तावादी येषां ते तदादयो भोगाः कृपणलोकानां ब्रह्मविचारहीनजनानां मता इष्टाः, योग्या इति यावत् । भवन्ति प्रतिभान्ति ।

तेषामेव योग्याः ते न मादृशानामिति प्रतीयन्त इत्यर्थः । भुवनाधिपत्यादीनां एवं प्रतीयमानत्वम्, किमुतान्येषामिति भावः । तदानीं तव तृणीकृतब्रह्मपुरंदरत्वात्सर्वेऽपि तुच्छा एव प्रतिभान्तीति परमार्थः । यद्वा ननु सर्वदा भोगजातमेव ममाभिलषितं नान्यदिति यदि मन्येसे, तदा इत्थंभूतस्य तव सर्वे भुवनाधिपत्यादिभोगा अनुषङ्गात्स्वयमेव संभवन्तीति समाधानमभिप्रेत्याह—हे चेतः ! तत् सकलवेदान्तप्रसिद्धम् । यद्वा तच्छब्दलक्ष्यार्थभूतमित्यर्थः । 'तत्त्वमसि' इति महावाक्ये तथा व्याख्यानादिति भावः । ब्रह्म चिन्तय । चिन्तनफलमाह—यस्य ब्रह्मचिन्तनतत्परस्य ते कृपणलोकमता इमे भुवनाधिपत्यभोगादयः अनुषङ्गिणः भवन्ति अनुषङ्गात्स्वयमेव संभवन्ति । ब्रह्मध्याननिष्ठासाम्राज्यलक्ष्मीपतेः किं ते दुर्लभमिति भावः । शेषं समानम् । यद्वा यस्य ब्रह्मचिन्तनस्य मे भुवनाधिपत्यादयः अनुषङ्गिणः अनुबन्धिनः भवन्ति । तथा च सति ब्रह्मचिन्तने तदनुबन्धवशात्सर्वेऽपि स्वयमेव संभवन्तीति भावः । अत्र 'शिखा ते वर्धते नूनं गुह्यं पितृ शावक' इति शास्त्रवचनमनुसृत्य तात्पर्यान्तरेणैवं समाहितमित्यनुसंधेयम् । कृपणलोकमता इत्यत्र यद्यपि 'मतिबुद्धि—' इत्यादिना वर्तमानार्थे क्तप्रत्यये 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठीसमासनिषेधः, तथापि निरङ्कुशः कवय इत्यलम् ॥

एनमेवार्थं पुनः प्रकारान्तरेणोपदिशन्निगमयति—

पातालमाविशसि यासि नभो विलङ्घ्य
दिङ्माण्डलं भ्रमसि मानस ! चापलेन ।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनीनं
न ब्रह्म संस्मरसि निर्वृतिमेषि येन ॥ ७० ॥

हे मानस, चापलेन तत्तद्विषयासक्तिजनितचापल्येन । युवादित्वादणू । हेतौ तृतीया । पातालमाविशसि । अत्यन्ताधःप्रदेशमपि गच्छसीत्यर्थः । तथा नभः अन्तरिक्षं विलङ्घ्य यासि, अत्यूर्ध्वप्रदेशमपि गच्छसीत्यर्थः । तथा दिङ्माण्डलं दिक्चक्रवालं भ्रमसि । अतिदूरदेशमपि धावसीत्यर्थः । सर्वत्रापि मनोगतेर्निरर्गलत्वादिति भावः । किंतु भ्रान्त्या भ्रमवशेनापि । मास्तु विवेकेनेत्यपिशब्दार्थः । तथापि जातु कदाचिदपि विमलं निर्मलम् । अचिन्त्याकार्यसंबन्धशून्यमित्यर्थः । आत्मने हितं आत्मनीनं सुखस्वरूपत्वात् । 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्स्वः' इति खप्रत्ययः । 'आत्मलीनम्' इति पाठे आत्मनि अन्तरात्मनि लीनं निलीय स्थितम् । सर्वान्तर्यामित्वात् । ब्रह्म कथं न संस्मरसि न ध्यायसे । सर्वथा स्मर्तव्यमित्यर्थः । कुतः ? येन संस्मरणेन निर्वृतिं आनन्दं एषि प्राप्नोषि, अतः यथाकथंचित्स्मरणेऽप्यानन्दजनकत्वादवश्यं स्मर्तव्यमेव । 'हरिर्हरति पापनि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः । अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥' इत्यादिवचनादिति भावः ॥ ७० ॥

इति वैराग्यशतकव्याख्याने मनःसंबोधननियमनं नाम सप्तमं दशकम् ।

(अथ नित्यानित्यवस्तुविचारः ।)

अथ वेदाध्ययनस्मृतिपर्यालोचनशास्त्रपठनपुराणश्रयणादिभिर्न कोऽपि लाभः ।
किंतु विचाराच्छ्रवणमनननिदिध्यासनादिभिरात्मानुभव एव लाभ इति मत्वा
जनानुद्दिश्य बोधयति—

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः

स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः ।

मुक्तवैकं भवतु खभाररचनाविध्वंसकालानलं

स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषैर्वणिग्वृत्तिभिः ॥ ७१ ॥

वेदैः ऋग्यजुःसामाथर्वणसंज्ञकैः चतुर्भिः वेदैः किं प्रयोजनम् ? न किमपि
प्रयोजनमित्यर्थः । स्मृतिभिः मन्वाद्यष्टादशस्मृतिभिः उपस्मृतिभिश्च किं प्रयोजनम् ?
न किमपीत्यर्थः । पुराणपठनैः ब्रह्माण्डपुराणाद्यष्टादशपुराणोपपुराणपठनैश्च किं ? न
किमपीत्यर्थः । महाविस्तृतैः अतिविस्तृतैः शास्त्रैः तर्कव्याकरणादिषड्दर्शनैः किं ? न
किमपीत्यर्थः । स्वर्गे सर्वपुण्यकृन्निवासे नाकलोके च ग्रामेषु ब्राह्मणप्रधानवर्णानां
निवासेषु कुटीषु पर्णगृहेषु यः निवासः तेन फलदैः फलप्रदैः कर्मणां स्नानसंध्यावन्द-
नौपासनयज्ञादीनां क्रियाभिः व्यापारैः विभ्रमैश्च न किमपि प्रयोजनम् । भवात्
जननमरणरूपसंसारात् यद्दुःखं दारिद्र्यं भार्यापुत्रादिनाशः तस्य भारः असह्यादिशयः
तस्य रचना तस्याः विध्वंसे कालानलं प्रलयान्निरूपं स्वस्य आत्मानन्दः आत्मसुखानु-
भवः तस्य पदं स्थानं तस्मिन् प्रवेशः तस्य कलनं एकम् । 'एके मुख्यान्यकेवलाः'
इत्यमरः । मुक्त्वा विहाय शेषैः उक्तेभ्यः अन्यैः वणिग्वृत्तिभिः वर्तकव्यापारसदृशैः
न किमपि प्रयोजनम् । आत्मज्ञानं विना उक्तानां वेदादीनामध्ययनादिभिरपि फलं
नास्तीत्यर्थः । सर्वेषां वेदान्तवाक्यानां अद्वैते ब्रह्मणि तात्पर्यमित्युक्तरीत्या ब्रह्मज्ञानमेव
संपादनीयम् । न त्वितरदित्याशयः । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ७१ ॥

अथातिरिक्तस्यानित्यत्वमेव प्रपञ्चयति—

यतो मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निवलितः

समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरमकरग्राहनिलयाः ।

धरा गच्छेत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता

शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥ ७२ ॥

यतः यस्मात्कारणात् श्रीमान् मणिहिरण्यादिसकलवस्तुसमृद्धिमान् मेरुः मेरुगिरिरपि
युगान्ताग्निना प्रलयकालानलेन वलितः संवेष्टितः सन् निपतति । विशिष्टाग्निसंपर्का-
शिलीनो भवतीत्यर्थः । तथा प्रचुराः प्रभूताः मकरा नकाः ग्राहा जलग्राहाश्च तेषां
निलयाः समाश्रयाः समुद्राः सप्तसागराश्च शुष्यन्ति शोषं प्राप्नुवन्ति । तथा
धरन्तीति धराः । पचाद्यच् । धरण्या धराः महेन्द्रादिसप्तकुलाचलाः तेषां पादैः
प्रत्यन्तपर्वतैः । 'पादाः प्रत्यन्तपर्वताः' इत्यमरः । धृता सम्यगवष्टब्धा धरा भूमिश्च
अन्तं नाशं पातालं वा गच्छति प्राप्नोति । उभयत्रापि प्रलयान्निमेलनादेवेति भावः ।

तस्मात् कारणात् । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् करिकलभस्य करिपोतस्य कर्णाग्रं कर्णाञ्चलं तद्वत् चपले चञ्चले । शीर्यते इति शरीरे का वार्ता का कथा ? न कापीत्यर्थः । यतोऽत्यन्तस्थिरतराणामपि ईदृश्यवस्था, किमुत क्षणभङ्गुराणां शरीराणाम् । 'गजा यत्र न गण्यन्ते मशकानां तु का कथा' इति न्यायादिति भावः । सर्वेऽपि नश्वरा एव, ततोऽप्यतिनश्वरं शरीरमिति तात्पर्यम् । करिकलभेत्यत्र करिशब्दस्य विशेषप्रतिपत्तिहेतोर्वैशेष्यप्रतीत्यर्थत्वादपौनरुक्त्यम् । अत एव 'एकार्थपदमप्रयोज्यम्' इत्युक्त्वा 'करिकलभकर्णावतंसादिषु प्रतिपत्तिविशेषकरेषु न दोषः' इत्याह वामनः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ७२ ॥

अथ शरीरिणो जरया दुरवस्थामाह द्वाभ्याम्—

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि-

दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते ।

वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न शुश्रूषते

हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते ॥ ७३ ॥

गात्रं शरीरं संकुचितं भुग्नम्, अभूदिति शेषः । गतिः संचारोऽपि गलिता, संचारशक्तिरपि नष्टेत्यर्थः । दन्तावलिः दन्तपंक्तिश्च भ्रष्टा पतिता । दृष्टिः चक्षुरिन्द्रियं च नश्यति, अर्थग्रहणापटुर्भवतीत्यर्थः । बधिरता श्रोत्रेन्द्रियापाटवं वर्धते वृद्धिं प्राप्नोति । वक्त्रं च लाला दन्तान्तर्गतजलं लालेवाचरति लालायते । लालामयं भवतीत्यर्थः । 'सृणिका स्यन्दिनी लाला' इत्यमरः । तथा बन्धव एव बान्धवाः । स्वार्थेऽणुप्रत्ययः । त एव जनो बन्धुवर्गश्च वाक्यं वचनं नाद्रियते, न रोचयत इत्यर्थः । किं बहुना भार्यापि न शुश्रूषते न सेवते । यद्वा सेवितुं नेच्छति, सेवा दुरापास्तेति भावः । अतः जीर्णवयसः जरावस्थासंपन्नस्य पुरुषस्य । हेति विषादे । कष्टं कृच्छ्रम् । कुतः ? । पुत्रोऽपि आत्मसंभवोऽपि अमित्रायते अमित्रः शत्रुवदाचरति । प्रतिकूलाचरणतत्परो भवतीत्यर्थः । लालायत इत्यत्र 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति क्यङ् । अत्र तु 'उपमानादाचारे' इति उभयत्रापि 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति दीर्घः । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ७३ ॥

वर्णं सितं झटिति वीक्ष्य शिरोरुहाणां

स्थानं जरापरिभवस्य तदा पुमांसम् ।

आरोपितास्थिशतकं परिहृत्य यान्ति

चण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः ॥ ७४ ॥

तरुण्यः युवतयः कर्ण्यः । 'वयसि प्रथमे' इति ङीप् । शिरसि रोहन्तीति शिरोरुहाः चिकुराः । इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः । सितं वर्णं धावत्यगुणम्, पलितत्वमिति यावत् । झटिति अञ्जसा वीक्ष्य दृष्ट्वा । 'द्राग्झटित्यञ्जसाहाय' इत्यमरः । तदा तस्मिन् समये, दर्शनसमनन्तरकाल एवेत्यर्थः । जरया वार्धकावस्थया यः परिभवः अपमानः तस्य स्थानं आस्पदम् । तथा आरोपितं बहिःस्फुटलक्ष्यत्वात् आरोपितप्रायं अस्थिशतकं यस्य तं तथोक्तम् । अन्यत्र आरोपितं निक्षिप्तं अस्थिशतकं यस्मिन् तम् । 'आरोपितास्थिशकलम्' इति पाठे एकत्रारोपितप्रायकीकसखण्डम् । अन्यत्र निक्षिप्तकीकसखण्डमित्यर्थः । पुमांसं पुरुषं चण्डालकूपं चण्डालसंबन्धि जलाशयमिव

परिहृत्य परित्यज्य दूरतरं अतिविप्रकृष्टं यान्ति, हेयत्वाद्विहायान्यत्र गच्छन्तीत्यर्थः ।
अतः कष्टं जीर्णवयसोऽपि जीवनमिति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ७४ ॥

अतः दुरवस्थाक्रान्तेः पूर्वमेव श्रेयःसंपादनार्थं यत्नः कर्तव्यः, नान्यदेति
सदृष्टान्तमाह—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो

यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।

आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्

संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥ ७५ ॥

यावत् यावत्पर्यन्तं इदं एतत् शरीरं स्वस्थं पीडारहितम्, भवतीति शेषः ।
एवमुत्तरत्रापि तथा । यावत् न विद्यते रुजा रुक् यस्य तत्तथोक्तम् । आरोग्ययुक्तं
भवति । 'स्त्री रुग्णजा चोपताप-' इत्यमरः । यद्वा अरुजं सत् स्वस्थं अविकलं भवति ।
तथा यावत् जरा दूरतः दूरे भवति, वार्धक्यदशा यावत्पर्यन्तं नाक्रमतीत्यर्थः ।
तथा यावदिन्द्रियशक्तिश्चक्षुरादीन्द्रियपाटवं च अप्रतिहता अखण्डिता भवति ।
यावदायुषः क्षयो नाशो न भवति । तावत् तावत्पर्यन्तमेव, तन्मध्यकाल एवेत्यर्थः ।
वेत्तीति विद्वान् तेन विदुषा अभिज्ञेन । 'विदेः शतर्वसुः' इति वसुप्रत्ययः । आत्मनः
श्रेयसि विषये, मोक्षप्राप्तावित्यर्थः । महान् फलजननपर्याप्तत्वेन पूज्यः प्रयत्नः ज्ञान-
वैराग्यतपःसंपादनयोगः कार्यः । ननु कोऽयं नियमः ? अवसानेऽपि प्रयत्नस्य कर्तुं
युक्तत्वादित्याशङ्क्यावकाशाभावाच्च युक्त इति व्यतिरेकसदृष्टान्तमाह—भवने गृहे संदीप्ते
अग्निना दह्यमाने सति कूपखननं प्रति कूपनिर्माणं प्रति उद्यमः प्रयत्नः कीदृशः
कीदृशविधः ? न युक्त इत्यर्थः । अवकाशाभावादिति भावः । गृहदाहवेलायां कूप-
खननप्रयत्न इव अवसानकाले श्रेयःप्राप्त्यर्थोद्यमोऽपि न युज्यत इति भावः । तस्मा-
त्स्वस्थावस्थायामेव श्रेयःसाधनसंपादनपरेण भवितव्यमवश्यं बुद्धिमतेति तात्पर्यम् ।
वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ७५ ॥

अथ तपश्चरणादीन् बहून् कर्तव्यतया विकल्पानन्तरं अवश्यं तप एव संपादनी-
मिति केषांचिन्निश्चयमनुसंधायाह द्वाभ्याम्—

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं

गुणोदारान्दारानुत परिचरामः सविनयम् ।

पिबामः शास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसा-

न्न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने ॥ ७६ ॥

तपस्यन्तः तपश्चरन्तः सन्तः, केवलमिति शेषः । 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां
वर्तिचरोः' इति क्यप्रत्ययः । सुरनदीं मन्दाकिनीं अधिनिवसामः किं अधितिष्ठामो
वा । वैराग्येणेति भावः । किंशब्द उत्तरत्राप्यनुवर्तनीयः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति
सुरनद्याः कर्मत्वम् । उत अथवा विनयेन आनुकूल्येन सहितं यस्मिन्कर्मणि तद्यथा
तथा गुणैः सौभाग्यसौशील्यादिभिः उदारान् रम्यान् दारान् जायाः परिचरामः
किं अनुसरामो वा ? सांसारिकधर्मेणेति भावः । 'भार्या जायाथ पुंभूम्नि दाराः'
इत्यभिधानात् दारशब्दस्य पुंस्त्वं बहुत्वं च । तथा शास्त्रौघान् शास्त्रकलापान्

पिबामः । अथैव कीर्तिप्रतिष्ठाविज्ञानार्थमित्यर्थः । 'पाप्राध्मा-' इत्यादिना पातेः
पिबादेशः । उत यद्वा विविधानि काव्यानि काव्यनाटकालंकारा एव अमृतरसाः
सुधाद्रवाः । अथवा विविधेषु काव्येषु ये अमृतरसाः तान् पिबामः । सकलकला-
कौशलार्थमिति भावः । जनशब्देनात्र तत्समुदायो विवक्षितः । तथा च जने जन-
समुदाये कतिपये कियन्तः ये निमेषाः तावन्मात्रकालपरिच्छिन्नमायुर्यस्य तस्मिन्
सतीत्यर्थः । जालेकवचनविवक्षायां तु जनेष्वस्मासु कतिपयनिमेषायुःषु सत्स्वित्यर्थः ।
किं उक्ततपश्चरणादिषु किं वा कुर्मः ? सर्वेषामाचरणे अवकाशाभावादिति भावः ।
न विद्मः न जानीमः । निश्चयाभावादिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ७६ ॥

ततः किमित्यशाङ्क्य ततो निश्चयमाह—

दुराराध्याश्चामी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुजो

वयं च स्थूलेच्छाः सुमहति फले बद्धमनसः ।

जरा देहं मृत्युर्हरति दयितं जीवितमिदं

सखे ! नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः ॥ ७७ ॥

तुरगाः उत्तमाश्वाः तद्वच्चलानि चित्तानि येषां ते, अस्थिरहृदय इत्यर्थः । अमी
परिदृश्यमानाः क्षितिभुजः राजानः दुराराध्याः आराधयितुं प्रसादयितुं अशक्याः,
प्रसादोन्मुखीकरणाशक्या इत्यर्थः । तथा स्थूलेच्छाः अधिकाशातत्परा वयं च सुमहति
बहुले फले धने बद्धं मनो येषां ते तथोक्ताः, बहुधनाकाङ्क्षिण इत्यर्थः । आका-
ङ्क्षामात्रमेवास्माकं न तु ते दास्यन्तीति भावः । तथा जरा वार्धकदशा देहं हरति
क्षिणोति । मृत्युः अन्तकश्च दयितं प्रियतममपि इदं जीवितम् । इमान् प्राणानित्यर्थः ।
हरति । अतः हे सखे ! जगत्स्मिन् लोके विदुषः तत्त्वज्ञस्य पुंसः तपसोऽन्यत्र । अन्यत्,
इतरदित्यर्थः । अन्यदसाधारणं उत्तमं श्रेयः मोक्षसाधनं नास्ति । ततोऽन्यत् परमं
श्रेयोन्तरं नास्ति । अतः सर्वथा तदेव संपादनीयमिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ७७ ॥

अथ तपसः श्रेयोहेतुत्वे तदाचरणस्य किं वा योग्यस्थानमित्याशङ्कयामाह—

माने म्लायिनि खण्डिते च वसुनि व्यर्थे प्रयातेऽर्थिनि

क्षीणे बन्धुजने गते परिजने नष्टे शनैर्यौवने ।

युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नुकन्यापयः-

पूतग्रावगिरीन्द्रकन्दरनटीकुञ्जे निवासः क्वचित् ॥ ७८ ॥

माने अभिमाने म्लायिनि भग्ने सति । तथा वसुनि धने च खण्डिते विनष्टे
सति । 'देवमेदेऽनले रश्मौ वसू रत्ने धने वसु' इति विश्वः अत एव अर्थिनि याचके व्यर्थे
अलब्धमनोरथत्वाच्चिरर्थके प्रयाते सति, वाञ्छितार्थाभावाद्भ्रैमुख्यं गते सतीत्यर्थः ।
बन्धुजने पुत्रमित्रादिबन्धुजनसमूहे क्षीणे अन्नाद्यलाभात् कृशे सति । परिजने भृत्यवर्गे
गते वेतनदानाभावादप्यत्र गते सति । तथा शनैः मन्दं यौवने तारुण्ये नष्टे गलिते
सति, अनित्यस्वाभाव्यात् सर्वस्मिन्विपन्ने सतीत्यर्थः । सुधियां बुद्धिसंपन्नानां एतदेव
इदमेवैकं केवलं अत्यन्तं युक्तं उचितम् । किमेतदित्यत आह—क्वचित् कस्मिंश्चित्
जह्नुकन्यापयःपूताः गङ्गाजलपवित्रा ग्रावाणः पाषाणा यस्मिन्स तथोक्तो यो गिरीन्द्रः
तस्य कन्दरतट्या हिमवद्भिरेः विहारस्थल्यां कुञ्जो लतामण्डपः तस्मिन्निवास इति यत्

तदेतद्युक्तमिति संबन्धः । तस्यैव श्रेयःसाधनभूततपोयोग्यस्थलत्वादिति भावः ।
 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीवे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ७८ ॥
 अथ चित्तस्य नित्यानित्यवस्तुविवेके सति रम्यमपि सर्वमरम्यमेव प्रतिभातीत्याह
 द्वाभ्याम्—

रम्याश्चन्द्रमरीचयस्तृणवती रम्या वनान्तःस्थली

रम्यं साधुसमागमागतसुखं काव्येषु रम्याः कथाः ।

कोपोपाहितवाष्पविन्दुतरलं रम्यं प्रियाया मुखं

सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किञ्चित्पुनः ॥ ७९ ॥

चन्द्रमरीचयः चन्द्रकिरणाः रम्याः रमणीयाः, उद्दीपकत्वादिति भावः । तथा
 तृणवती शार्दूलप्राया वनान्तःस्थली वनमध्यभूमिः रम्या रन्तुं योग्या । 'जानपद-'
 इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप् । तथा साधुसमागमात् सज्जनसहवासादागतं प्राप्तं
 यत्सुखं तदपि रम्यम् । कवयते वर्णयतीति कविः तस्य कर्म काव्यम् । ब्राह्मणादि-
 त्वात् ष्यञ् । तस्य पङ्कजादिवद्ब्रूढित्वादिसोलसितशब्दार्थसंघटनार्थः । न कर्ममात्रम् ।
 तथा च काव्येषु उक्तप्रकारेषु काव्यनाटकादिषु कथाः श्रव्यवाचः उपाख्यानानि
 वा । रम्या मनोहराः । तथा कोपोपाहिताः प्रणयकलहादिषु क्रोधवशात् उत्पन्ना ये
 वाष्पविन्दवः अश्रुकणाः तैः तरलं आविलं प्रियाया मुखं रम्यम् । अतः सर्वमपि
 रम्यमुक्तरीत्या सकलमपि मनोहरमेव । किंतु चित्ते मनसि अनित्यताम्, नित्यानित्य-
 वस्तुविचारतत्परतामित्यर्थः । उपगते सति किञ्चित्पुनः किञ्चिदपि रम्यं न भवति ।
 ब्रह्मानन्दं विनेति शेषः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ७९ ॥

उक्तमेवार्थं विवृण्वन्निगमयति—

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्रव्यं न गोयादिकं

किं वा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकप्रीतये ।

किंतु भ्रान्तपतङ्गपक्षपवनव्यालोलदीपाङ्कुर-

च्छायाचञ्चलमाकलय्य सकलं सन्तो वनान्तं गताः ॥ ८० ॥

हर्म्यतलं प्रासादोपरिप्रदेशः वसतये निवासाय न रम्यं किम् ? रम्यमेवेत्यर्थः ।
 तथा गेयं गानम् । 'भव्यगेय-' इत्यादिना कर्तरि निपातः । तदादि यस्य तत्तथो-
 क्तम् । आदिशब्देन वीणावादादिकमपि संगृह्यते । 'शेषाद्विभाषा' इति कप्रत्ययः ।
 न श्रव्यं किं श्रोत्रसुखावहं न किम् ? श्रव्यमेवेत्यर्थः । तथा प्राणसमायाः प्राणप्रिय-
 नायिकायाः समागमेन संभोगेन यत्सुखं तच्च अधिकप्रीतये अत्यन्तसंतोषायैव भवति
 न किम् । भवत्येवेत्यर्थः । किंतु सन्तः वस्तुविचारतत्परपुरुषाः सकलं अशेषं हर्म्य-
 तलनिवासादिकमपि भ्रान्तः पतनेच्छया परिभ्रमन् यः पतङ्गः शलभः । 'पतङ्गः
 शलभे भानौ' इति विश्वः । तस्य पक्षयोः पवनेन गस्तोः वायुना व्यालोलः
 अतिचञ्चलः यो दीपाङ्कुरः दीपकलिका तस्य च्छाया कान्तिः तद्वच्चञ्चलं तरलम्,
 नश्वरमित्यर्थः । आकलय्य आलोच्य । वनान्तं वनमध्यं गताः । शाश्वतब्रह्मानन्द-
 साधनतपश्चर्यार्थमित्यर्थः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ८० ॥

इति वैराग्यशतकव्याख्याने नित्यानित्यवस्तुविचारो नामाष्टमं दशकम् ।

(अथ शिवार्चनम् ।)

ननु वस्तुविचारप्रसक्तानुप्रसक्त्या तपसोऽत्यन्तावश्यकत्वमुक्तम् तर्त्तिकविधमित्या-
शङ्कायां शिवार्चनव्यतिरेकेणान्यन्न किञ्चिदप्यस्तीति मनसि कृत्वेदानीं तावच्छिवार्चनं
वर्णयति । तच्चार्यं द्विविधम्—बाह्यमाभ्यन्तरं चेति । तत्रार्थं बहूपकरणसार्धं
बहिर्मुखविषयत्वादमुख्यं चेत्यभिप्रेत्यादौ तदुपेक्ष्य मुख्याभ्यन्तरपूजनप्रकारमेवानु-
भवमभिनीयाह—

आसंसारात्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात ! ताद-

द्वैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रमार्गं गतो वा ।

योऽयं धत्ते विषयकरिणीगाढगूढाभिमान-

क्षीबस्यान्तःकरणकरिणः संयमानायलीलाम् ॥ ८१ ॥

अत्र तातेत्याश्चर्यश्रवणाभिमुखीकरणार्थमादरातिशयोक्तं पृथग्जनं प्रति संबोधन-
वचनम् । हे तात जनक ! 'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः । आ संसारात्,
अनादिसंसारादारभ्येत्यर्थः । पदद्वयमेतत् । विकल्पादसमासः । इदं प्रसिद्धं त्रयाणां
भुवनानां समाहारः त्रिभुवनं भुवनत्रयमपि । 'तद्वितार्थ-' इत्यादिना समाहार-
समासे पात्राद्यदन्तत्वाच्च स्त्रीत्वम् । चिन्वतां मार्गमाणानाम् । कर्मवशात्तत्र प्रवेश-
लाभाभावादिति भावः । अथवा चिन्वतां परामृशताम् अस्माकं नयनपदवीं लोचन-
मार्गं वा श्रोत्रमार्गं श्रवणपथं वा तादृक् तथाविधः पुमान् न गतो न प्राप्त एव ।
तादृक् पुमान् न श्रुतो न दृष्टश्चेत्यर्थः । कोऽसावित्यत आह—योऽयं पुमान् प्रतीय-
मानतया भोगसाधनानि स्रक्चन्दनवनितादीनि विषयाः त एव करिण्यः इभ्यः तासु
गाढोऽतिदृढः गूढः अप्रकाशश्च योऽभिमानः अत्यन्तासक्तित्वाग्रहः तेन क्षीबस्य
मत्तस्य । 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः' इत्यमरः । 'क्षीबृ मदे' इत्यस्य धातोः 'अनुप-
सर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति निष्ठान्तो निपातः । अन्तःकरणमेव करी तस्य चित्त-
मत्तेभ्यः संयमे सम्यङ्मियमने आनायस्य रज्जुनिर्मितजालस्य लीलाम् । 'आनायः
पुंसि जालं स्यात्' इत्यमरः । 'आलान-' इति पाठे आलानस्य करेर्बन्धनस्तम्भस्य लीलां
धत्ते । दुर्दममनोनियमनसमर्थो भवतीत्यर्थः । तादृगिति संबन्धः । अत्रेद्वक्पुरुषस्य
नयनश्रोत्रपथविषयसंबन्धेऽप्यसंबन्धोक्त्या संबन्धे असंबन्धरूपातिशयोक्तिः । तथा च
मनोनियमनस्यात्यन्ताशक्यत्वरूपं वस्तु व्यज्यत इत्यलंकारेण वस्तुध्वनिः । तथा
च केनचिद्योगेन मनो नियम्य तत्र ब्रह्मानन्दसाधनभूतान्तरङ्गशिवार्चनतपोऽवश्यं
कर्तव्यमिति गूढोऽयमभिप्रायः । तथा अन्यधर्मस्यान्यत्र संबन्धासंभवादानायलीला-
मिव लीलामित्यौपम्यपर्यवसानसंभवद्वस्तुसंबन्धरूपो निदर्शनालंकारः । स चोक्तरूप-
केणाङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ८१ ॥

अथ तपःप्रवृत्तिप्रकारमेवाह—

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं

सहायैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम् ।

मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरस्यापि विमृश-

न्न जाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ॥ ८२ ॥

स्वच्छन्दं यथेच्छम् । अपराधीनमिति यावत् । विहरणं विहारश्च । न विद्यते
 कार्पण्यं दैन्यं यस्मिंस्तत्तथोक्तं अशनं भिक्षान्नभोजनं कन्दमूलाद्याहारो वा । तथा
 आर्यैः विज्ञानसंपन्नैः सह संवासः समागमश्च । तथा उपशमो विषयभोगविरतिरेव
 एकं मुख्यं व्रतफलं यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । शान्तिफलकतपश्चरणबोधकमित्यर्थः 'श्रुतं
 वेदान्तशास्त्रश्रवणम् । 'श्रुतं शास्त्रावधृतयोः' इति विश्वः । तथा बहिर्बाह्यदेशे मन्द-
 स्पन्दं मन्दप्रसारम् । अन्तर्मुखत्वादिति भावः । मनोऽपि अन्तःकरणं चेति यदेतत्
 सर्वं वर्तत इति शेषः । 'नपुंसकमनपुंसकेन—' इत्येकशेषः । एषेति विधेयप्राधान्या-
 त्स्त्रीलिङ्गता । शैल्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य' इतिवत् । कस्य उदारस्य महतः तपसः
 परिणतिः परिपाको वा न जाने, न वेद्मीत्यर्थः । यद्वा परिणतिः परिणामो वा न जाने । किं
 वा तप एवरूपेण परिणतम्, तन्न जानामीत्यर्थः । भूतः सन्नपि । चिरस्य चिरकाल-
 मित्यर्थः । विमृशन् परामृशन्नपि । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः'
 इत्यमरः । विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम् । तच्च तपः शिवपूजनमेव कथमन्यथास्येद्वक्फल-
 साधने एवंविधपरिणामे वा सामर्थ्यं संभवेदिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ८२ ॥

अथ शिवचरणमेव शरणमिति स्मरणमभिनीयाह—

जीर्णा एव मनोरथाश्च हृदये यातं च तद्यौवनं

हन्ताङ्गेषु गुणाश्च बन्ध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना ।

किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान् कालः कृतान्तोऽक्षमी

हा ज्ञातं मदनान्तकाङ्क्षियुगलं मुक्त्वास्ति नान्या गतिः ॥ ८३ ॥

मनोरथा विषयाभिलाषाश्च हृदये अन्तरङ्ग एव जीर्णा नष्टाः । वाञ्छामात्रमेव न
 त्वनुभूता इत्यर्थः । तथा अङ्गेषु अवयवेषु तत् तथाभूतम्, कामिनीसंभोगोपयुक्तमित्यर्थः ।
 यौवनं यातं गलितम् । हन्तेति विषादे । तथा गुणज्ञाः गुणग्राहिणश्च । सहृदया इति
 यावत् । तैर्विना । 'पृथग्विना—' इत्यादिना तृतीया । गुणा विद्याविनयादयश्च
 बन्ध्यफलतां निष्फलतां याता गताः, अनुभावकाभावाच्चिरार्थका जाता इत्यर्थः ।
 तथा बलवान् बलिष्ठः, दुर्जय इत्यर्थः । कालः कालस्वरूपः, अपरावर्त्य इति
 यावत् । अक्षमी असहनश्च कृतान्तो यमः सहसा अभ्युपैति अभियुङ्क्ते, प्राणापहर-
 णार्थमित्यर्थः । 'कृतान्तौ यमसिद्धान्तौ' इत्यमरः । अतः किं युक्तं उचितम् ईदृश-
 शयां किं कर्तव्यमिति भावः । हा कष्टम् । तथापीदमेकं तरणसाधनमस्तीति
 स्मरणमभिनीयाह—ज्ञातं अवगतम् । किं ज्ञातमित्यत आह—मदनान्तकस्य शंभोः
 अङ्क्षियुगलं पादयुग्मं मुक्त्वा विहाय अन्या गतिः शरणं नास्ति । अतस्तदेव
 शरणमिति भावः । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ८३ ॥

ननु 'यत्पादनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।
 ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥' इत्यादिना शिवा-
 द्यशेषदेवताकल्याणप्रदे अखिललोकाराध्ये संसारार्णवतरणयानपात्रे भगवतश्चरणार-
 विन्दे जाग्रति कथं शिवाङ्क्षियुगलं विनान्या गतिर्नास्तीति प्रलपस इत्याशङ्क्याह—

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे

जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि ।

न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे

तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ॥ ८४ ॥

जगतां चतुर्दशभुवनानां अधीश्वरे स्वामिनि महेश्वरे शिवे वा । तथा जगतां
अन्तरात्मनि अन्तःकरणसाक्षिणि अन्तर्यामिणीति वा । अथवा अन्तर्भूतात्मनि
जीवात्मस्वरूपे । अविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्यत्वेन तथाभूतत्वादिति भावः । यद्वा
जगन्त्यन्तरात्मनि यस्य तस्मिन् तथोक्ते, कुक्षिस्थाखिलभुवन इत्यर्थः । जनानर्दयतीति
जनार्दने विष्णौ वा । मे मम वस्तुभेदप्रतिपत्तिः । अयं महेश्वरोऽयं जनार्दन इति
वस्तुगोचरभेदबुद्धिः नास्ति । 'शिवाय विष्णुरूपाय' इत्यादिना तयोर्वस्तुतो भेदा-
भावादिति भावः । तथापि भेदप्रतिपत्त्यभावेऽपि तरुणेन्दुः शेखरः शिरोभूषणं यस्य
तस्मिन् शिवे भक्तिः भजनानुरागः । अस्तीति शेषः । अत एव नान्या गतिरित्युक्तमिति
भावः । इदं च 'स्वभावो दुरतिक्रमः' इति न्यायादित्यवगन्तव्यम् । वंशस्थं वृत्तम् ॥

अथ स्थायिनः शमस्योदयवशाच्छान्तरसाभिव्यञ्जकवाक्यान्याह पञ्चभिः—

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले कापि पुलिने

सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः ।

भवाभोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्युच्चवचसः

कदा यास्यामोऽन्तर्गतबहुलबाष्पाकुलदशाम् ॥ ८५ ॥

शान्ता उपरता ध्वनयः पक्षिमृगादिरुतानि यासु तासु तथोक्तासु । एतेन
चित्तविक्षेपहेतुराहित्यं सूच्यते । रजनीषु रात्रिषु स्फुरन्ती प्रकाशमाना स्फारा प्रवृद्धा
च या ज्योत्स्ना चन्द्रिका तथा धवलितं पाण्डुरीकृतं तलं प्रदेशो यस्य तस्मिन् कापि
कस्मिंश्चित् द्युसरितो गङ्गायाः संवन्धिनि पुलिने सैकते सुखं यथा तथा आसीना
उपविष्टाः सन्तः । भवाभोगात् संसारविस्तारादुद्विग्नाः विह्वलाः, दुःखजनकत्वादिति
भावः । वयमिति शेषः । अतः शिवेत्यादित्रिवारं उच्चानि ताराणि वचांसि आक्रन्द-
वचनानि येषां ते तथोक्ताः । 'आर्तवचसः' इति पाठे दैन्यवचनाः सन्तः कदा
कस्मिन्वा समये अन्तः अभ्यन्तरे गताः । नियमनवशादन्तर्लीना इति यावत् ।
बहुलाश्च ये बाष्पाः आनन्दाश्रूणि तैः आकुला व्याकुला या दशा अवस्था तां
यास्यामः । अन्तर्नियमितानन्दबाष्पपर्याकुलावस्थां कदा गमिष्याम इत्यर्थः । 'दशम्'
इति पाठे बाष्पाकुलाः या दृग्दृष्टिः तां यास्याम इत्यन्वयः । 'कदा स्यामानन्दोद्भूत-
बहुलबाष्पाकुलदशः' इति पाठे आनन्दादुद्भूता उत्पन्ना ये बहुलबाष्पाः तैः आकुला
दृशो येषां ते तथोक्ताः । कदा स्याम भवेम ? तदानीं खलु वयं कृतकृत्या इति
भावः । शिखरिणी ॥ ८५ ॥

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः

स्मरन्तः संसारे विगुणपरिणामां विधिगतिम् ।

वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणा-

स्त्रियामा नेष्यामो हरचरणचिन्तैकशरणाः ॥ ८६ ॥

सर्वस्वे निखिलधने वितीर्णे दत्ते अर्थिसात्कृते सति । 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं
त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इत्यमरः । ततः तरुणा प्रत्यग्रा या करुणा भूतदया

तया पूर्णानि पूरितानि हृदयानि येषां ते तथोक्ताः । तथा संसारे विधिगतिं दैवप्रवृत्तिं विगुणपरिणामां विषमपरिपाकाम्, अकुशलपर्यवसायिनीमिति यावत् । स्मरन्तः सन्तः मनस्यनुसंधानाः सन्तः वयं पुण्यारण्ये तपोवने हरचरणचिन्ता शिवपादारविन्द-
ध्यानमेव एकं मुख्यं शरणं रक्षणं येषां ते तथोक्ताः सन्तः परिणता परितो व्याप्ताः शरच्चन्द्रकिरणाः शारदेन्दुमयूखा यासु तास्तथोक्ताः त्रियामाः रात्रीः नेष्यामः गमयिष्यामः । कदेति शेषः । द्वयोः प्रथमचरमयामार्धयोः दिनव्यवहारात्रयो यामा यस्याः सा त्रियामेति विग्रहः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ८६ ॥

कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वसन्

वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम् ।

अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शंभो त्रिनयन !

प्रसीदेत्याक्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥ ८७ ॥

कदा कस्मिन्वा काले वाराणस्यां काश्यां अमरतटिनीरोधसि गङ्गातीरे वसन् तिष्ठन् । तथा कौपीनं गुह्याच्छादनचेलखण्डं वसानः आच्छादयन्, लोकविरोध-
परिहारार्थं तावन्मात्रपरिग्रहो न तु परिग्रहान्तरापेक्ष इत्यर्थः । 'वस आच्छादने' इति धातोः शानच् । शिरसि अञ्जलिपुटं करसंपुटं निदधानः सन् । अये भोः गौरीनाथ पार्वतीपते ! त्रयाणां पुराणां समाहारः त्रिपुरम् । पात्रादित्वात्र ङीप् । तस्य । हरतीति हरः । हे त्रिपुरहर त्रिपुरान्तक ! शं सुखं अस्माद्भवतीति शंभो ! त्रिनयन हे त्र्यम्बक ! शुभ्रादित्वात्र णत्वम् । एतदामन्त्रणचतुष्टयं परमेश्वरस्य लोकसंग्रहकारणत्वा-
शक्यकार्यकरणसामर्थ्यभक्तजनसुखसंघायकत्वासाधारणमहिमास्पदत्वद्योतनार्थमित्य-
वगन्तव्यम् । प्रसीद प्रसन्नो भवेति आक्रोशन् उच्चैः रटन् दिवसान् अनेकान् निमि-
षमिव क्षणमिव नेष्यामि । अत्र भावितीव्रनरकयातनानुचिन्तनादिभिर्विभावैर्जनितः कौपीनधारणशिरोञ्जलिपुटसंघटनादिभिरनुभावैरभिव्यक्तः कदेति पदसूचितेन चिन्ता-
ख्येन संचारिभावेन च परिपुष्टः स्वात्मावमाननलक्षणो निर्वेदस्थायी शान्तरसः परिस्फुरतीत्यवगन्तव्यम् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ८७ ॥

स्नात्वा गाङ्गैः पयोभिः शुचिकुसुमफलैरर्चयित्वा विभो ! त्वां

ध्येये ध्यानं निवेश्य क्षितिधरकुहरग्रामपर्यङ्कमूले ।

आत्मारामं फलाशीं गुरुवचनरतस्त्वत्प्रसादात्सरारे

दुःखं मोक्षये कदाहं समकरचरणे पुंसि सेवासमुत्थम् ॥ ८८ ॥

गङ्गाया इमानि गाङ्गानि । 'तस्येदम्' इत्यण् । तैः पयोभिः गङ्गाजलैरित्यर्थः । स्नात्वा शुद्धो भूत्वा । हे विभो शंभो ! शुचिभिः शुद्धैः, शास्त्रसंमतैरिति यावत् । कुसुमैः फलैश्च त्वां अर्चयित्वा समाराध्य । एतेन बाह्यपूजाया अप्यंशतः प्राधान्य-
मस्तीति सूचितम् । ध्येये ध्यातुं योग्ये वस्तुनि, त्वच्चरणारविन्द एवेत्यर्थः । ध्यानं निवेश्य, एकाग्रचित्तो भूत्वेत्यर्थः । तथा क्षितिधरकुहरे यो ग्रावा पाषाणः स एव पर्यङ्कः सुखशय्या तस्य मूले । निषण्णः सन्निति शेषः । समाधिव्युत्थानानन्तरं सुखसंवेशयोग्यताद्योतनार्थं ग्राणि पर्यङ्कत्वरूपणम् । आत्मन्येवारमत इत्यात्मारामः, विषयान्तरासक्तिशून्यः सन्नित्यर्थः । 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि'

इति स्मृतेः । तथा फलाशी फलाहारः । शरीरधारणार्थमिति भावः । गुरुवचनरतः आचार्योपदिष्टकर्माचरणतत्परः सन् । अहम् । इत्थंभूतताया एव श्रेयोहेतुत्वादिति भावः । हे स्मरारे मदनान्तक शंभो ! त्वत्प्रसादात् त्वदनुग्रहात् मकरेण मकराकार-रेखया सह वर्तत इदि समकरश्चरणो यस्य तस्मिन् तथोक्ते पुंसि महाभाग्यसंपन्ने पुरुषे विषये, राज्ञीत्यर्थः । सेवासमुत्थं परिचर्यासमुत्पन्नं दुःखं कदा मोक्षये परमेश्वरानुग्रहं विना श्रेयोलाभाभावादिति भावः । समकरचरणस्य महाभाग्यसंपन्न-त्वमुक्तं सामुद्रिके—‘मकरो मत्स्यरेखा च पद्मशङ्खाकृतिः पदे । महाधनी महाभोगी दाता दीर्घायुरेव च ॥’ इति स्वधरा वृत्तम् ॥ ८८ ॥

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।

कदा शंभो ! भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥ ८९ ॥

एकाकीति । एकाकी असहायः, सङ्गरहित इति यावत् । ‘सङ्गात्संजायते कामः’ इत्यादिसङ्गजनितकामादिपरम्परायाः अनर्थहेतुत्वादिति भावः । ‘एकादाकिनिच्चासहाये’ इत्यानिच्प्रत्ययः । कुतः ? । निःस्पृहः विषयाभिलाषशून्यः । अत एव शान्तः रागाद्यनु-पहतचित्तः । ‘शान्तो दान्त उपरतस्तिष्ठः समाहितो भूत्वा’ इति श्रुतेः । अतः पाणिरेव पात्रं भिक्षापात्रं यस्य स तथोक्तः । तथा दिश एवाम्बराणि यस्य स तथोक्तः सन् । अहमिति शेषः । हे शंभो ! कर्मणां संचितप्रारब्धानां निर्मूलने समूलविध्वंसने क्षमः समर्थः कदा भविष्यामि ? कर्मबन्धात्कदा मोक्ष्य इत्यर्थः । ‘भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्मणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥’ इतीश्वर-साक्षात्कारमन्तरा कर्मक्षयाभावात्तदर्थं त्वं प्रत्यक्षो भवेति भावः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ८९ ॥

अथैवंभूतानां शिवप्रसादान्मोक्षमार्गोऽविलम्बेनैव सुलभो भवतीति निगमयति—

पाणिं पात्रयतां निसर्गशुचिना भैक्षेण संतुष्यतां

यत्र कापि निषीदतां बहुतृणं विश्वं मुहुः पश्यताम् ।

अत्यागेऽपि तनोरखण्डपरमानन्दावबोधस्पृशा-

मध्वा कोऽपि शिवप्रसादसुलभः संपत्स्यते योगिनाम् ॥ ९० ॥

पाणिं करतलमेव पात्रं भोजनभाजनं कुर्वतां पात्रयताम् । पात्रशब्दात् ‘तत्क-रोति—’ इति ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । निसर्गशुचिना स्वभावपरिपूतेन भैक्षेण भिक्षा-कदम्बकेन संतुष्यतां संतोषं प्राप्नुवताम् । ‘भिक्षादिभ्योऽण्’ । ‘भैक्षं भिक्षाकदम्ब-कम्’ इत्यमरः । यत्र कापि यस्मिन्कस्मिन्प्रदेशे । श्मशाने वने वेल्यर्थः । निषीदताम्, उपविशतामित्यर्थः । मुहुः पौनःपुन्येन विश्वं प्रपन्नं बहुतृणं ईषदसमाप्तं तृणम्, तृणकल्पमित्यर्थः । ‘विभाषा सुपो बहुचपुरस्तान्तु’ इति बहुचप्रत्ययः प्रकृतेः पूर्वं भवति । ‘स्यादीषदसमाप्तौ तु बहुचप्रकृतिलिङ्गकः’ इति वचनात्प्रकृतिलिङ्गता । पश्यतां आकलयताम् । तथा तनोरत्यागेऽपि देहसंबन्धशून्यत्वाभावेऽपि अखण्डोऽपरिच्छिन्नो यः परमानन्दो ब्रह्मानन्दः तस्य अवबोधं स्पृशन्ति अनुभवन्तीति तथोक्तानाम् । जीवन्मुक्त्वादिति भावः । ‘स्पृशोऽनुदके किन्’ इति किन्प्रत्ययः । योगिनां ध्यान-निष्ठानां शिवप्रसादेन सुलभः सुलभ्यः कोऽपि अनिर्वाच्योऽध्वा, मोक्षमार्ग इत्यर्थः । संपत्स्यते संपन्नो भवति । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ९० ॥

इति वैराग्यशतकव्याख्याने शिवार्चनं नाम नवमं दशकम् ।

(अथावधूतचर्या ।)

शिवाचनस्य मोक्षोपयोग्यावधूतभावफलकत्वादत्यागेऽपि तनोरखण्डपरमानन्द-
बोधस्पृशामित्युपक्रान्तत्वाच्चेदानीं तावदवधूतचर्यामाह—अथावधूतचर्येति । अवधूतो
नाम ब्रह्मात्मैक्यानुसंधानतत्परः विस्मृतबहिःप्रपन्नः जीवन्मुक्तशब्दवाच्यो मलिनो
योगपुरुषः तस्य चर्या आचारः । उच्यत इति शेषः । उपक्रान्तामवधूतचर्यां
दशभिर्वर्णयति—

कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी

नैश्चिन्त्यं निरपेक्षभैक्षमशनं निद्रा श्मशाने वने ।

स्वातन्त्र्येण निरङ्कुशं विहरणं स्वान्तं प्रशान्तं सदा

स्थैर्यं योगमहोत्सवेऽपि च यदि त्रैलोक्यराज्येन किम् ॥ ९१ ॥

कौपीनमिति । शतखण्डैः अनेकशकलैः जर्जरतरं अतिविशीर्णं कौपीनं गुह्या-
च्छादनचीरखण्डं यदि । अस्ति चेदित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि । ‘कौपीनं स्यादकार्यं च
गुह्यचीरप्रदेशयोः’ इति विश्वः । तादृशी तथाभूतशतखण्डजर्जरतरैवेत्यर्थः । कन्था
पुनः कन्था चास्ति यदि । नैश्चिन्त्यं विषयचिन्ताराहित्यं च यदि । तथा निरपेक्ष-
मज्ञानवर्तनापेक्षारहितं भैक्षं अशनं भोजनं यदि । श्मशाने प्रेतभूमौ वने महारण्ये
वा निद्रा च यदि । स्वातन्त्र्येण स्वाच्छन्द्येन निरङ्कुशं अप्रतिबन्धं विहरणं विहारश्च
यदि । सदा प्रशान्तं प्रसन्नम् । ‘वा दान्त-’ इत्यादिना निपातः । स्वान्तं चित्तं यदि ।
योगमहोत्सवे योगः समाधिरेव महोत्सवः तस्मिन् स्थैर्यं च यदि अस्ति चेत्, तर्हि
त्रैलोक्यराज्येन त्रिलोकाधिपत्येन किम् ? न किमपीत्यर्थः । तस्यैव परमसौख्यावह-
त्वादिति भावः । त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे व्यञ्जप्रत्ययः ।
वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ९१ ॥

चञ्चल्यन्तसौख्यावहत्वेन प्रसिद्धं त्रैलोक्यराज्यं निषिध्य कौपीनादिसंपन्नेरेवोत्तमत्वं
प्रतिपादितम्, तदसत् । यतस्तस्यैवात्यन्तप्रलोभकत्वादित्याशङ्क्य मनस्विनस्तावदेता-
वदेवाप्रलोभकं किं ब्रह्माण्डमपि तत्राकिंचित्करमेवेति सहृष्टान्तमाह—

ब्रह्माण्डं मण्डलीमात्रं किं लोभाय मनस्विनः ।

शफरीस्फुरितेनाब्धिः क्षुब्धो न खलु जायते ॥ ९२ ॥

ब्रह्माण्डमिति । मण्डलीमात्रं बिम्बमात्रम् । घटादिवदियत्तया परिच्छिन्नमित्यर्थः ।
‘मण्डलीभूतम्’ इति वा पाठः । तथा अमण्डलं मण्डलं संपद्यमानं मण्डलीभूतम् ।
अभूततद्भावे च्छिः । ‘ऊर्यादिच्छिडाचश्च’ इति गतिसंज्ञायाम् ‘कुगतिप्रादयः’ इति
समासः । ‘बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु’ इत्यमरः । ब्रह्माण्डं चतुर्दशभुवनगर्भितब्रह्मा-
ण्डकटाहः मनस्विनो धीरस्य, योगिन इत्यर्थः । प्रशंसायामिनिः । लोभाय चित्त-
प्रलोभनाय किम् ? भवतीति शेषः । न भवत्येव किमुत तदेककोणे निलीनं त्रैलोक्य-
राज्यमिति भावः । तत्र दृष्टान्तमाह—अब्धिः समुद्रः शफरीस्फुरितेन मत्स्यविशेषो-
द्गुणनेन क्षुब्धः क्षोभितः । ‘क्षुब्धस्वान्त-’ इत्यादिना निपातः । न जायते खलु न

भवति खलु । 'प्रोष्ठी तु शफरी द्वयोः' इत्यमरः । मत्स्योल्लुण्ठनेनाविधोभणमिव
त्रैलोक्यराज्येन मनस्विमनःप्रलोभनमित्यर्थः । अतस्तदेवातिसौख्यावहमिति भावः ।
अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ९२ ॥

अथ वैराग्यप्रकारमाह—

मातर्लक्ष्मि ! भजस्व कंचिदपरं मत्काङ्क्षिणी मा स्म भू-
भोगेषु स्पृहयालवस्तव वशे का निःस्पृहाणामसि ।
सद्यःस्यूतपलाशपत्रपुटिकापात्रे पवित्रीकृतै-
र्भिक्षावस्तुभिरेव संप्रति वयं वृत्तिं समीहामहे ॥ ९३ ॥

मातः जननि हे लक्ष्मि ! 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । अत्र मातृग्रहण-
मेतावन्तं कालं त्वया रक्षिता वयमिति भक्त्यतिशयसूचनार्थमित्यवगन्तव्यम् ।
अपरं अन्यं कंचिद्वाग्यवन्तं पुरुषं भजस्व सेवस्व । मत्काङ्क्षिणी मद्विषयामिलाषिणी
मा स्म भूः, मा भवेत्यर्थः । 'स्मोत्तरे लङ् च' इति चकारादाशीरर्थे लुङ् । 'न माढ्योगे'
इत्यडागमप्रतिषेधः । नन्विदानीं कुत एतद्वैराग्यमित्यत आहुः—भोगेषु स्वचन्दना-
दिविषयानुभवेषु स्पृहयालवः स्पृहावन्तः पुमांसः । 'स्पृहि-' इत्यादिना चुरादीदन्ता-
ण्यन्तादालुच्प्रत्ययः । तव वशे त्वदायत्ततायाम् । वर्तन्त इति शेषः । त्वदधीना
भवन्तीत्यर्थः । 'वश आयत्ततायां च' इत्यमरः । तर्हि यूयं क इत्याशङ्कयामाहुः—
निःस्पृहाणां भोगामिलाषशून्यानां कासि कीदृश्विधासि ? न काप्यसीत्यर्थः । वयं च
निःस्पृहा इति भावः । अतोऽस्मान्विहायान्यत्र गच्छेति संबन्धः । नन्वेवं चेद्युष्माकं
कथं जीविकेत्याशङ्कयामाहुः—वयं संप्रति इदानीं सद्यः तत्काल एव । 'सद्यःपरुत्प-
रारि-' इत्यादिना निपातनात्साधुः । स्यूता विरचिता । कर्मणि क्तः । 'च्छ्रोः शूड-
नुनासिके च' इति ऊठि यणादेशः । पलाशपत्रपुटिका किंशुकपर्णपुटिकैव पात्रं
भिक्षाहरणोचितभाजनं तस्मिन्पवित्रीकृतैः । पावनीभूतैरित्यर्थः । अभूततद्भावे च्विः ।
'अस्य च्वौ' इतीकारः । भिक्षावस्तुभिः अन्नकवलशाकादिभिक्षाद्रव्यैरेव । 'भिक्षास-
क्तुभिः' इति पाठे भिक्षासक्तुविशेषैरित्यर्थः । वृत्तिं जीविकां समीहामहे । अभिलषा-
महे, विरक्ता भवाम इत्यर्थः । अतः किमर्थं त्वमस्माकमिति भावः । अत्र पलाशपत्र-
पुटिकायाः सद्यःस्यूतत्वकथनं अविशदत्वद्योतनार्थम् । अन्यथा भिक्षाहरणानुपयुक्ता
स्यादिति वेदितव्यम् । तथा 'पलाशं पद्मपत्रं च' इत्यादिवचनात्पवित्रीकरणयोग्येषु
पलाशपत्रेषु निक्षिप्तसाधारणाच्चादीनामपि पवित्रत्वम्, किमुत निसर्गशुचिभिक्षा-
वस्तूनामिति चावगन्तव्यम् । वृत्तं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ९३ ॥

अथ योगिनः सार्वभौमसाम्यमाह—

महाशय्या पृथ्वी विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥ ९४ ॥

पृथ्वी भूमिः महाशय्या विशङ्कटपर्यङ्कः । पृथुरेव पृथ्वी । 'बोतो गुणवचनात्' इति
 ङीप् । मही शय्या । 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्मावनिर्मेदिनी मही' इत्यमरः । भुजलता
 बाहुवल्ली विपुलं विस्तीर्णं उपधानम् । 'उपधानं तूपबर्हः' इत्यमरः । आकाशं च
 वितानं उल्लोचः । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः । अयं प्रवर्तमानः । अनुकूलः
 अनिलः पवनः व्यजनम्, तालवृन्तकमित्यर्थः । 'व्यजनं तालवृन्तकम्' इत्यमरः ।
 शरच्चन्द्रो दीपः । शरद्वहणं चन्द्रस्य प्रकाशातिशयद्योतनार्थम् । इत्येतत्सर्वमयत्न-
 सिद्धम्, अपरिच्छिन्नं चेत्यर्थः । प्रसिद्धं तु नैवंभूतमिति भावः । स्वयं विरतिः
 विरक्तिरेव वनिता तस्याः सङ्गेन मुदितः संतुष्टः अत एव सुखी आनन्दपूर्णः शान्तः
 शमशीलो मुनिः । 'निवृत्तः सर्वतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः । ध्यानस्थो निष्क्रियो
 दान्तस्तुल्यमृत्कान्धनो मुनिः ॥' इत्युक्तलक्षणः कश्चिद्योगीश्वरः । अतनुभूतिः अखण्डितै-
 श्वर्यसंपन्नो नृपः सार्वभौम इव शेते स्वपिति, निरातङ्कं निद्रातीत्यर्थः । रूपकसंकीर्णोऽय-
 मुपमालंकारः । तथा उपमानान्नृपादुपमेयस्य मुनेरपरिच्छिन्नशय्यादिसंपन्नत्वेनाधिक्य-
 प्रतीतेर्व्यतिरेको व्यज्यत इत्यलंकारेणालंकारध्वनिः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ९४ ॥

अथ योगिस्वरूपं निरूपयति—

भिक्षाशी जनमध्यसङ्गरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा

हानादानविरक्तमार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः ।

रथ्याकीर्णविशीर्णजीर्णवसनः संप्राप्तकन्थासनो

निर्मानो निरहंकृतिः शमसुखाभोगैकबद्धस्पृहः ॥ ९५ ॥

भिक्षामश्नातीति भिक्षाशी । भिक्षाज्ञमात्रभोजनेन शरीरधारणतत्पर इत्यर्थः ।
 जनमध्ये सङ्गरहितः आसक्तिविहीनः । 'सङ्गात्संजायते कामः—' इत्यादिस्मृतेः । तस्य
 निधानत्वादिति भावः । किंतु सदा सर्वदा स्वायत्ता स्वाधीना चेष्टा व्यापारो यस्य
 स तथोक्तः । स्वच्छन्दविहारनिरत इत्यर्थः । स्वाधीनात्मीयव्यापारो वा । 'अधीनो
 निम्न आयत्तः' इत्यमरः । तथा हानादानयोः त्यागस्वीकारयोर्विरक्तः असंकीर्णः यो
 मार्गः तत्र निरतः आसक्तः । नियमेन हेयवस्तुहानोपादेयवस्तुपादानतत्पर इत्यर्थः ।
 यद्वा हानं इदं हेयमिति त्यागः, आदानं इदमुपादेयमिति स्वीकारः । हेयोपादेय-
 बुद्धिशून्य इत्यर्थः । 'निस्त्रैगुण्ये पथि विहरतां को विधिः को निषेधः' इत्यादिवचनात्तस्य
 विधिनिषेधातीतत्वादिति भावः । तथा रथ्यायां वीथ्यां कीर्णं अनुपयुक्तत्वाज्जनैर्वि-
 क्षिप्तम् । कुतः ? । विशीर्णं विशकलितम् । तत्कुतः ? । जीर्णं पुरातनं तथाभूतं वसनं
 आच्छादनं यस्य रथ्याकीर्णविशीर्णजीर्णवसनः । 'चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति
 भिक्षाम्' इत्यादिना तस्य तथाविधवसनधारणस्वाभाव्यादिति भावः । अर्शआदित्वा-
 न्मत्वर्थीयोऽच्छप्रत्ययः । अर्शआदिराकृतिगणः । यद्वा रथ्यायां कीर्णं अनादरेण
 विक्षिप्तं विशीर्णं जीर्णं च वसनं निजाच्छादनं येन स तथोक्तः । संप्राप्तं समधिष्ठितं
 कन्थैवासनं येन स तथोक्तः । चतुर्गुणितकन्थोपर्युपविष्ट इत्यर्थः । अतएव निर्मानो-
 ऽभिमानशून्यः । निरहंकृतिः अहंकारशून्यः । तदात्माध्यासरहित इत्यर्थः । शमो
 नाम वैराग्येण निर्विकारचित्तत्वं तेन यः सुखाभोगः आनन्दातिशयः तत्र एकं मुख्यं
 यथातथा बद्धा स्पृहा येन स तथोक्तः । ब्रह्मध्याननिष्ठ इत्यर्थः । कश्चित् कोऽपि

तपस्वी महातपाः योगीश्वरः प्रशंसायामिनिः । स्थितः” निरातङ्कं वर्तत इति भावः ।
रथ्याकीर्णेति संप्राप्तेति च विशेषणद्वयेन बाह्यवैराग्यमित्यवगन्तव्यम् । स्वभावोक्ति-
रलंकारः—‘स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्’ इति लक्षणात् । वृत्तं
शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ९५ ॥

अथ योगिनां मानावमानतुल्यतामाह—

चण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः

किं वा तत्त्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम् ।

इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैराभाष्यमाणा जनै-

र्न क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ॥ ९६ ॥

अयं परिदृश्यमानः चण्डालः किं अन्यजो वा । अथवेति पक्षान्तरे । द्वे जाती
शूद्रत्वब्राह्मणरूपे यस्य स तथोक्तः किं ब्राह्मणो वा ? ‘जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा
जायते द्विजः’ इति स्मृतिवचनादिति भावः । यद्वा द्वे जाती जन्मनी गर्भनिर्गमन-
संस्काराभ्यां यस्य सः द्विजातिः किम् ? अथ यद्वा शूद्रः किं वृषलो वा किम् ? वा
यद्वा तापसः किं तपोनिष्ठो वा किम् ? वा तत्त्वविवेकपेशला परमार्थपर्यालोचनतत्परा
मतिर्यस्य स तथोक्तः कश्चित्कोऽपि योगीश्वरः किं ध्याननिष्ठो वा । इत्यनेन प्रकारेण
उत्पन्नैः उदितैः विकल्पजल्पैर्वाक्यैः मुखराः वाचालाः तैः । इत्थंभूतवाक्यानि
वदद्भिरित्यर्थः । जनैः पथि मार्गे आभाष्यमाणा अधिक्षिप्यमाणा अपि न क्रुद्धाः न
कोपिताः । चण्डालत्वाद्याक्षेपेणेति भावः । नैव तुष्टमनसः न संतुष्टान्तःकरणाश्च
द्विजातित्वाद्याक्षेपेणेति भावः । योगिनो योगारूढाः स्वयं यान्ति तूष्णीं गच्छन्ति ।
ब्रह्मनिष्ठत्वादिति भावः । तथा च गीतावचनम्—‘न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्
प्राप्य चाप्रियम् । स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः । शीतोष्णसुखदुःखेषु
तथा मानापमानयोः ॥ ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः । युक्त इत्युच्यते
योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥’ इत्यादि । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ९६ ॥

अथ हिंसादिराहिल्यवृत्तिमाह—

हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रा मरुत्कल्पितं

व्यालानां पशवस्तृणाङ्कुरभुजस्तुष्टाः स्थलीशायिनः ।

संसारार्णवलङ्घनक्षमधियां वृत्तिः कृता सा नृणां

तामन्वेषयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समाप्तिं गुणाः ॥ ९७ ॥

हिंसया अन्योपतापकवधादिभिः शून्यं रहितम् । अयत्नेन यत्नं विना लभ्यं प्राप्यं
अशनं अन्नम् । ‘मिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नम्’ इत्यमरः । धात्रा चित्रविचित्रसृष्टिकर्त्रा
ब्रह्मणा व्यालानां सर्पाणाम् । ‘व्यालो दुष्टगजे सर्पे’ इति विश्वः । मरुता वायुना
कल्पितं निर्मितम् । पशवः गोप्रभृतयः तृणाङ्कुरान् बालतृणानि भुजन्तः सन्तः
स्थलीशायिनः अकृत्रिमप्रदेशे शयनवन्तः तुष्टाः संतुष्टाः । संसारः पुत्रमित्रकलत्रादि-
धारावाहिरूपा संसृतिः स एवार्णवः तस्य लङ्घने अतिक्रमणे क्षमा धीः येषां तेषां
नृणां जनानाम् । यथा तरणिद्वारा समुद्रं तरन्ति तथा ज्ञानद्वारा संसारं तरन्तीत्यर्थः ।

सा वृत्तिः पूर्वोक्तप्रसिद्धजीवनं कृता निर्मितम् । ब्रह्मणेति शेषः । तां वृत्तिं अन्वेययतां मार्गमाणानां निरस्तरजस्तमोजनितदोषाणां सर्वे गुणाः सततं सर्वदा समाप्तिं नाशं प्रयान्ति प्राप्नुवन्ति । 'यो मे गर्भगतस्यापि वृत्तिः कल्पितवान्प्रभुः । शेषवृत्तिविधानाय सुप्तः किं नु मृतोऽपि वा ॥' इति वचनरीत्या वृत्तिकल्पने जागरूकः सन् भगवान् वर्तत इति मत्वा हिंसादिराहित्येन वृत्तिं कुर्वन् यदृच्छया संप्राप्तद्रव्येण तुष्टः सन् यत्र कुत्र वा वसन् रजस्तमोदोषैः अलिप्तः सन् योगी सर्वदात्मानुसंधानं कुर्वन् स्थातव्य इत्याशयः । वृत्तं पूर्ववत् ॥ ९७ ॥

अथ निर्वृत्तिप्रकारमाह —

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलावद्धपद्मासनस्य

ब्रह्मध्यानाभ्यासनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।

किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः

कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये ॥ ९८ ॥

गङ्गायाः सुरनद्याः तीरे कूले । 'कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु' इत्यमरः । तीरग्रहणं तद्गतशीतत्वपावित्र्यादिसिद्ध्यर्थम् । हिमगिरेः शीतनगस्य शिलायाः पाषाणस्य उपरि बद्धं पद्मासनं येन तस्य । किञ्च ब्रह्मणः ध्यानं उपासनं तस्य अभ्यासनं अभ्यासः तस्य विधिः विधानं तेन । 'विधिर्विधाने दैवेऽपि' इत्यमरः । योगनिद्रां गतस्य प्राप्तस्य योगिनः मम तैः सुदिवसैः पुण्यदिनैः भाव्यं किम् ? । यत्र ते जरठहरिणाः वृद्धकुरङ्गाः निर्विशङ्काः निर्भोकाः सन्तः स्वाङ्गं स्वशरीरं मदीये अङ्गे शरीरे कण्डूयन्ते । तैर्भाव्यमित्यभिप्रायः । एवं च ग्रामनिवासं त्यक्त्वा गङ्गातीरे हिमवत्पर्वतपाषाणोपरि पद्मासनासनवतीं ब्रह्मध्यानाभ्यासविधानेन योगनिद्रां गतः सन्नहं निर्विशङ्कैः जरठहरिणैः साकं यदा स्थास्ये तदा मे सुदिवसा जायन्त इत्यभिप्रायः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ९८ ॥

अथ केवलं सर्वसङ्गपरित्यागमाह —

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं

विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमचपलं तल्पमस्वल्पमुर्वी ।

येषां निःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतस्यान्तसंतोषिणस्ते

धन्याः संन्यस्तदैर्न्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥ ९९ ॥

पाणिः हस्त एव पवित्रं परिशुद्धं पात्रं भाजनम् । 'योग्यभाजनयोः पात्रम्' इत्यमरः । भ्रमणेन संचारेण परिगतं प्राप्तं भैक्षं भिक्षाकदम्बकं अक्षय्यं नाशरहितं अन्नं अशनम् । आशानां दिशां दशकं दश विस्तीर्णं विशालं वस्त्रं वासः । उर्वी भूमिः अस्वलपं महत् अचपलं अचञ्चलं तल्पं शय्या येषां निःसङ्गतायाः सङ्गरहितस्य अङ्गीकरणेन परिणतं परिपक्वं गतं यत् स्वान्तं तेन संतोषिणः संतुष्टाः ते धन्याः संन्यस्ताः त्यक्ताः दैन्यस्य व्यतिकरनिकराः यैस्ते तथोक्ताः सन्तः कर्म निर्मूलयन्ति नाशयन्ति । एवं च यत्र कुत्र वा वसन् पाणिपात्रेण भैक्षान्नं भुक्त्वा दिगम्बरः उर्वीशयनः निःसङ्गपरिणतचित्तेन संतुष्टः सन् त्यक्तदैर्न्यव्यतिकरनिकरः धन्यः धारावाहिकजन्मपरम्पराप्रदं कर्म निर्मूलयन्तीत्यभिप्रायः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ९९ ॥

अथ पञ्चभूतानि संबोध्याह—

मातर्मेदिनि ! तात मारुत सखे ! तेजः सुबन्धो जल !

भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवतामन्त्यः प्रणामाञ्जलिः ।

युष्मत्सङ्गवशोपजातसुकृतस्फारस्फुरन्निर्मल-

ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ॥ १०० ॥

हे मातः जननि मेदिनि वसुमति ! हे तात जनक मारुत वायो ! हे सखे सुहृत् तेजः ! हे सुबन्धो शोभनबन्धो जल उदक ! हे भ्रातः सहोदर व्योम अम्बर ! भवतां युष्माकं अन्त्यः चरमः प्रणामाञ्जलिः नमस्कारपूर्वकाञ्जलिः निबद्ध एव । 'पाणिर्निकुब्जः प्रसृतिस्तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः । युष्माकं सङ्गस्य योगस्य वशेन अधीनेन उपजातं यत्सुकृतं तेन स्फारं विस्तारं स्फुरत् निर्मलं च यत् ज्ञानं तेन अपास्तः दूरतस्थितः, समस्तमोहमहिमा पुत्रमित्रकलत्राद्यभिनिवेशाज्ञानातिशयः सन् अहं परे ब्रह्मणि सच्चिदानन्दरूपिणि निर्विकारे निष्कलङ्के निरञ्जने ब्रह्मणि लीये । एवं च दारै-
षणा-वितैषणा-पुत्रैषणादिरहितः सन् चिदानन्दस्वरूपः सन् विदेहकैवल्ये जीवन्मुक्तः सन् अहं वर्त इत्याशयः । वृत्तं शार्दूविक्रीडितम् ॥ १०० ॥

इति वैराग्यशतकव्याख्यानेऽवधूतचर्या नाम दशमं दशकम् ।

इति सुभाषितत्रिशत्यां वैराग्यशतकं संपूर्णम् ।

इति श्रीपरमयोगीन्द्रवृन्दमानसमिलिन्दसंदोहामन्दानन्दलाभाभिनन्दितरघुनन्दन-
चरणारविन्दमकरन्दास्त्रादनकन्दलितसारसारस्वतेन, अखण्डतपःप्रचण्डमुनि-
प्रकाण्डमण्डलेश्वरशाण्डिल्यमहामुनिगोत्रावतंसस्य पञ्चान्वयसुधापारावारपार-
धुरीणसकलकविकुलसार्वभौमस्य कोण्डोपण्डितवर्यस्य तनूजेन, गङ्गाभिवका-
गर्भरत्नाकरसुधाकरेण, रामचन्द्रबुधेन्द्रेण विरचितया सहृदयानन्दि-

न्याख्यया व्याख्यया समेता श्रीभर्तृहरियोगीन्द्रविरचिता

सुभाषितत्रिशती संपूर्णा ॥

सुभाषितत्रिशतिश्लोकानुक्रमकोशः ।

श्लोकारम्भः	शतके	श्लोकः
अकरुणत्वमकारणविग्रहः	नीति०	४१
अग्रे गीतं सरसकवयः	वैराग्य०	६६
अच्छाच्छचन्दनसार्द्र—	शृङ्गार०	८७
अजानन्माहात्म्यं पततु	वैराग्य०	१८
अज्ञः सुखमाराध्यः	नीति०	२
अदर्शने दर्शनमात्र—	शृङ्गार०	२२
अधिगतपरमार्थान्प—	नीति०	१३
अपसर सखे दूरादस्मात्	शृङ्गार०	५१
अभिमतमहामानग्रन्थि—	वैराग्य०	२२
अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि	वैराग्य०	५८
अमीषां प्राणानां तुलित—	वैराग्य०	५
अम्भोजिनीवनविहार—	नीति०	१४
अयममृतनिधानं नायको	नीति०	८७
अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि	वैराग्य०	५२
अर्धं सुप्त्वा निशायाः	शृङ्गार०	९६
अवश्यं यातारश्चिरतर—	वैराग्य०	१२
अशीमहि वयं भिक्षा	वैराग्य०	५५
असाराः सर्वे ते विरति	शृङ्गार०	३५
असूचीसंचारे तमसि	शृङ्गार०	९४
आक्रान्तं मरणेन जन्म	वैराग्य०	३२
आज्ञा कीर्तिः पालनं	नीति०	३९
आदित्यस्य गतागतै—	वैराग्य०	४३
आधिव्याधिशतैर्जनस्य	वैराग्य०	३३
आमीलितनयनानां यः	शृङ्गार०	२६
आयुः कल्लोल्लोलं	वैराग्य०	३६
आयुर्वर्षशतं नृणां परि—	वैराग्य०	४९
आरम्भगुर्वी क्षयिणी	नीति०	४९
आवर्तः संशयानामविनय—	शृङ्गार०	४५
आवासः किलकिञ्चितस्य	शृङ्गार०	८३
आवासः क्रियतां गाङ्गे	शृङ्गार०	३८
आशा नाम नदी मनोरथ	वैराग्य०	१०

श्लोकारम्भः	शतके	श्लोकः
आसंसारात्रिभुवनमिदं	वैराग्य०	८१
आसारेण न हर्म्यतः	शृङ्गार०	९५
इतः स्वपिति केशवः	नीति०	६७
इतो विद्युद्वल्लीविलसित—	शृङ्गार०	९३
इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां	शृङ्गार०	२७
इमे तारुण्यश्रीनवपरिमलाः	शृङ्गार०	१९
इयं बाला मां प्रत्यनव—	शृङ्गार०	६३
इह हि मधुरगीतं	शृङ्गार०	५५
उत्खातं निधिशङ्कया	वैराग्य०	३
उद्भासिताखिलखलस्य	नीति०	४८
उद्धतः स्तनभार एष	शृङ्गार०	१५
उन्मत्तप्रेमसंरम्भा—	शृङ्गार०	७५
उन्मीलत्रिवलीतरंग—	शृङ्गार०	४९
उपरि घनं घनपटलं	शृङ्गार०	९२
उरसि निपतितानां	शृङ्गार०	२५
एकाकी निःस्पृहः शान्तः	वैराग्य०	८९
एको रागिषु राजते	वैराग्य०	१७
एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थ—	वैराग्य०	६३
एताश्चलद्वलयसंहति—	शृङ्गार०	८
एते सत्पुरुषाः परार्थ—	नीति०	६४
ऐश्वर्यस्य विभूषणं	नीति०	८०
कदर्थितस्यापि हि धैर्य—	नीति०	७६
कदा वाराणस्याममरतटिनी	वैराग्य०	८७
करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि	नीति०	५३
कश्चुम्बति कुलपुरुषो	शृङ्गार०	५९
कान्ताकटाक्षविशिखा	नीति०	७५
कान्तेत्युत्पललोचनेति	शृङ्गार०	४१
कामिनीकायकान्तारे	शृङ्गार०	५३
किं वेदैः स्मृतिभिः	वैराग्य०	७१
किं कन्दर्प शरं कदर्थ—	शृङ्गार०	६४
किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलय	वैराग्य०	२५
किं गतेन यदि सा न	शृङ्गार०	६६
किमिह बहुभिरुक्तै—	शृङ्गार०	३९
कुङ्कुमपङ्ककलङ्कितदेहा	शृङ्गार०	९

श्लोकारम्भः	शतके	श्लोकः
कुसुमस्तवकस्येव द्वयी	नीति०	२५
कृच्छ्रेणानेध्यमध्ये नियमित—	वैराग्य०	३७
कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं	नीति०	८
कृशः काणः खञ्जः श्रवण—	शृङ्गार०	७८
केयूराणि न भूषयन्ति	नीति०	१५
केशाः संयमिनः श्रुते—	शृङ्गार०	१२
केशानाकुलयन्दशो	शृङ्गार०	१००
कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं	वैराग्य०	९१
क्वचित्पृथ्वीशयः क्वचिदपि	नीति०	७३
क्वचित्सभूभङ्गैः क्वचिदपि	शृङ्गार०	४
क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि	वैराग्य०	५०
क्षान्तं न क्षमया गृहोचित—	वैराग्य०	६
क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं	नीति०	१७
क्षीरेणात्मगतोदकाय	नीति०	६६
क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि	नीति०	२१
खल्वाटो दिवसेश्वरस्य	नीति०	८४
खलालापाः सोढाः कथमपि	वैराग्य०	४
गङ्गातरंगकणशीकर	वैराग्य०	२४
गङ्गातीरे हिमगिरिशिला	वैराग्य०	९८
गजभुजगविहंगम—	नीति०	८५
गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता	वैराग्य०	७३
गुणवदगुणवद्वा कुर्वता	नीति०	९५
गुरुणा स्तनभारेण	शृङ्गार०	१७
चण्डालः किमयं द्विजाति—	वैराग्य०	९६
चुम्बन्तो गण्डभिक्ती—	शृङ्गार०	९९
चूडोत्तंसितचन्द्रचारु	वैराग्य०	१
चेतश्चिन्तय मा रमां सकृदि—	वैराग्य०	६५
छिन्नोऽपि रोहति तरु	नीति०	७९
जयन्ति ते सुकृतिनो	नीति०	२०
जल्पन्ति सार्धमन्येन	शृङ्गार०	५०
जाड्यं ह्रीमति गण्यते	नीति०	४३
जाड्यं धियो हरति	नीति०	१९
जातः कूर्मः स एकः पृथु—	नीति०	६८
जातिर्यातु रसातलं	नीति०	३१

श्लोकारम्भः	शतके	श्लोकः
जाल्यन्धाय च दुर्मुखाय ...	शृङ्गार०	५७
जीर्णा एव मनोरथाश्च हृदये ...	वैराग्य०	८३
तपस्यन्तः सन्तः ...	वैराग्य०	७६
तरुणीवेषोदीपित— ...	शृङ्गार०	९०
तस्मादनन्तमजरं ...	वैराग्य०	६९
तस्याः स्तनौ यदि घनौ ...	शृङ्गार०	१८
तावदेव कृतिनामपि ...	शृङ्गार०	७०
तावदेवामृतमयीं ...	शृङ्गार०	४३
तावन्महत्त्वं पाण्डित्यं ...	शृङ्गार०	७६
तुङ्गं वेदम सुताः सतामभि— ...	वैराग्य०	२०
तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति ...	वैराग्य०	१९
तृष्णां छिन्धि भज क्षमां ...	नीति०	६९
त्वं राजा वयमप्युपासित— ...	वैराग्य०	५१
दाक्षिण्यं स्वजने दया ...	नीति०	१८
दानं भोगो नाशस्तिष्ठो ...	नीति०	३४
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना— ...	नीति०	०
दिश वनहरिणेभ्यो ...	शृङ्गार०	३४
दीना दीनमुखैः सदैव ...	वैराग्य०	२१
दुराराध्याश्वामी तुरग— ...	वैराग्य०	७७
दुर्जनः परिहर्तव्यो ...	नीति०	४२
दैवेन प्रभुणा स्वयं ...	नीति०	९०
दौर्मन्त्र्यावृत्तिर्विनश्यति ...	नीति०	३३
द्रष्टव्येषु किमुत्तमं ...	शृङ्गार०	७
धन्यानां गिरिकन्दरेषु ...	वैराग्य०	१४
धन्यास्त एव धवला— ...	शृङ्गार०	६१
न संसारोत्पन्नं चरित— ...	वैराग्य०	११
न कश्चिच्चण्डकोपाना— ...	नीति०	४६
न गम्यो मन्त्राणां न च ...	शृङ्गार०	५६
न ध्यातं पदमीश्वरस्य ...	वैराग्य०	४५
न नटा न विटा न गायका ...	नीति०	५६
नमस्यामो देवान्न तु ...	नीति०	९१
नम्रत्वेनोन्नमन्तः पर— ...	नीति०	६०
नाभ्यस्ता प्रतिवादिमृन्द— ...	वैराग्य०	४६
नामृतं न विषं किञ्चि— ...	शृङ्गार०	४४

श्लोकारम्भः	शतके	श्लोकः
निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि	नीति०	७४
निवृत्ता भोगेच्छा पुरुष—	वैराग्य०	९
नूनं हि ते कविवरा विपरीत	शृङ्गार०	१०
नूनमाज्ञाकरस्तस्याः	शृङ्गार०	११
नेता यस्य बृहस्पतिः	नीति०	८१
नैवाकृतिः फलति नैव	नीति०	९७
नो सत्येन मृगाङ्क एष	शृङ्गार०	४६
पद्माकरं दिनकरो विकचं	नीति०	६३
परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति	नीति०	३६
परिभ्रमसि किं मुधा कचन	वैराग्य०	६२
परिमलभृतो वाताः शाखा	शृङ्गार०	८१
परिवर्तिनि संसारे मृतः	नीति०	२४
परेषां चेतांसि प्रतिदिवस—	वैराग्य०	६१
पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमण—	वैराग्य०	९९
पाणिं पात्रयतां निसर्ग—	वैराग्य०	९०
पातालमाविशसि यासि	वैराग्य०	७०
पान्थस्त्रीविरहानला—	शृङ्गार०	८४
पापान्निवारयति योजयते	नीति०	६५
पुण्ये ग्रामे वने वा महति	वैराग्य०	२३
पुण्यैर्मूलफलैस्तथा प्रणयिनीं	वैराग्य०	२६
प्रणयमधुराः प्रेमोदाराः	शृङ्गार०	२०
प्रथितः प्रणयवतीनां	शृङ्गार०	८५
प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते	नीति०	५७
प्रसह्य मणिमुद्धरेत्	नीति०	३
प्राञ्जा मेति मनागनागत—	शृङ्गार०	२४
प्राणाघातान्निवृत्तिः पर—	नीति०	५४
प्राप्ताः श्रियः सकलकाम—	वैराग्य०	६७
प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन	नीति०	७२
प्रियसख विपद्दण्डाघात—	नीति०	८८
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिन—	नीति०	५६
प्रोद्यत्प्रौढप्रियङ्गुयुति—	शृङ्गार०	९८
फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवन—	वैराग्य०	२७
फलमलमशनाय स्वादु	वैराग्य०	५४
बाले लीलामुकुलित—	शृङ्गार०	६२

श्लोकारम्भः	शतके	श्लोकः
बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः ...	नीति०	१
ब्रह्मज्ञानविवेकनिर्मलधियः ...	वैराग्य०	१३
ब्रह्माण्डं मण्डलीमात्रं ...	वैराग्य०	९२
ब्रह्मा येन कुलालव- ...	नीति०	९२
ब्रह्मेन्द्रादिमरुद्गणां- ...	वैराग्य०	४०
भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं ...	वैराग्य०	६८
भग्नशय्य करण्डपिण्डित- ...	नीति०	८२
भवन्ति नम्रास्तरवः ...	नीति०	६१
भिक्षाशनं तदपि नीरस- ...	वैराग्य०	१५
भिक्षाशी जनमध्यसङ्गरहितः ...	वैराग्य०	९५
भिक्षाहारमदन्यमप्रति- ...	वैराग्य०	३०
भीमं वनं भवति यस्य ...	नीति०	१००
भोगा न भुक्ता वयमेव ...	वैराग्य०	७
भोगा भङ्गवृत्तयो बहु- ...	वैराग्य०	३९
भोगा मेघवितानमध्य- ...	वैराग्य०	३५
भोगास्तुङ्गतरङ्गभङ्ग ...	वैराग्य०	३४
भोगे रोगभयं कुले ...	वैराग्य०	३१
भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं ...	वैराग्य०	२
भूचातुर्यात्कुञ्चिताक्षाः ...	शृङ्गार०	३
मणिः शानोल्लीढः समर- ...	नीति०	३५
मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं ...	नीति०	९८
मत्तेभकुम्भदलने भुवि ...	शृङ्गार०	७३
मधु तिष्ठति वाचि योषितां ...	शृङ्गार०	६०
मधुरयं मधुरैरपि ...	शृङ्गार०	८२
मनसि वचसि काये पुण्य- ...	नीति०	७०
महाशय्या पृथ्वी विपुल- ...	वैराग्य०	९४
महेश्वरे वा जगता- ...	वैराग्य०	८४
मातर्मेदिनि तात मारुत ...	वैराग्य०	१००
मातर्लक्ष्मि भजस्व कंचि- ...	वैराग्य०	९३
मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य ...	शृङ्गार०	३६
माने म्लायिनि खण्डिते ...	वैराग्य०	७८
मालती क्षिरसि जृम्भणं ...	शृङ्गार०	२३
मुखेन चन्द्रकान्तेन ...	शृङ्गार०	१६
मुग्धे, धानुष्कता केयं ...	शृङ्गार०	१३

श्लोकारम्भः	शतके	श्लोकः
मृगमीनसज्जनानां तृण-	नीति०	५०
मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः	वैराग्य०	५९
मोहं मार्जय तामुपार्जय	वैराग्य०	६४
मौनान्मूकः प्रवचनपटु-	नीति०	४७
यः प्रीणयेत्सुचरितैः	नीति०	५९
यतो मेरुः श्रीमान्निपतति	वैराग्य०	७२
यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे	वैराग्य०	४२
यथा कन्दुकपातेनोत्पतत्यार्यः	नीति०	८३
यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः	नीति०	२९
यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं	नीति०	७
यदासीदज्ञानं स्मरतिमिर-	शृङ्गार०	६९
यदा योगाभ्यासव्यसन-	शृङ्गार०	६८
यदेतत्पूर्णेन्दुद्युतिहर-	शृङ्गार०	४८
यदेतत्स्वच्छन्दं	वैराग्य०	८२
यद्वात्रा निजभालपट्ट-	नीति०	४०
यस्यास्ति वित्तं स नरः	नीति०	३२
यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं	वैराग्य०	७५
या साधूंश्च खलान्करोति	नीति०	९३
ये वर्तन्ते धनपतिपुरः	वैराग्य०	२८
ये संतोषनिरन्तरप्रमुदिता-	वैराग्य०	२९
रत्नैर्महाब्धेस्तुतुर्धुर्न	नीति०	७१
रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये	वैराग्य०	८०
रम्याश्चन्द्रमरीचयस्तृणवती	वैराग्य०	७९
रागस्यागारमेकं नरक-	शृङ्गार०	२९
राजस्तृष्णाम्बुराशेर्न हि	शृङ्गार०	२८
राजन्दुधुक्षसि यदि क्षिति-	नीति०	३७
रात्रिः सैव पुनः स एव	वैराग्य०	४४
लभेत सिकतासु तैल-	नीति०	४
लाङ्गूलचालनमधश्चरणाव-	नीति०	२३
लीलावतीनां सहजा	शृङ्गार०	४७
लोभश्चेदगुणेन किं	नीति०	४४
वक्रं चन्द्रविकासि पङ्कज	शृङ्गार०	५
वचसि भवति सङ्गत्याग-	शृङ्गार०	७१
वने रणे शत्रुजलाग्नि-	नीति०	९९

श्लोकारम्भः	शतके	श्लोकः
वयं येभ्यो जाताश्चिर—	वैराग्य०	४८
वयमिह परितुष्टा वल्कलै—	वैराग्य०	५३
वरं शृङ्गोत्सङ्गाद्गुरु	नीति०	७७
वरं प्राणोच्छेदः समद—	नीति०	२८
वर्णं सितं झटिति	वैराग्य०	७४
वलीभिर्मुखमाक्रान्तं	वैराग्य०	८
वहति भुवनश्रेणिं शेषः	नीति०	२७
वह्निस्तस्य जलायते	नीति०	७८
वाञ्छा सज्जनसंगतौ	नीति०	५१
वितीर्णे सर्वस्वे तरुण—	वैराग्य०	८६
विद्या नाधिगता कलत्र	वैराग्य०	४७
विद्या नाम नरस्य रूप—	नीति०	१६
विपदि धैर्यमथाभ्युदये	नीति०	५२
विपुलहृदयैरीशैरेतज्जग—	वैराग्य०	५७
वियदुपचितमेघं भूमयः	शृङ्गार०	९१
विरमत बुधा योषित्सङ्गा—	शृङ्गार०	६७
विरम विरमायासाद—	नीति०	८९
विरहेऽपि संगमः खलु	शृङ्गार०	६५
विश्रम्य विश्रम्य वन—	शृङ्गार०	२१
विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो	शृङ्गार०	८०
विस्तारितं मकरकेतन—	शृङ्गार०	५२
वेश्यासौ मदनज्वाला	शृङ्गार०	५८
व्याघ्रीव तिष्ठति जरा	वैराग्य०	३८
व्यादीर्घेण चलेन	शृङ्गार०	५४
व्यालं बालमृणाल—	नीति०	५
शक्यो वारयितुं जलेन	नीति०	१०
शंभुस्वयंभुहरयो	शृङ्गार०	१
शशी दिवसधूसरो	नीति०	४५
शास्त्रज्ञोऽपि प्रगुणित—	शृङ्गार०	७७
शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः	नीति०	११
शिरः शार्वं स्वर्गात्पशु—	नीति०	९
शुभ्रं सद्यः सविभ्रमा युवतयः	नीति०	९४
शृङ्गारद्वमनीरदे	शृङ्गार०	३०
श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन	नीति०	६२

श्लोकारम्भः	शतके	श्लोकः
संसार तव पर्यन्त—	शृङ्गार०	३३
संसारेऽस्मिन्नसारे	शृङ्गार०	३१
संसारे स्वप्नसारे परिणति—	शृङ्गार०	३७
स जातः कोऽप्यासीन्मदन	वैराग्य०	६०
सति प्रदीपे सत्यमौ	शृङ्गार०	१४
सस्यं जना वच्मि	शृङ्गार०	४०
सत्यानृता च परुषा प्रिय	नीति०	३८
संतप्तायसि संस्थितस्य	नीति०	५८
सन्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृ—	नीति०	२६
सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति	शृङ्गार०	७४
स परप्रतारकोऽसौ निन्दति	शृङ्गार०	७२
संपत्सु महतां चित्तं	नीति०	५५
सहकारकुसुमसर—	शृङ्गार०	८६
सा रम्या नगरी महान्स	वैराग्य०	४१
सिंहः शिशुरपि निपतति	नीति०	३०
सिद्धाध्यासितकन्दरे	शृङ्गार०	३२
सुधाशुभ्रं धाम स्फुरद्—	शृङ्गार०	८९
सृजति तावदशेष—	नीति०	८६
स्तनौ मांसग्रन्थी कनक—	वैराग्य०	१६
स्त्रीमुद्रां कुसुमायुधस्य	शृङ्गार०	७९
स्थाल्यां वैदूर्यमग्न्यां पचति	नीति०	९६
स्नात्वा गाङ्गैः पयोभिः	वैराग्य०	८८
स्फुरत्स्फारज्योत्स्ना धवलिततले	वैराग्य०	८५
स्मितं किञ्चिन्मुग्धं सरल—	शृङ्गार०	६
स्मितेन भावेन च लज्जया	शृङ्गार०	२
स्मृता भवति तापाय	शृङ्गार०	४२
सजो हृद्यामोदा व्यजन—	शृङ्गार०	८८
स्वल्पस्त्रायुवसावसेकमलिनं	नीति०	२२
स्वायत्तमेकान्तहितं	नीति०	६
हर्तुर्याति न गोचरं किमपि	नीति०	१२
हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं	वैराग्य०	९७
हेमन्ते दधिदुग्धसर्पि—	शृङ्गार०	९७

